रीतिकालीन काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव

(केवल शृंगारिक सन्दर्भ में)

(पूना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डॉ० दयानन्द शर्मा 'मधुर'
एम० ए० पी-एच० डी०
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
न्यू आर्ट्स, कॉमर्स एण्ड साइन्स कॉलेज
अहमदनगर (महाराष्ट्र)

साहित्य संस्थान
१०८/१५४ गाँधीनगर, कानपुर-२०८०१२

RITIKALEEN KAVYA PAR SANSKRIT KAVYA KA PRABHAVA

Dr Dayananda Sharma

पुस्तक

रीतिकालीन काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव

लेखक

डॉ० दयानन्द शर्मा

प्रकाशक

साहित्य संस्थान, गांधीनगर, कानपुर-१२

मुद्रक

आराधना प्रेस ब्रह्मनगर, कानपुर-१२

प्रकाशन काल

जनवरी, १९७६

प्रातस्मरणीय पूजनीय पितामह
स्व० पंडित श्री भगवानदास जी
शर्मा 'शुक्ल' जी की पुण्यस्मृति
को सादर समर्पित ।

लेखक का संक्षिप्त-परिचय

जन्म—१५ अक्टूबर १९४३ ई०

जन्म स्थान-ग्राम-मोत्रामेडा, डा० ऊँचागाँव, जि०-बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश)

शिक्षण-आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९६५ ई० में एम० ए० (हिन्दी) एवं पूना विश्वविद्यालय से सन १९७२ ई० में पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

रुचि—साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन, शोध निबन्ध तथा कविता-लेखन।

व्यवसाय-१० वर्ष से हिन्दी-प्रोफेसर तथा सम्प्रति आप न्यू आर्ट्स, कॉमर्स, साइन्स कालेज अहमदनगर (महाराष्ट्र) के अन्तर्गत हिन्दी विभागाध्यक्ष पद पर आसीन हैं।

विशेष-आप हिन्दी के एक उत्कृष्ट प्रतिभाशाली कवि हैं। विद्यार्थी-जीवन में अनेक बार कालेज में आयोजित कविता-प्रतियोगिताओं में प्रथम एवं द्वितीय पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। आपकी रचनाएँ अनेक हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और अब शीघ्र ही दो कविता संग्रह प्रकाशित होंगे।

परिचय कर्ता

प्रोफेसर विट्ठलराव काळे

एम० ए० (मराठी तथा हिन्दी

प्रोफेसर, न्यू आर्ट्स, कॉमर्स, साइन्स कालेज

अहमदनगर (महाराष्ट्र)

प्रास्ताविक

हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्मूल्याकन की आवश्यकता पिछले कुछ वर्षो से अनुभव हो रही है। उस दिशा में कुछ प्रयत्न हुए है और हो भी रहे है। इस आवश्यकता के प्रमुखत. दो कारण दिये जाते हैं। एक तो यह कि अनुसंधान में इतनी विपुल सामग्री प्रकाश मे आ रही है, जो अभी तक अज्ञात एवं अल्पज्ञात ही थी। इस नयी सामग्री के आलोक मे तटस्थ भाव से इतिहास लेखन आवश्यक है। दूसरा कारण है दृष्टि-भेद। आधुनिक युग मे बदलते हुए वैचारिक दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्मूल्याकन का प्रश्न उपस्थित किया जाता है।

वस्तुतः हिन्दी साहित्य के इतिहास के अलग-अलग खण्डो पर सूक्ष्म एवम् गहन चिंतन कर स्वतत्र इतिहास ग्रथ लिखने की आवश्यकता है। प्रायः यह देखा गया है कि ऐसे बृहदकाय स्वतत्र खण्डो के इतिहास के अनेक लेखक होते हैं जिसके कारण एक ही ग्रन्थ मे पुनराख्यान, दृष्टिभेद एव कही-कही विसगति भी देखी जाती है। कम से कम सम्बन्धित खण्ड का लेखक एक ही हो तो सम्यक दृष्टि के अभाव को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार के ग्रंथो मे सम्बन्वित विषय की अद्यावधि उपलब्ध सामग्री का समावेश अपेक्षित है। इसी प्रकार उसका विवेचन अत्यन्त अनाग्राही भूमिका से होना आवश्यक है। यदि ऐसा हो तो हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनेक उपेक्षित स्थलों के प्रति न्याय होगा और पूर्वदूषित दृष्टिकोण अथवा अपनी विशिष्ट मान्यताओं के निकष पर किया गया मूल्याकन भी संतुलन ग्रहण करेगा।

यह अध्ययन करते समय युगीन परिवेश, प्रभावग्रहण, मौलिकता, जीवन-मूल्य आदि का सम्यक् रूप मे गहन एवं सतुलित विवेचन आवश्यक है। किसी युग के समग्र साहित्य की तुलना पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती साहित्य से करना यहाँ तक ठीक है कि दोनो में साम्य, वैषम्य तथा उसके कारणों की मीमासा की जाय। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि मे किसी को किसी से श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ ठहराना सापेक्षभाव ही कहा

जा सकेगा। प्रत्येक युग की अपनी विशिष्टता, आवश्यकता, एव सीमा होती है। परिणाम स्वरूप साहित्य मे भी उसका प्रतिबिम्बन स्वाभाविक है। किसी भी युगके साहित्य का मूल्याकन वतमान विचारो एव सिद्धान्तो के आधार पर करना असगत ही नहीं अपितु पूर्णत अन्यायमूलक होगा।

रीतिकालीन हिन्दी साहित्य के विषय म भी यही हुआ है। भक्तिकाल की पृष्ठ-भूमि म रीतिकालीन साहित्य का मूल्याकन किया गया है। आध्यात्मिक एव अलौकिक भावभूमि पर चित्रित शृगार की तुलना म भौतिक एव लौकिक शृगार को सम्मान के योग्य न माना गया। उसके प्रति तटस्थ भाव न रहने के परिणाम स्वरूप उसको हीनता अथवा उपेक्षा का पात्र बनाया गया। उसकी मासल शृगारिकता एव अश्लीलता के पक्ष के उद्घाटन पर ही अधिक बल दिया जाने लगा। परिणामस्वरूप रीतिकालीन साहित्य के अध्येताओ का दृष्टिकोण भी एकागी बना तो जन सामान्य के विषय म कहना ही क्या ? आचाय केशव जसे व्यक्ति को बिना समझे ही लोगों ने उसे 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा। दो-एक उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर ही चिन्ता मणि जैसे प्रमुख आचाय-कवियो का मूल्याकन किया गया है। इसस स्पष्ट होता है कि रीतिकालीन साहित्य के विवेचन म स्वस्थ एव निष्पक्ष दृष्टि का अभाव ही पाया गया है।

शास्त्रीय सिद्धान्तो की ओट मे काव्य-सृजन की पद्धति रीतिकाल की अपनी देन है। क्योकि इसके पूव एक ही व्यक्ति द्वारा ग्रन्थ मे सिद्धान्त प्रतिपादन एव उदाहरण देन की पद्धति नही दिखायी देती। सभवत. इस प्रकार की विशिष्ट पद्धति अन्य भारतीय भाषाओ मे शायद ही रही है। अपनी रचनाओ को शास्त्रानुमोदित करने का यह प्रयास रचनाकार के आचार्यत्व एव कवित्व के मिश्रित व्यक्तित्व का सहज परिचय करा देता है। इन रीतिकालीन आचाय-कवियो के सम्मुख काव्यशास्त्र तथा छदशास्त्र की समृद्ध सस्कृत परम्परा थी। उन्होंने सस्कृत के मानक ग्रथो का अध्ययन मनन कर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य-सिद्धान्तो का ग्रहण किया और उन्हें मूल अथवा सस्कारित रूप मे काव्य-छन्दो म पिरो कर उसके अनुकूल अपने उदाहरण छद भी प्रस्तुत किये। उन्होंने अपने काव्य ग्रन्थो मे सम्बन्धित सस्कृत आचार्यों के ऋण को स्पष्टत नाम निर्देश सहित स्वीकार भी किया है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन हिन्दी आचार्यों ने पूर्ववर्ती सस्कृत आचार्यों के लिए सपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत नहीं किया है अपितु अपनी मान्यताओ के अनुकूल अश ग्रहण किए हैं।

अत यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन आचार्यो के काव्यशास्त्रीय तथा छद-शास्त्रीय सिद्धान्तो के विवेचन का आधार सस्कृत के प्रमाण ग्रथ ही थे। प्रभाव

ग्रहण की दृष्टि से रीतिकालीन साहित्य के सैद्धान्तिक पक्षों के अध्ययन का कुछ प्रयास किया गया है परन्तु उसे पर्याप्त नही कहा जा सकता। अब भी सैद्धान्तिक पक्षों के कई अंगो का अध्ययन शेष है। उन सब का समग्र एवं सम्यक अध्ययन कर उनके प्रथम एव मौलिकता के विषय मे नि:सदिग्ध रूप मे विवेचन अपेक्षित है।

शास्त्रीय पक्षो की भाँति रीतिकालीन काव्य पक्षो का भी प्रभावपरक अध्ययन आवश्यक है। इस अध्ययन से रीतिकालीन साहित्य पर समग्र रूप में तटस्थ भाव से मूल्याकन करना संभव होगा। प्रत्येक युग के साहित्य का पूर्ववर्ती साहित्य-परम्पराओं से प्रभावित रहना एक सहज एव स्वाभाविक बात है। यह सर्वविदित है कि भक्तिकालीन साहित्य पर सस्कृत के आध्यात्म-रामायण, वाल्मीकि-रामायण, श्रीमद्भागवत्, भगवद् गीता, गीत-गोविंद, भक्तिरसामृतसिन्धु भक्तिरसायन, गर्ग-संहिता, तथा पुराण ग्रथों आदि का प्रभाव विविध रूपों मे हुआ है। उसी प्रकार रीतिकालीन काव्य पर पूर्ववर्ती सस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश के ख्यातनाम ग्रन्थो का प्रभाव परिलक्षित होता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह प्रभाव साहित्य सृजन के समय किस दिशा मे अथवा किस अनुपात मे ग्रहण किया गया है, इसका निर्णय तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त ही संभव हो सकता है।

इस प्रकार का कार्य उसी व्यक्ति के द्वारा सभव है कि जो तुलनात्मक ग्रथों की दोनों भाषाओं का ज्ञान रखता हो। इसके अतिरिक्त विषयो की विविधता एवं व्यापकता को दृष्टि मे रखते हुए अपने कार्य को किसी निश्चित सीमा मे बाँधना आवश्यक है, जिससे अध्ययन मे गहराई आ सके। रीतिकालीन काव्य मे शृंगार के अतिरिक्त भक्ति, नीति तथा वीर काव्य विपुलता से लिखा गया है। इसलिए उन सबका पृथक्-पृथक् अध्ययन करना अधिक व्यावहारिक एव तर्कसगत है।

डॉ० दयानन्द शर्मा का यह शोध-प्रबध इसी दिशा में किया गया प्रयास है। वे हिन्दी तथा सस्कृत दोनो भाषाओं का आधिकारिक ज्ञान रखते है, इसलिए यह अध्ययन उनके लिए सरल नहीं अपितु अनुकूल अवश्य रहा है। व्यापकता को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने अध्ययन को रीतिकाल के शृंगार काव्य तक ही सीमित रखा है, जो उचित ही है। सस्कृत तथा रीतिकालीन हिन्दी के प्रातिनिधिक काव्य-ग्रंथो को पढ़कर काल क्रम के विचार से प्रभाव-साम्य के स्थलो एव प्रसगो का चयन उन्होंने अत्यन्त परिश्रम एव बुद्धिमानी से किया है।

इस शोधप्रबध में डॉ० दयानन्द शर्मा ने सस्कृत तथा रीतिकालीन हिन्दी काव्य की शृंगार-परम्परा को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए संयोग

तथा वियोग शृंगार के विभिन्न अंगोपांगों तथा प्रसंगों के आधार पर सोदाहरण तुलना प्रस्तुत की है। अपने विवेचन में जहाँ एक ओर उन्होंने संस्कृत के प्रभाव का विवेचन किया है वहाँ दूसरी ओर हिन्दी काव्य की मौलिकता के रूप को भी तटस्थ भाव से स्पष्ट किया है। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकालीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में इस शोध ग्रंथ से निश्चय ही एक दिशा प्राप्त होगी।

डॉ० दयानन्द शर्मा के शोध-ग्रंथ को प्रकाशित होते देखकर मुझे विशेष प्रसन्नता होती है। यह कार्य मेरे निर्देशन में पूरा हुआ है, अतः उसके संबंध में अधिक कहना समीचीन नहीं होगा। फिर भी यह शोधकार्य करते समय डा० शर्मा ने जिस संयमशीलता, अध्ययन क्षमता, तटस्थता एवम् परिश्रमशीलता का परिचय दिया है उससे मुझे विश्वास है कि वे इस प्रकार के शोध कार्य में सदैव रत रहेंगे।

समस्त शुभकामनाओं सहित,

डॉ० कृष्ण दिवाकर
प्राध्यापक तथा शोधनिर्देशक

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
पूना विश्वविद्यालय, पूना ४११००७
मकरसंक्रमण, १९७६

सम्मतियाँ

हिन्दी का रीतिकाव्य अपने साहित्य विषयक मन्तव्यों में संस्कृत के रिक्थ का ऋणी है, रीतिकालीन आचार्य कवियों की शास्त्रीय मान्यताएँ उन उपजीव्य ग्रंथो पर आधृत हैं जो संस्कृत में बहुचर्चित रहे हैं। वास्तव में रीतिकालीन कवियों की प्रतिभा जितनी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने मे लक्षित होती है उतनी लक्षण निर्माण करने में नही है। इसीलिए कुछ समीक्षकों ने रीति कवियो को आचार्यत्व का श्रेय नही दिया है। शृंगार परम्परा में इन कवियों ने संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा को जिस रूप में आत्मसात् किया है वह इनके काव्य संस्कार का सुन्दर निदर्शन ही है।

डा० दयानन्द शर्मा ने अपने शोध-प्रवन्ध में रीतिकालीन शृंगारिक काव्य पर संस्कृत काव्य के प्रभाव का संधान किया है। डा० शर्मा ने संस्कृत के उन सभी ग्रंथों का अनुशीलन किया है जिनसे रीति कवि किसी न किसी रूप में प्रभावित रहे हैं। नायिका भेद, षड्ऋतु वर्णन, वारहमासा आदि के अतिरिक्त प्रेम के विविध रूप और काव्य प्रणय की विभिन्न अवस्थाओं के निरूपण में रीति कवियों की दृष्टि किस प्रकार संस्कृत ग्रंथों पर रही है, यह डा० शर्मा ने वड़े परिश्रम के साथ खोज निकाला है।

संस्कृत के कवियों की दृष्टि प्रेम और शृंगार के प्रसग मे उन सभी स्थितियों और दशाओं पर केन्द्रित रही है जो मनुष्य को आन्दोलित और उद्वेलित करती हैं। रीति कवियों ने उन सभी दशाओ के चित्रण में संस्कृत कवियों का अनुकरण किया है और केवल प्रभाव-साम्य ही नहीं, कही-कहीं तो अनुवाद का कार्य भी अपनाया है। प्रेम की सभी स्थितियों के चित्रण में देव, मतिराम, बिहारी, पद्माकर घनानन्द आदि संस्कृत कवियों के ऋणी हैं। इस शोध-प्रवन्ध मे डा० शर्मा ने इस तथ्य को सप्रमाण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के गम्भीर अध्ययन से दोनो भाषाओं के साहित्य में साम्य का जो चित्र उभरता है वह परम्परा का समर्थक है और संस्कृत साहित्य की महत्ता को भी उजागर करता है।

२६–१–७६ ई०

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
एम० ए० पीएच० डी०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली–७

स्नातक–सदन
ए ५/३ राणाप्रताप वाग
दिल्ली–७

(२)

संस्कृत में वाङ्मय का मथन करके इतना नवनीत निकाला गया है कि वह शीघ्र समाप्त होने वाला नहीं है चाहे उसका भोग नित्य ही सबके सब ममारी जन क्यों न लगाते रहें। इसी संस्कृत के अनन्तर प्राकृत अपभ्रंश में ही नहीं, देशी भाषाओं में भी उस शास्त्र नवनीत का उपयोग उपभोग होता रहा। शास्त्र ही नहीं काव्य भी इतना लिखा गया कि विभिन्न प्रकार की रमणीय उक्तियों का पहाड़ ही खड़ा हो गया। प्राय जीवन के सभी क्षेत्रों और मानस की सभी वृत्तियों को वहाँ देखा और दिखाया गया। इसलिए नवीन उद्भावना के लिए अवसर कम ही रह गया है। हिन्दी के मध्यकालिक शृंगारी रीतिकाव्य के नायक नायिका-भेद के प्रारम्भ में कुछ उक्तियाँ तो संस्कृत की पूर्ववर्ती उक्तियों की अनुगामिनी हैं, कुछ प्रेरणा लेकर स्फूत हुई हैं और कुछ नवीन परिवर्तन द्वारा सुसंस्कृत रूप में आई हैं। किन्तु रीतिकाव्य में मौलिक या स्वतन्त्र चिन्तन के फलस्वरूप इतनी अधिक और रमणीय उक्तियाँ कही गई हैं कि वैसी और उतनी संस्कृत साहित्य में भी नहीं हैं तो फिर अन्यत्र कहाँ होंगी। 'रीतिकाव्य की मौलिक देन' पर कार्य हो चुका है। किन्तु संस्कृत काव्य का प्रभाव कैसा क्या है, इसका शोध करना अपेक्षित था। डा० दयानन्द शर्मा ने यही कार्य अपने शोध प्रबन्ध 'रीतिकालीन शृंगारिक काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव' में किया है। रीतिकाव्य या शृंगार काव्य में जो स्पष्ट तीन धाराएँ दिखाई देती हैं—रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीति मुक्त—उनमें से दो पहली तो उससे विशेष प्रभावित हैं, किन्तु रीति मुक्तधारा भी संस्कृत काव्य के प्रभाव से सर्वथा उन्मुक्त नहीं है। इसमें संयोग, वियोग, नायक-नायिका भेद और नखशिख—इन चार को दृष्टिपथ में रखकर प्रभाव को देखने का श्रमसाध्य एवं विमर्शमूलक शोध किया गया है। शोध कर्त्ता का निष्कर्ष यह है कि संस्कृत से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी रीतिकाव्य के प्रणेताओं ने अपनी मौलिकता, ग्रथन कौशल के कारण सुरक्षित रखी है। कहा ही गया है—

तएव पद विन्यास ता एव अर्थ विभूतय ।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथन कौशलात ॥

डा० शर्मा का श्रम श्लाघ्य है, चिंतन मनन गम्भीर है और भाषा उच्च-स्तरीय साहित्य समीक्षा से सम्पृक्त है। वे इस शोध के लिए साधुवाद के आस्पद हैं। मेरा विश्वास है कि इस अनुसंधान का अच्छा अभिनन्दन होगा।

—आचार्य

१०-१-१९७६ ई०
वाणी-वितान भवन
ब्रह्मनाल, वाराणसी-१

डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
भूतपूर्व आचार्य तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

(३)

हिन्दी को संस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र से जो विपुल दाय प्राप्त हुआ है उसका पूरा आकलन अभी तक नहीं किया जा सका, यहाँ तक कि प्रायः यह बात भी भुला दी जाती रही है कि हिन्दी तथा संस्कृत बहुत काल तक समानान्तर रहकर एक साथ चलती रही हैं और स्वाभाविक है कि उस काल की उन रचनाओं में समान प्रवृत्तियों को लक्षित किया जा सकता है। इस दिशा में जो कुछ थोड़ा बहुत अध्ययन हुआ भी तो वह कथा-ग्रहण या प्रवृत्ति-निर्देश तक सीमित रहा या फिर काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में प्रभाव-सूत्रों की छानबीन होती रही। भाव के स्तर पर उन उक्तियों का अध्ययन बहुत नहीं हुआ जिनसे काव्य की अन्तरात्मा का उद्घाटन होता और समानता और मौलिकता के अध्ययन के लिए मार्ग प्रशस्त होता। इस प्रकार के अध्ययन के प्रसंग देव और बिहारी के सन्दर्भ मे अवश्य उपस्थित हुए किन्तु धीरे-धीरे इधर किये अध्ययनो में यह बात सर्वथा भुला दी गई। हो सकता है कि इसके लिए जिस संस्कृत-भाषा-ज्ञान की अपेक्षा थी, वह नये अध्येताओ में न रहा हो।

मुझे प्रसन्नता है कि मेरे मन मे पलते इस भाव को प्रा० दयानन्द शर्मा ने एक शोधार्थी के रूप में अपने अध्ययन के लिए ग्राह्य समझा और उनका संस्कृत-ज्ञान इस विषय में लाभकारी सिद्ध हुआ। केवल परिगणन-शैली वाले उक्त शोध प्रबन्धो को देखते हुए उनके मन में आरम्भ में पर्याप्त छटपटाहट अवश्य रही कि उस मार्ग की ऋजुता से नाता तोड़कर वे इस नये मार्ग में कैसे आगे बढ़े, किन्तु उनके धैर्य, अध्यवसाय और उनकी लगन से अन्ततोगत्वा उनका यह कार्य सरल ही नहीं बनता गया, सम्पन्न भी हो गया।

डॉ० शर्मा ने रीतिकालीन शृंगारिक काव्य पर संस्कृत काव्य की उक्तियों के प्रभाव का अध्ययन करते हुए शब्द ग्रहण से लेकर उक्ति ग्रहण तक की अनेक स्थितियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार हिन्दी की शृंगारिक उक्तियों के मूल स्रोतों की ओर इंगित किया है, किन्तु उनके इस अध्ययन की समाप्ति यही नहीं होती, इससे भी आगे वे एक सच्चे आलोचक की भूमिका में उतर कर हिन्दी की अपनी उक्ति मौलिकता को भी उभार कर सामने ले आते हैं। इस प्रकार उनका यह शोध प्रबन्ध दो भाषाओ के बीच परम्परा की खोज करते हुए उनकी कड़ियाँ जोड़ने का काम भी करता है और हिन्दी के अपनेपन का सही निर्देश भी करता है। मैं समझता हूँ कि शृंगारेतर काव्य की उक्तियों मे भी अभी बहुत कुछ ऐसा है जिसका इस दिशा मे अध्ययन होना चाहिए। डॉ० शर्मा के प्रबन्ध की उपयोगिता को देखते हुए मुझे इसमें सन्देह नही कि उनके इस काव्य का उचित समादर होगा।

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
पूना-विश्वविद्यालय
पूना—४११००७

दिनांक ११-१-७६ ई०

४

डा० दयानन्द शर्मा द्वारा लिखित 'रीतिकालीन शृंगारिक काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव' शीर्षक शोध प्रबन्ध को प्रकाशित होते देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। इस शोध प्रबन्ध के द्वारा रीतिकालीन शृंगारिक काव्य की मौलिकता साथ ही-साथ संस्कृत काव्य से ग्रहण करने की प्रवृत्ति—दोनों पर प्रकाश पड़ता है। मुझे विश्वास है कि आगे के शोध-कर्ताओं के लिए यह ग्रन्थ प्रेरणादायक होगा।

डा० भगीरथ मिश्र
आचार्य एवं अध्यक्ष

हिन्दी विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)
मकरसंक्रान्ति १९७६ ई०

५

संस्कृत-भाषा आधुनिक भारतीय भाषाओं की मातामही के रूप में स्वीकृत है। पौत्रों में स्वाभाविक रूप से कुछ विशिष्ट गुण ही मातामही के आ पाते हैं, सम्पूर्ण नहीं। अतएव रीतिकालीन कवियों का शृंगार-वर्णन संस्कृत काव्य से प्रभावित होते हुए भी स्वयं की विशेषता रखता है। विद्वान लेखक डा० दयानन्द शर्मा ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से 'रीतिकालीन शृंगारिक काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव' स्पष्ट किया है।

डा० शर्मा लगभग तीन वर्षों से मेरे सहकारी प्राध्यापक-मित्र हैं। वे विद्वान होने के साथ ही उच्च कोटि के प्रतिभाशाली कवि हैं। मैं उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के प्रति शुभकामना करता हुआ, शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन-उपलक्ष्य में उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

डा० हरिभाऊ तोडमल

एम० ए० पीएच० डी०
डीन, फैकल्टी ऑफ आर्ट्स
पूना विश्वविद्यालय, पूना-७
एवम्
प्रिंसिपल, न्यू आर्ट्स, कॉमर्स, सायंस कॉलेज अहमदनगर

कृतज्ञता-ज्ञापन

'रीतिकालीन काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव' नामक इस ग्रन्थ के मुद्रण-पूर्व, डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० हरि-भाऊ तोडमल, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने अपना अभिमत प्रदान कर मुझे अत्यन्त उपकृत किया है। इन विद्वानों के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रस्तुत करता हूँ।

गुरुवर्य डॉ० कृष्ण दिवाकर जी इस अध्ययन के मेरे शोध-निर्देशक तो हैं ही, साथ ही उन्होंने इस ग्रन्थ की अति शीघ्र प्रस्तावना लिखकर मेरे ऊपर जो कृपा की, उसके लिए मैं उनका चिर ऋणी हूँ।

मकर–संक्रान्ति — दयानन्द शर्मा 'मधुर
दिनाङ्क १४–१–७६ ई०

प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे कई कारणो से रीतिकालीन साहित्य विद्वानो द्वारा उपेक्षित ही रहा है। रीतिकालीन साहित्य के प्रति अनुदार दृष्टि के प्रमुखत दो कारण बताये जाते हैं—प्रथम तो उसके ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि रीतिकाल मे पाई जाने वाली रचनाएँ घोर शृंगारिक होने के कारण कोरी कामुकता का प्रदर्शन मात्र हैं। द्वितीय कारण रीतिकालीन साहित्य की मौलिकता के विषय में कहा जाता है। विद्वानो की धारणा है कि रीतिकालीन काव्य मे मौलिकता नहीं है, अपितु वह केवल सस्कृत-काव्यों का अनुवाद मात्र ही है। किन्तु अनुसन्धान मे उपलब्ध साधन-सामग्री तथा तथ्यो के कारण प्राय इस धारणा मे अन्तर होने लगा है। परिणामस्वरूप विद्वानो ने रीतिकाल के पुनर्मूल्याकन की आवश्यकता प्रतिपादित की। अत रीतिकाल के प्रति विद्वानो मे एक निष्पक्ष एव तटस्थ दृष्टिकोण पैदा होने लगा है। रीतिकालीन साहित्य का वास्तविक मूल्याकन यह तटस्थ दृष्टि ही कर सकती है।

रीतिकालीन काव्य की अश्लीलता सम्बन्धी आक्षेप के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियो ने कम से कम शृगार का वर्णन खुले रूप मे घोषित किया, भले ही उसके विभाव रूप में राधा और कृष्ण का आगमन हुआ, किन्तु सूर जैसे भक्ति के रस मे निरन्तर गोता लगाने वाले कवियो ने भक्ति की आड लेकर भगवान कुसुमायुध द्वारा टकारी गयी धनुष की टकार को उच्च से उच्च घोष प्रदान किया, लेकिन भक्त कवियो के शृगार को कभी वासनात्मक सज्ञा प्राप्त नहीं हुई, तब रीतिकालीन काव्य को अश्लील या अन्य कुछ कहकर बदनाम करना उचित नही।

जहाँ तक रीतिकाल की मौलिकता का प्रश्न है, वहाँ कई दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। यह मौलिकता सिद्धान्तो के विवेचन मे न देखते हुए उसके लिए प्रस्तुत उदाहरणो एव स्वतन्त्र काव्यो मे देखी जा सकती है। अत इस प्रबन्ध मे रीतिकाल के अत्यन्त लोकप्रिय कवि बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर के काव्यो की तुलना सस्कृत-काव्यो से कर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इन रीतिकालीन कवियो पर सस्कृत काव्य का प्रभाव किस रूप मे और कितनी मात्रा मे है, यद्यपि

विवेचन के प्रसंग में कतिपय स्थानों पर रीतिकाल के अन्य कवियों के उदाहरण भी सहज रूप में अवतरित हुए हैं। विषय के स्वरूप की व्यापकता तथा विस्तार भय के कारण इस प्रवन्ध मे विषय को शृंगार तक ही सीमित रखा गया है तथा विहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, इन चार कवियों के काव्य को तुलना का प्रमुख आधार वनाया गया है। इससे मौलिकता की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों के काव्य का एक पक्ष स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत प्रवन्ध कुल मिलाकर पाँच अध्यायो मे विभाजित किया गया है। पहले अध्याय के अन्तर्गत शृगार की परिभाषा, उसके स्वरूप, भेद एवं विभिन्न अवयवों पर विचार किया गया है। उसके पश्चात् पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य की शृगार परम्परा को प्रस्तुत किया गया है। सस्कृत के वैदिक-साहित्य से लेकर रामायण, महाभारत, पुराण, कालिदास साहित्य, अश्वघोष-साहित्य, अलंकारिक संस्कृत साहित्य, मुक्तक-साहित्य में शृंगार-परम्परा की चर्चा की गई है। उसी प्रकार हिन्दी काव्यों की शृगारिक परम्परा का दिग्दर्शन किया गया है, जिसमें आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकालीन काव्य मे वर्णित शृगार–परम्परा की चर्चा समाविष्ट है।

दूसरे अध्याय में सयोग-शृंगार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रीतिकालीन हिन्दी तथा सस्कृत काव्य मे उपलब्ध समान प्रसंगो की तुलना की गई है। इसके अन्तर्गत परस्पर-दर्शन, स्पर्शालिगन, संकेत, होली, जलक्रीड़ा, निषेधात्मक स्वीकृति, सुरति-केलि, सुरतान्त आदि प्रसंगो का समावेश किया गया है।

तीसरे अध्याय मे विप्रलम्भ-शृगार का विवेचन किया गया है। यह अध्याय कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। रीतिकालीन आलोच्य कवियो ने पूर्वराग, मान और प्रवास–इन तीन भेदों को ही मुख्यतया ग्रहण किया है। अतः इस अध्याय के अन्तर्गत इन तीनों भेदोपभेदों के अतिरिक्त अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग आदि वियोग की दस दशाओं का भी समावेश किया गया है। संस्कृत तथा आलोच्य रीतिकालीन हिन्दी काव्य के विप्रलम्भ-शृगार उदाहरणों की तुलना प्रस्तुत कर दोनो की समान तथा विषम भूमियों की ओर सकेत किया गया है।

चौथे अध्याय में शृंगार के एक महत्त्वपूर्ण अंग नायक-नायिका भेद का विवेचन किया गया है। संस्कृत तथा रीतिकालीन हिन्दी काव्य में नायक-नायिका भेद विषयक प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नायिकाओं के अन्तर्गत स्वकीया, परकीया तथा सामान्या के मुख्य भेदोपभेदों एवं नायकों के अन्तर्गत पति, उपपति तथा वैशिक–इन तीन भेदोपभेदों पर आधारित प्रसगों का विवरण है।

पाँचवें अध्याय में शृगार के उद्दीपन-पक्ष 'नखशिख' का विवेचन किया गया है। इसमे सर्वप्रथम नेत्रों को मुख्य रूप में ग्रहण किया गया है, क्योंकि रीतिकालीन

काव्य मे नयनो द्वारा कटाक्ष-निपात जन्य प्रणय के उद्रेक को कुछ अधिक विस्तार-पूर्वक लिया गया है। इसलिए नखशिख वर्णन मे नेत्रो का सर्वप्रथम लेना ही समीचीन समझा गया। तत्पश्चात् भौंहो से लेकर चरणो तक वर्णन प्रस्तुत कर अन्त मे यौवन एव तज्जन्य कान्ति को वर्णन के लिये लिया गया है। इन सभी अगो का सस्कृत काव्यो मे प्रयुक्त उपमानो को ग्रहण कर समीक्षण किया गया है।

अन्त में निष्कर्षात्मक रूप मे यह स्पष्ट किया है कि रीतिकालीन आलोच्य कवियो के शृगारिक काव्य पर सस्कृत काव्य का प्रभाव किस मात्रा मे तथा किस रूप मे दृष्टिगत होता है। सस्कृत तथा रीतिकालीन हिन्दी काव्य का यह तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा मौलिक रूप मे प्रथम वार ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

विद्यार्थी जीवन मे रीतिकालीन कवियों के कुछ सरस छन्दो का अध्ययन करने पर रीतिकालीन साहित्य के प्रति मेरे मन मे कुछ विशेष रुचि उत्पन्न हो गई थी। साथ ही स्नातकीय तथा शास्त्री परीक्षा का अध्ययन करते समय कालिदास, भारवि, माघ इत्यादि अनेक कवियो की कृतियों का यथेष्ट रूप में अध्ययन करने पर सस्कृत साहित्य के प्रति सहज आकर्षण का भाव उत्पन्न हो गया था। अतएव सन् १९६५ ई० में आगरा-विश्वविद्यालय से एम्० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् रीतिकाल तथा सस्कृत के किसी एक कवि को लेकर तुलनात्मक रूप मे शोध-कार्य करने का विचार किया, किन्तु परिस्थितिवश यह विचार कार्यान्वित न हो सका। महाराष्ट्र मे आने पर फरवरी १९६६ ई० में सौभाग्यवश सम्माननीय गुरुवय डॉ० आनन्दप्रकाश जी दीक्षित, आचार्य एव अध्यक्ष हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, के सम्पर्क में आने पर उनके समक्ष अपनी रुचि व्यक्त की। उस समय उनकी कृपा-दृष्टि मेरे लिये वरदान सिद्ध हुई। उन्होंने मेरी रुचि को देखते हुए शोध की आवश्यकता के अनुसार "रीतिकालीन शृगारिक काव्य पर सस्कृत काव्य का प्रभाव" इस विषय पर श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० कृष्ण जी दिवाकर के निर्देशन में कार्य करने का सुझाव दिया। सौभाग्यवश डॉ० दिवाकर जी ने भी मेरा पथ-प्रदर्शन करने के लिये सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। अत वह प्रवन्ध डॉ० दिवाकर जी के निर्देशन मे ही पूर्ण हुआ है।

श्रद्धेय डॉ० कृष्ण जी दिवाकर तथा डा० आनन्दप्रकाश जी दीक्षित ने मेरे ऊपर पुत्रवत् वात्सल्य भाव रखते हुये बडे ही मनोयोग से अपना बहुमूल्य निर्देशन प्रदान कर कार्य को सम्पन्न कराया। अत आज मुझे यह कहने में किसी भी प्रकार का सकोच नही है कि यदि श्रद्धेय डॉ० दिवाकर एव डॉ० दीक्षित का सहज स्नेह और वात्सल्य भाव मेरे अनुसधान-पथ मे सहायक न होता और समय-समय पर उन्होने मेरे सम्मुख आशा की किरणें विकीर्ण न की होती तो प्रवन्ध किसी भी

प्रकार इस रूप में प्रस्तुत न होता। इस प्रबन्ध की सम्पन्नता का समस्त श्रेय श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० दिवाकर जी एवं डॉ० दीक्षित जी को ही है। इसके लिए मैं उनके चरणों में श्रद्धा के दो सुमन अर्पण करने के अतिरिक्त और प्रदान भी क्या कर सकता हूँ।

अध्ययन–काल में परिस्थितिवश निराशा के बादल भी छाये। अतः कभी मथर तथा कभी द्रुत-गति के साथ कार्य चलता रहा। समय–समय पर परम पूज्य गुरुवर्य डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने अपना अमूल्य समय देकर जो महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए, उसके लिये मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूँ।

इसी प्रकार प्रबन्ध के विशिष्ट स्थलो पर डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० भालचन्द्र राव तेलंग, डॉ० राकेश गुप्त, डॉ० काशीकर, डॉ० जोग, डॉ० उमाकान्त शर्मा 'शास्त्री' इत्यादि विद्वानो ने जो मूल्यवान सुझाव दिये, उसके लिये मैं स्वयं को धन्य समझता हूँ। साथ ही डॉ० न० चि० जोगलेकर, डॉ० गोविलकर, प्राचार्य डॉ० साठे, प्राचार्य ब्राह्मणकर इत्यादि महानुभावों ने सहज स्नेह से जो प्रेरणा प्रदान की, उसके लिए मैं इनका आभारी हूँ।

शोध-विषय की सामग्री प्राप्त करने के लिये बहुत से ग्रन्थालयों में जाना पड़ा। पूना विश्वविद्यालय का जयकर ग्रन्थालय, मराठवाड़ा विश्वविद्यालय-ग्रन्थालय औरंगाबाद, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा के पूना तथा नासिक के ग्रन्थालय, बम्बई विश्वविद्यालय का ग्रन्थालय, भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना, डेक्कन कॉलेज पूना, डॉ० दिवाकर जी का निजी ग्रन्थालय, कर्मवीर काकासाहेब वाघ महाविद्यालय पिम्पलगाँव बसवन्त का ग्रन्थालय, कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, येवला कॉलेज का ग्रन्थालय, मिलिन्द कॉलेज ऑफ आर्ट्स तथा मिलिन्द कॉलेज ऑफ सायन्स औरगाबाद का ग्रन्थालय इत्यादि ग्रन्थालयों से शोध–विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री की प्राप्ति हुई। अतः इन सभी के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इसके अतिरिक्त अपने विवेचन को स्पष्ट करने के लिए अनेक ग्रंथों से सहायता ली जिनका उल्लेख साभार यथास्थान किया गया है। मेरी धर्म-पत्नी सौभाग्यवती कृष्णा शर्मा एम्० ए० ने मुझे जो सहयोग एवं प्रेरणा प्रदान कर चिन्ताओं से मुक्त रखा, उसके लिए मैं उसे कैसे धन्यवाद दूँ, तथा कैसे आभार प्रदर्शित करूँ? इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियो ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में समय-समय पर जो सहायता प्रदान की, उन सभी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

पूना-विश्वविद्यालय ने शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करने की जो अनुमति प्रदान की है, उसके लिए लेखक विश्वविद्यालय के श्रद्धेय कुलगुरु महोदय और सम्बन्धित अधिकारियो के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ है।

यह शोध–प्रबन्ध पूना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत है। इसका मूल शीर्षक 'रीतिकालीन शृंगारिक काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव' था। रीतिकाल मे शृंगार की ही प्रधानता रही है, इस दृष्टि से प्रकाशित पुस्तक का शीर्षक 'रीतिकालीन काव्य पर संस्कृत काव्य का प्रभाव' रखा गया है।

अहमदनगर मे रहकर ग्रंथ का प्रूफ देखना मेरे लिए असम्भव था, फिर भी मेरे प्रकाशक मित्र-बन्धु श्री मथुराप्रसाद त्रिपाठी जी ने सावधानी पूर्वक प्रूफ देखकर यथासम्भव ग्रन्थ को निर्दोष रखते हुये प्रकाशित किया है, इसके लिये लेखक उनका आभारी है। अत्यन्त सावधानी बरतने पर भी यदि त्रुटि रही हो तो उसके लिये पाठक-गण उदारतापूर्वक लेखक को क्षमा करें। प्रस्तुत प्रबन्ध लेखक के अध्ययन का प्रथम पुष्प है, इसके द्वारा 'रीतिकालीन–कविता' के स्वरूप को परखने–समझने मे कितनी सहायता मिलेगी, इसका निर्णय तो विद्वान ही कर सकते हैं।

विनीत

दयानन्द शर्मा 'मधुर'

अनुक्रमणिका

१ | संस्कृत और रीतिकालीन हिन्दी काव्य में श्रृंगार-परम्परा

प्राणिमात्र के जीवन को "राग" आदि से अन्त तक चँदोवे की भाँति आच्छादित किये रहता है। "रागात्मिका" वृत्ति का जन्म भी 'राग' द्वारा ही होता है। रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित मानव कर्मशील बनकर विभिन्न कार्यों में रत रहकर जीवन में सफनता के चिह्न निहारने की प्रबल इच्छा करता है। नियति के नियमन का कार्य भी इसी वृत्ति द्वारा सम्पादित होता है। इसीलिए विपरीत लिंग-स्त्री और पुरुष-एक दूसरे के प्रति आसक्ति का अनुभव करते हैं। नारी और पुरुष के जीवन में आकर्षण की प्रक्रिया ही मानव प्राणी को समरसता के शिखर पर प्रतिष्ठापित कर देती है। उस समय मनुष्य का जीवन उस भावभूमि पर जाकर टिक जाता है जिसके सम्मुख स्वर्गिक-आनन्द भी फीका पड़ जाता है। अतः दो विरोधी लिंगों का आकर्षण ही प्राणिमात्र के हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द को जन्म देता है तथा उसमें भावी सृष्टि के निर्माण की अपेक्षा भी रहती है।

सृष्टि के आदिकाल से ही नारी और पुरुष एक दूसरे के पूरक रहे हैं। सम्भवतया अभाव की इसी प्रवृत्ति ने दोनों के हृदय में व्यथा को जन्म दिया। यही कारण है कि जब दोनों एक दूसरे के साथ मिलन के सुख की प्राप्ति के लिए अधीर हो उठते हैं, तो दोनों की विह्वलता विरह की संज्ञा प्राप्त करती है तथा मिलन होने पर वही संयोग की परिणति को प्राप्त होती है। अतः स्पष्ट है कि स्त्री और पुरुष के मिलन की यही प्रवृत्ति श्रृंगार के परिवेश में आती है।

[अ] श्रृंगार की परिभाषा और स्वरूप

आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' मे श्रृंगार की परिभाषा देते हुए कहा है कि "प्रायः सुख प्रदान करने वाले इष्ट पदार्थों से युक्त ऋतु मालादि से सेवित, स्त्री और पुरुष से युक्त 'श्रृंगार' कहा जाता है।"[1]

---

१. सुख प्रायेष्ट सम्पन्न ऋतु माल्यादि सेवकः
पुरुष प्रमदायुक्त श्रृंगार इति संज्ञितः।
आचार्य भरतकृत नाट्यशास्त्र—अध्याय ६ – कारिका ४६
संपा० ; पं० बटुकनाथ उपाध्याय —संस्करण १६२९

दशरूपककार धनंजय ने बहुत कुछ आचार्य भरतमुनि की परिभाषा का ही अनुसरण किया है। वे कहते हैं कि—"परस्पर अनुरक्त युवा नायक-नायिका के हृदय में रम्य-देश, काल, कला, वेश, भोग आदि के सेवन से तथा उनके अंगों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा परिवर्धित रति ही आनन्दात्मक शृंगार रस है।"[1]

महाराज भोज ने शृंगार-विवेचन में और भी अधिक प्रकर्ष प्रदान किया। उन्होंने अहं भाव के आत्मस्थित गुण विशेष को शृंगार की संज्ञा देकर शृंगार की व्यापकता को सर्वत्र निहारा है। वे कहते हैं कि—

"अहंबोध युक्त आत्मयोनिमनसिज के प्राण को ही आचार्यों ने शृंगार की संज्ञा प्रदान की है। यह शृंगार आत्मा में स्थित उसी आत्मा का विशिष्ट गुण है। शृंगार, आत्मशक्ति के द्वारा रमणीय होने के कारण ही रस कहलाता है। रस के इस आस्वाद बोध से युक्त होने के कारण ही प्रमाता या सहृदय को रसिक-संज्ञा प्राप्त होती है।"[2]

आचार्य विश्वनाथ ने काम के अंकुरण को ही शृंगार की संज्ञा प्रदान करते हुए कहा है कि—

"मन्मथ का उद्भेद ही शृंग कहलाता है। इस विकास का कारण ही शृंगार कहलाता है। शृंग+आर (आगमन), उत्तम या आदर्श प्रकृति का भाव होने के कारण यह रसरूप में स्वीकृत किया जाता है।"[3]

रसतरंगणीकार भानुदत्त ने शृंगार की परिभाषा को अत्यन्त परिष्कृत रूप में देते हुए कहा है कि—

---

१ रम्यदेशकलाकालवेषभोगादि सेवनैः
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः
प्रहृष्यमाणः शृंगारो मधुरांग विचेष्टितैः ।
(दशरूपक—४।४८, पृ० २५३) दशरूपक—सम्पा० पं० भोलाशंकर व्यास संस्करण संवत् २०११

२ आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोने
तस्यात्मशक्तिरमणीयतयारसत्वं
युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः ॥२॥
भोजकृत शृंगार प्रकाश—प्रथम प्रकाश—सम्पा श्री राघवन् (प्र. सं)

३ शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥ साहित्य दर्पण — ३।१८३॥
सम्पा डॉ० सत्यव्रत सिंह—प्रथम संस्करण

"युवा दम्पती का परस्पर एवं सर्वथा पूर्ण प्रकृष्ट आनन्दात्मक भाव अथवा उनका परम पवित्र एवं अखण्ड आनन्दात्मक अनुरागानुभव ही श्रृंगार रस है।"[1]

अन्त में रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का मत भी लक्षणीय है। उन्होंने श्रृंगार के कलेवर को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। यथा—

"प्रेम की संज्ञा प्राप्त करने वाली विशिष्ट प्रकार की चित्तवृत्ति ही, अपने सहज एवं स्थिर अस्तित्व के कारण, क्रीडात्मिका रति का स्थायीभाव बनती है।"[2]

महाराज भोज की परिभाषा के अतिरिक्त उक्त समस्त आचार्यों की परिभाषाओं में पर्याप्त साम्य है। लगभग सभी ने श्रृंगार की पुष्टि के लिए स्त्री-पुरुष को आलम्बन रूप में स्वीकार किया है, जिसका आशय यह है कि समान लिंग वाले व्यक्तियों की मित्रता अथवा प्रीति को श्रृंगार के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। तथा दो भिन्न लिंग वाले व्यक्तियों का प्रेम भी वासना विहीन हो सकता है—जैसे भाई और बहन का प्रेम। किन्तु स्थान-स्थान पर विभिन्न विद्वानों द्वारा काम, सम्भोग, शारीरिक चेष्टाओं आदि के उल्लेख से यह बात स्वतः ही सिद्ध हो जाती है कि श्रृंगार के अन्तर्गत काम समन्वित प्रेम ही लिया जा सकता है। पण्डितराज जगन्नाथ का गुरु, देवता, पुत्र विषयक रति के सम्बन्ध में व्यभिचारी का कथन इसी तथ्य को द्योतित करता है। अतएव श्रृंगार के अन्तर्गत वात्सल्य एवं शुद्ध मित्रता के भाव को कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता।

महाराज भोज का दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक है। उन्होंने मानव हृदय में स्थित अहं भाव को ही श्रृंगार का दूसरा रूप स्वीकार किया है। मानव हृदय में अहं का बीज प्रारम्भ से ही विद्यमान रहता है। इसी से मनुष्य के हृदय में रत्यादि भावों की उत्पत्ति होती है। भोज के अनुसार यह आत्मा का अन्तिम सत्य है। यही रस है, जिसमें आत्मा को चरम आनन्द की उपलब्धि होती है। वह आत्मा का अपने प्रति प्रेम है। इसे आत्मानुरक्ति अथवा आत्मकाम भी कह सकते हैं।[3] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भोज ने दाम्पत्य-श्रृंगार के साथ-साथ समस्त बाह्य संसार को श्रृंगार की

---

१. यूनोः परस्पर परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक् सम्पूर्णरतिभावो वा श्रृंगारः ॥
रसतरंगिणी—षष्ठ तरंग

२. स्त्रीपुन्सयोरन्योरन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः ।
गुरुदेवतापुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी ।
रसगंगाधर—टीकाकार नागेश भट्ट, पृष्ठ ३१, ३२, ३३
(निर्णयसागर प्रेस बम्बई)

३. आधुनिक हिन्दी काव्य में विरह-भावना —लेखक: डॉ० मधुरमालती सिंह
पृष्ठ ६ (प्रथम संस्करण)

परिधि में समेट लिया है। अतएव यहाँ शृंगार का रूप व्यष्टिगत न रहकर समष्टिगत हो जाता है। जहाँ तक शृंगार की सैद्धान्तिक परिभाषा का प्रश्न है, वहाँ रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने संस्कृत के प्रतिनिधि तथा मान्य कवियों का ही अनुगमन किया है।

शृंगार की उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं को दृष्टिगत करते हुये संक्षिप्त रूप में शृंगार के विषय में यही बात कही जा सकती है कि स्त्री और पुरुष दोनों के हृदय में स्थित रति स्थायीभाव जब काम से समन्वित होकर दोनों में परस्पर आकर्षण का भाव उत्पन्न कर देता है तो वही भावना शृंगार की संज्ञा प्राप्त करती है।

शृंगार रस के भेद

ध्वन्यालोक के अन्तर्गत द्वितीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने रसों की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि "प्रधानभूत शृंगार रस के प्रारम्भ में दो भेद होते हैं, सम्भोग (शृंगार) और विप्रलम्भ (शृंगार)। उनमें भी सम्भोग के परस्पर प्रेम दर्शन (दर्शन सम्भाषणादि का भी उपलक्षण है) सुरति (और उद्यान) विहारादि भेद हैं। (इसीप्रकार) विप्रलम्भ के भी अभिलाषा, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और विप्रलम्भादि (शापादि निमित्तक वियोगादि) भेद हैं उनमें से प्रत्येक (भेद) के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के (भेद से) भेद हैं। और उन (विभावादि) के भी देश, काल, आश्रय, अवस्था (आदि से) भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक (शृंगार) की परिगणना करना (ही) असम्भव है, फिर उनके अंगों के भेदोपभेद की कल्पना की तो बात ही क्या है। वे अंगी (अलंकारादि) के प्रभेद प्रत्येक अंगी (रसादि) के प्रभेदों के साथ सम्बन्ध कल्पना करने पर अनन्त हो जाते हैं।"[१]

आनन्दवर्धन के सूत्र के अनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ही शृंगार रस के अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं लेकिन मुख्य रूप से विद्वानों ने उसके दो भेद ही स्वीकार किये हैं—संयोग और वियोग अथवा सम्भोग एवं विप्रलम्भ। डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित के कथन द्वारा यह तथ्य पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है। वे कहते हैं कि—"मुख्यतः नायक-नायिका के सम्बन्धों की कल्पना करके उनका संयोग और वियोग अथवा सम्भोग तथा विप्रलम्भ नामक भेदों में विभाजन किया गया है। साहित्यिक क्षेत्र में इसी वर्णन के भेदोपभेदों का वर्णन किया जाता है। इन भेदों के अतिरिक्त चतुर्वर्ग के आधार पर भी इसका वर्गीकरण किया गया है, किन्तु उसका प्रचलन नहीं दीख पड़ता।"[२]

---

१ ध्वन्यालोक—द्वितीय उद्योत-कारिका १२ (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ १४१
सम्पा० डॉ० नगेन्द्र (प्रथम संस्करण)–१९५२

२ रस सिद्धान्त—स्वरूप विश्लेषण—अध्याय ७ पृष्ठ ३१४ (प्र० सं०)

इस प्रकार श्रृंगार के मुख्य भेद संयोग और वियोग अथवा संभोग और विप्रलम्भ ही हैं। आचार्य रुद्रट ने सम्भोग और विप्रलम्भ की चर्चा करते हुये संक्षिप्त रूप में उनका स्वरूप स्पष्ट कर दिया है—

सम्भोगः संगतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ ।
पुनराप्येप द्विधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ॥६॥[1]

अर्थात् संग पुरुष और नारी के रति व्यवहार को सम्भोग और वियुक्त पुरुष तथा नारी के रति व्यवहार को विप्रलम्भ कहते हैं। ये दोनो फिर प्रच्छन्न और प्रकाश के नाम से दो प्रकार के हैं।

यहाँ रुद्रट ने प्रच्छन्न और प्रकाश के तात्पर्य को स्पष्ट नही किया। सम्भवतया इस प्रभेद का निर्धारण प्रेमियो के एकांत में परस्पर व्यक्त हाव भाव प्रकाशित तथा भीड़ में प्रच्छन्न प्रेम की स्थिति के आधार पर किया गया है। लेकिन इस परिभाषा से स्पष्ट यह आशय निकलता है कि जहाँ नायक–नायिका एक दूसरे के सामीप्य में न रहकर रति का अनुभव करें वहाँ विप्रलम्भ होगा।

इस प्रकार श्रृंगार के प्रमुखतया दो भेद—संयोग और वियोग का ही अधिक प्रचलन देखा जाता है तथा रीतिकालीन कवियो ने भी मुख्य रूप से इन्ही दो भेदों को अपनाया है एव इन्ही के अनुसार अपने वर्णन अंकित किये हैं।

श्रृंगार के अवयव

काव्य में वर्णित श्रृंगार के विभिन्न पक्ष हो सकते हैं। श्रृंगार रस के प्रसंग में आचार्य भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित सूत्र-"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" को ही प्रमुखतः आधार माना जाता है। श्रृंगार रस की निष्पत्ति के लिये विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भाव—इन तीनों का समुचित संयोग होना आवश्यक माना गया है। यहाँ विषय के सन्दर्भ में इन प्रमुख अवयवों पर संक्षिप्त विचार किया जायगा।

विभाव

जिसके कारण हृदय में रस का प्रादुर्भाव होता है, उसे विभाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं-आलम्बन और उद्दीपन।[2]

आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक और नायिका—दो भेद स्वरूप निरूपित

---

१. काव्यालंकार—रुद्रट–अध्याय १३

२. जाको रस उत्पन्न है, सो विभाव उर आनि ।
आलम्बन उद्दीपनो, सो द्वै विधि पहिचानि ॥१०॥
भिखारीदास-ग्रन्थावली-रस सारांश-सम्पा० :आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (प्र.सं.)

किये जाते हैं एवं चन्द्र, सुमन, सखि, दूति, अंगरागादि-प्रसाधन-उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं। रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास के कथन से यह तथ्य पूर्णरूप से प्रमाणित हो जाता है-

जानो नायक नायिका, रस-सिंगार-विभाव।
चन्द्र सुमन सखि दूतिका, रागादिको बनाव॥[1]

भिखारीदास ने विभाव के दो भेदों- (आलम्बन और उद्दीपन) का यद्यपि यहाँ नाम नहीं लिया है, किन्तु दोनों विभावों की व्यंजना अनायास ही हो जाती है।

नायिका—वर्णन

भरतमुनि ने "नाट्यशास्त्र" के अन्तर्गत प्रकृति, यौवनानुसार, सामाजिक दृष्टि से तथा शील और अवस्था के अनुसार नायिकाओं के भिन्न-भिन्न भेदों की कल्पना की।[2] इन भेदों में से परवर्ती आचार्यों ने रसिकता के दृष्टिकोण के अनुसार कुछ का तो परित्याग कर दिया और कुछ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। आगे चलकर "नायिका-निरूपण" के क्षेत्र में विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण और भानुदत्तकृत "रसमंजरी" ने अच्छा योगदान प्रदान किया। इनमें भानुदत्त की रसमंजरी तो मुख्य रूप में रीतिकालीन साहित्य का आधार ग्रन्थ बनी।

नायक वर्णन

नायिका वर्णन के समान ही नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने नायकों की जो श्रेणियाँ निर्धारित कीं[3] उन्हें परवर्ती आचार्यों ने यथासम्भव परिवर्तित कर स्वीकार किया।

इस प्रकार नायिका और नायक भेद की जिस दृष्टि का शृंगार के आलम्बन विभाव के रूप में संस्कृत के ग्रन्थों में प्रचलन हुआ, उसे हिन्दी की रीतिकालीन काव्यधारा के अन्तर्गत सम्यक् आश्रय प्राप्त हुआ। हिन्दी की इस धारा के प्रेरक ग्रन्थ के रूप में भानुदत्त की रसमंजरी ही विशेष रूप से रही।

उद्दीपन विभाव

आचार्य भोजराज ने शृंगार रस के उद्दीपन विभाव की कल्पना पाँच वर्गों में विभाजित करके की है – (१) ऋतु, (२) बाह्य-प्रसाधन-यथा मलय एवं अंगराग इत्यादि, (३) प्राकृतिक दृश्य-जैसे सरिता, उपवन, पर्वत आदि, (४) कालरात्रि, मध्याह्न आदि, (५) ६४ कलाएँ।[4]

---

१ भिखारीदास ग्रन्थावली-खण्ड २, काव्य निर्णय-४। १०
२ नाट्यशास्त्र-अध्याय २४
३ नाट्यशास्त्र-अध्याय २०
४. भोजकृत शृंगार प्रकाश-अध्याय १६ (सम्पा० वी० राघवन्, प्रथम संस्करण)

अतः इस वर्गीकरण के अनुसार उद्दीपन विभावों की श्रेणी मे चन्द्र चाँदनी, ऋतु, उपवन, मलय-पवन, अंगरागादि को लिया जा सकता है। रीतिकालीन कवियों ने इसके अन्तर्गत सखी, दूती को भी प्रश्रय दिया है, जैसा कि विभावों के वर्गीकरण में अंकित भिखारीदास के उपर्युक्त दोहे से व्यंजित हो जाता है। पं० रामदहिन मिश्र ने इस विषय में अपना मत देते हुए कहा है कि "सखी,सखा तथा दूती को संस्कृत के आचार्यो ने शृंगार रस में नायक-नायिका के सहायक नर्म सचिव माना है, किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने इनकी गणना उद्दीपन विभाव में की है। इनके उद्दीपन विभाव मानने का कारण यह जान पड़ता है कि सखा, सखी या दूती के दर्शन से नायिकागत वा नायकगत अनुराग उद्दीपित होता है। भरतमुनि के वाक्य मे प्रियजन शब्द के आने से संभव है हिन्दी वालो ने इन्हें उद्दीपन मे मान लिया है"।[१]

पण्डित रामदहिन मिश्र ने नायक-नायिका की वेशभूषा, चेष्टा आदि पात्रगत तथा षड्ऋतु, नदीतट, चाँदनी, चित्र, उपवन, कविता, मधुर सगीत, मादक वाद्य, पक्षियों का कलरव आदि को भी शृंगार के वहिर्गत उद्दीपन रूप में स्वीकार किया है।[२] इसके अतिरिक्त नायिका का नखशिख सौन्दर्य भी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आता है।

अनुभाव

शृंगारिक अनुभावों को प्रेमपूर्ण आलाप, स्नेह स्निग्ध परस्परावलोकन, आलिगन, चुम्बन, रोमांच, स्वेद, कम्प, नायिका के भ्रूभंग आदि अनेक भाव आते हैं। आचार्यो ने इनको कायिक, वाचिक और मानसिक वर्गीकरण के रूप में विभाजित कर दिया है।[३]

संचारी भाव

समस्त विद्वानो ने संचारी भावों की संख्या ३३ स्वीकार की है। इनमे उग्रता, मरण तथा जुगुप्सा के अतिरिक्त उत्सुकता, लज्जा, जड़ता, चपलता, हर्ष, मोह,चिन्ता आदि सभी भाव शृंगार रस के संचारी भाव होते हैं। ये सचारी भाव शृंगार के व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

स्थायी भाव

शृंगार का स्थायी भाव रति है। इस भाव की विभिन्न आचार्यो ने निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित की है-

भरतमुनि--"रति ही आत्मा को आमोद अर्थात् प्रसन्नता प्रदान करने वाला भाव है।[४]

---

१. काव्य दर्पण-प्रणेता और सम्पा० : पण्डित रामदहिन मिश्र पृष्ठ १७१ (चतुर्थ संस्करण--१९६०)
२. वही-पृष्ठ १७१
३. काव्य दर्पण-दूसरी छाया--शृंगार रस सामग्री -- पृष्ठ १७१
४. "तत्र रतिर्नाम आमोदात्मको भावः।"नाट्यशास्त्र - ७।८

दशरूपककार धनंजय –"आत्मा को प्रसन्नता प्रदान करने वाला रति भाव ही युवाओं (प्रेम प्रेमिका) को एक दूसरे की ओर अनुरक्त करता है।"[1]

पण्डितराज जगन्नाथ– "एक दूसरे के आलम्बन स्त्री-पुरुष की प्रेम नामक चित्त-वृत्ति विशेष ही रतिनामक स्थायी भाव है।"[2]

इन परिभाषाओं के आधार पर रति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है -एक दूसरे के आलम्बन स्त्री-पुरुष के हृदय में विद्यमान प्रेम नाम की चित्तवृत्ति को उन्मीलित कर जो भाव प्रेमियों को परस्पर आकर्षण की प्रेरणा देता हुआ उनकी आत्मा को प्रसन्नता प्रदान करता है, उसी स्थायी भाव को रति की संज्ञा दी जा सकती है।

शृंगार और उसके अवयवों पर प्रकाश डालने के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि "शृंगार" के "रति" नामक स्थायी भाव को शृंगार रस की अवस्था तक पहुँचाने में सर्व प्रमुख कारण उसका विभाव बनता है जो दो प्रकार का है-पहला आलम्बन और दूसरा उद्दीपन। पहले में नायक-नायिका और दूसरे में सखी, सखा, दूती तथा वातावरण एवं नायक नायिका के सौन्दर्य इत्यादि का समावेश रहता है। नायिका के सौन्दर्य के आकर्षण ने ही सम्भवतया कवियों को नायिका के नखशिख वर्णन की ओर प्रवृत्त किया। कवियों की नखशिख वर्णन की प्रवृत्ति ने ही शृंगार के विवेचन में मुख्य स्थान प्राप्त किया है।

नायक और नायिका के हृदय में रति भाव की पुष्टि होने पर अनुभाव के रूप में वे परस्पर स्तम्भ, स्वेद तथा रोमांच इत्यादि सात्त्विकों की अनुभूति करते हैं क्योंकि रति की छत्रछाया में 'लज्जा" नामक संचारी भाव रहता है जोकि नायक और नायिका के हृदय को प्रेम का मधुर एवं अनिर्वचनीय आस्वाद कराने में समर्थ होता है। आचार्यों ने नायक-नायिका भेद और नायिका के नखशिख का वर्णन कर शृंगार वर्णन को और भी अधिक पुष्ट बनाने का प्रयास किया है।

अन्त में शृंगार के समग्र विवेचन के आधार पर उसके वर्णन को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है - (१) संयोग, (२) वियोग, (३) नायक-नायिका भेद, (४) नखशिख-सौन्दर्य, यद्यपि नायक-नायिका भेद और नखशिख सौन्दर्य शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष के ही अंग हैं किन्तु कवियों ने शृंगार के विस्तार में इन दोनों का अलग-अलग ही निरूपण किया है। अतः यहाँ भी इन दोनों को अलग मान-कर शृंगार के वृहत् स्वरूप की कल्पना में अलग-अलग अध्यायों में निरूपित किया जायगा। शृंगार का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करते हुए उसके काम, प्रेम और सौन्दर्य

---

१ "प्रमोदात्मा रति सैव यूनोरन्योन्य रक्तयो।" दशरूपक - ४।४८

२ स्त्री पुंसयोरन्योन्यालम्बन प्रेमाख्यचित्तवृत्तिविशेषो रति स्थायीभाव। रसगंगाधर -पृष्ठ १३० (रसगंगाधर -पं० जगन्नाथ) सम्पा० मदनमोहन झा सन् १९५५ ई०

इन तीन तत्वों को यद्यपि लिया जाता है फिर भी इनकी परिणति अन्त में संयोग और वियोग में ही हो जाती है। वस्तुत: काम-भावना और प्रेम-भावना श्रृंगार के संयोग तथा वियोग - दोनों पक्षों में ही निहित रहती है तथा ये दोनों नायिका के सौन्दर्य पक्ष पर ही विशेष रूप से अवलम्बित रहती हैं।

(अ) संस्कृत काव्यों में श्रृंगार की परम्परा

वैदिक युग में श्रृंगार

संस्कृत साहित्य में श्रृंगार की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक साहित्य में श्रृंगारिक सूत्रों का उन्मीलन अत्यन्त सहृदयता के साथ अंकित है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत चारों वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांगों का समावेश होता है। "वेद" शब्द का प्रयोग वैसे तो संहिता के मंत्र भाव के लिए माना जाता है, पर वैदिक विद्वानों ने "वेद" शब्द के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों को भी ग्रहण किया है-"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।" वेदों की रचना मूलत: याज्ञिक अनुष्ठान के लिये की गई थी। इनमें भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा समय-समय पर विरचित मंत्रों का संग्रह पाया जाता है।[1]

वेदों की संहिताओं में ऋग्वेद संहिता ही मुख्य है तथा इसके बहुत से मंत्र ऐसे हैं जो यजुर्वेद मे विद्यमान हैं। सामवेद का निर्माण तो ऋग्वेद के मत्रों के संग्रह के रूप में ही हुआ।[2] अत: ऋग्वेद ही ऐसा वेद है जिसे समस्त वेदों का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। चौथा वेद अथर्ववेद है, किन्तु उसमें मत्र-तत्रों का विधान होने के कारण विद्वानों ने उसे वेदों की कोटि मे स्थान नहीं दिया।[3]

ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् इन तीनो का निर्माण वेदो की कथाओं के विस्तार स्वरूप ही हुआ है। अत: इनमें साहित्यिक दृष्टि से वेदो की प्रवृत्ति ही मुख्य रूप से कार्य करती है। वेदांगों में ज्योतिष, निरुक्त, व्याकरण आदि का समावेश है, जो साहित्यिक दृष्टि से रसाभिव्यक्ति में असमर्थ ही है।

श्रृंगार की व्यंजना

वेदों की उन्मुक्त एव धार्मिक भूमि पर श्रृंगार के जिन बीजो का रोपण हुआ, वे समय के प्रभाव से अपार हरीतिमा लेकर लहलहा उठे। अतएव इस युग मे एक ओर तो नारी और पुरुष के उन्मुक्त प्रेम का प्रारम्भ हुआ तो दूसरी ओर दाम्पत्य

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास – सम्पा० : राजवली पाण्डेय – द्वितीय खण्ड– अध्याय १—लेखक : डॉ. भोलाशंकर व्यास–पृष्ठ १८३–संस्करण सवत् २०१७

२. वही

३. वही—पृष्ठ १८६

भावना भी पनपती रही। ऋग्वेद के अन्तर्गत पुरूरवा और उर्वशी[1] तथा यम-यमी[2] के सम्वादों से यह तथ्य विदित हो जाता है। पुरूरवा और उर्वशी सूक्त में उर्वशी के विरह में क्लान्त पुरूरवा अपनी मनोव्यथा को प्रकट करता हुआ कहता है कि—"हे उर्वशी! तेरे विरह के कारण मेरा बाण तरकश से फेंके जाने में असमर्थ होकर विजयश्री की प्राप्ति में योग नहीं देता। इसलिए मैं वेगवान होकर शत्रु की गायों का उपभोक्ता नहीं बन पाता। मेरी शक्ति राजकर्म में भी प्रवृत्त नहीं होती। मेरे योद्धा भी विस्तीर्ण संग्राम में मेरे सिंहनाद को नहीं सुन पाते।"[3]

कोई भी प्रेमी यह नहीं चाहता कि उसकी प्रेमिका का उपभोग कोई दूसरा करे। यही कारण है कि पुरूरवा चाहता है कि उर्वशी के साथ क्रीडा करने के जिस सौभाग्य से वह वंचित हो गया है, उसी का उपभोक्ता कोई अन्य व्यक्ति नष्ट क्यों नहीं हो जाता? शृंगार रस के संचारी भाव के रूप में इसी "ईर्ष्या-भाव" का निदर्शन पुरूरवा की उक्ति में देखा जा सकता है।[4]

पुरूरवा और उर्वशी के संवाद में जहाँ एकांगी प्रेम की एकनिष्ठता तथा विरह-भावना का सुन्दर समन्वय है, वहीं दूसरी ओर इस संवाद में यह प्रतीति भी अनायास ही हो जाती है कि वैदिक युग में दाम्पत्य-भावना का प्रादुर्भाव तो हो चुका था, किन्तु दाम्पत्य सम्बन्ध दृढ नहीं थे। समय आने पर उन्हें तोड़ा भी जा सकता था, जैसा कि उर्वशी, पुरूरवा के साथ व्यवहार करती है। यह निस्सन्देह मांसिकता की दृष्टि से अत्युत्कृष्ट है।

यम-यमी के संवादों में उन्मुक्त प्रेम तथा दाम्पत्य भावना के साथ नारी हृदय में पनपती हुई वासना का सजीव चित्र विद्यमान है। वहाँ यमी अपने भाई के सम्मुख अपनी प्रणय याचना का निवेदन करती हुई कहती है कि—"हे यम, तेरी अभिलाषा मुझे एक स्थान में एक साथ शयन करने के लिए प्राप्त हो। पति के लिए पत्नी के समान मैं तुझे अपनी देह अर्पित कर दूँ। हम दोनों रथ के दो चक्रों की

---

१ ऋग्वेद मण्डल—१०। ९५

२ वही—१०। १०

३ इषुर्नधिय इषुधेरसना गोषा शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः॥
ऋग्वेद मण्डल—१०। ९५। ३

४ सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥
ऋग्वेद मण्डल—१०। ९५। १४

तरह गृहस्थी के भार को सँभालें ।"[1]

यम-यमी के संवाद में स्वतन्त्र प्रेम और दाम्पत्य की उस भावना का विकास है जिसमें नारी और पुरुष साथ-साथ मिलकर अपनी गृहस्थी के भार को सँभालते हैं ।

वैदिक कवि ने दम्पत्ति के सम्भोग का चित्र भी निस्संकोच भावना के साथ अंकित किया है । वहाँ वैदिक साहित्य का पुरुष, पत्नी के कामोद्दीपन के लिए देवताओं से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—

"हे परमेश्वर ! आज मुझे अपनी पत्नी में बीज वपन करना है । उसको प्रेरित कीजिए जिससे वह मेरी कामना करती हुई, अपने नितम्बों को फैलावे और मैं गुप्तेन्द्रिय को प्रविष्ट करूँ ।"[2]

वैदिक कवि के इस कथन से इस बात का पता चल जाता है कि "प्राचीन आर्य उस क्रिया को अपवित्र या अश्लील नहीं समझते थे, अपितु इसे वे एक धार्मिक कृत्य जितना महत्त्व देते थे ।"[3]

ऋग्वेद के अन्तर्गत प्रसंगानुसार नारी सौन्दर्य के अनेक चित्र प्राप्त होते हैं जिससे अनायास पता चल जाता है नारी के नखशिख सौन्दर्य की जो प्रवृत्ति आगे जाकर कालिदास जैसे कवियो की कृतियों में विकसित हुई, उसकी परम्परा सुदीर्घ है । वैदिक कवि ने एक स्थान पर उर्वशी का चित्र खींचते हुए उसे आकाश में चमकती हुई विद्युत के समान कान्तिवान बतलाया है ।[4] जिससे स्पष्ट हो जाता है कि नारी के अंगों की शुभ्रता तथा कान्ति पर वैदिक कवि का मन भी आकर्षित हो गया है । इसीप्रकार इन्द्राणी का सौन्दर्य भी एक मानवी का ही है, क्योंकि इन्द्र उसे सुन्दर भुजाओं वाली, सुन्दर अँगुलियो वाली, सघन केशों और मांसल जघाओं वाली कहकर उसके रूप का वर्णन करता है ।[5] इसी भाँति सूर्या सूक्त मे नववधू सूर्या

---

१. यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने ये नौ सहशेय्याय ।
जायेव-पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्ग्रहेव रथ्येवचक्रा ॥
ऋग्वेद मण्डल—१० । १० । ७

२. तां पूषं छिवतमामरेथस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।
या नउरू उशती विश्रयति यस्यामुशंतः प्रहरेम शेपः ॥
अथर्ववेद - १४ । २ । ३८

३. हिन्दी काव्य मे श्रृंगार परम्परा और महाकवि विहारी—लेखक : डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त—संस्करण १९५९. पृष्ठ ७१

४. ऋग्वेद—हिन्दी अनुवाद—रामगोपाल त्रिवेदी—पृष्ठ १२७० । १०

५. किं सुबाहो स्वङ्-गुरे प्रथुष्टो प्रयुजाधने ।
किं शूर पत्नी नस्त्वमभ्यनीपि वृपाकपि विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥
ऋग्वेद १० । ८६ । ८

का सौन्दर्य चित्रण अत्यन्त पवित्र एवं गरिमा से युक्त है।[1]

वैदिक काल में आगे चलकर बहुविवाह और उपपति का भी प्रचलन हो गया था। अथर्ववेद एवं उत्तरकालीन उपनिषदों के कुछ उदाहरणों से इस तथ्य का प्रमाण अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अथर्ववेद के अन्तर्गत ऐसे अनेक तंत्र—मंत्रों का विवरण है जिसमें स्त्री अपने पति को सपत्नी के आकर्षण से मुक्त कर अपने वश में रख सके। अतः एक चित्र दर्शनीय है जबकि कोई नारी देवताओं से अपने पति के आकर्षण की प्रार्थना करती हुई कहती है कि—"हे मरुत ! हे अग्नि आदि देवताओं ! उसे (मेरे पति को) ऐसा उन्मत्त बना दो कि वह सदैव मेरे ही ध्यान में मग्न रहे।"[2]

इसीप्रकार, "बृहदारण्यकोपनिषद्" में पत्नी के जार को नष्ट करने का उल्लेख मिलता है—"यदि स्त्री का कोई जार हो और उस जार के साथ उसका पति द्वेष करना चाहे तो एक मिट्टी के बर्तन में अग्नि को रखकर पारिस्तरणादि कर्म को उल्टा करे और सिरकियों को उल्टी बिछाकर बर्तन में रखी हुई अग्नि में घी और इन सिरकियों का हवन करे-साथ में इस मंत्र का उच्चारण करे—अरे दुष्ट ! तूने मेरी प्रदीप्त योषाग्नि में होम किया है, इसलिए मैं तेरे प्राण हर लेता हूं।"[3]

यहाँ "अथर्ववेद" तथा "बृहदारण्यकोपनिषद्" के उक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक काल में बहुविवाह और उपपति की प्रथा का प्रचलन हो गया था जिससे ऐसा लगता है कि गार्हस्थ्य सुख का जो आनन्द वैदिक युग के पूर्वार्द्ध में था, वह सम्भवतया समाप्त ही हो गया था। डॉ० शकुन्तला राव शास्त्री के कथन से यह बात बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है—

"संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नारी जीवन की जो तस्वीर ऋग्वेद के सूक्तों में दी गई है, वह उसके बाद के साहित्य से बहुत कुछ भिन्न है।"[4]

वैदिक साहित्य पर विहंगम दृष्टिपात करने पर उसके शृंगार के विषय में यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य शृंगार के विविध रंगों से रंजित है तथा प्रेम के स्वतन्त्र रूप का चित्रण यहाँ यम–यमी के संवाद द्वारा देखने को प्राप्त होता

---

१ ऋग्वेद–मण्डल १०।८५।१६

२ उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादय त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ अथर्ववेद–मण्डल ६।१३०।४

३ बृहदारण्यकोपनिषद–हिन्दी अनुवाद—अध्याय ६।४।१२ (प्र० सं०)

४ *In brief it can be said, the picture of woman-hood given in hymns of the Rigveda is far different from what we find in later literature*

Woman in Vedic Age–by Shakuntala Rao Shastri P 37–38 (First edition)

है। इससे लक्षित हो जाता है कि वैदिक युग के प्रारम्भ में कन्या नवयुवती होने पर स्वतन्त्रता पूर्वक अपने जीवन साथी का चुनाव कर सकती थी तथा वह अपनी भावनाओं का प्रदर्शन अपने प्रिय के सम्मुख निस्संकोच रूप से कर सकती थी।

यम-यमी तथा पुरूरवा-उर्वशी संवाद एव सूर्या सूक्त से जहाँ वैवाहिक प्रथा की झलक प्राप्त होती है, वही पुरूरवा-उर्वशी के संवादो से यह बात भी प्रत्यक्ष हो जाती है कि इस युग में वैवाहिक वन्धन अधिक मजबूत नही हो सके थे तथा समयानुसार उन्हें सरलता से तोड़ा भी जा सकता था जैसा कि उर्वशी-पुरूरवा के मोह को तोड़कर जली जाती है। तथा इस समय स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध धार्मिक भावनाओं में जकड़ा हुआ था, जिसमे नैतिक भावनायें भो मुख्य रूप से कार्य करती चली जा रही थी, लेकिन उत्तर वैदिक काल में बहुविवाह तथा उपपति प्रथा का प्रचलन होने से गार्हस्थ्य जीवन मे उतना माधुर्य नही रह गया था जितना कि ऋग्वेद के युग में था।

इसके अतिरिक्त वैदिक काल में सौन्दर्य के जो भी चित्र प्राप्त होते हैं उनमें कवि की दृष्टि अत्यन्त ही पैनी है। अत: एक ओर नारी के अंग-प्रत्यंगों के चित्रण में उसकी शारीरिक उज्ज्वलता और कान्ति का चित्रण है तो दूसरी ओर उसके अंग-प्रत्यंगों के चित्रण में कवि की कामुक प्रवृत्ति का निदर्शन है। किन्तु यह वात पूर्ण रूप से सत्य हो जाती है कि वैदिक युग से ही नखशिख वर्णन की परम्परा का सूत्रपात हुआ जो कि संस्कृत के मध्ययुग में सम्यक् रूप के विकसित हुई।

रामायण युग में श्रृंगार

वैदिक साहित्य मे श्रृंगार का जो स्रोत प्रस्फुटित हुआ, वह वाल्मीकि-रामायण तक आते आते मर्यादाओ मे बँध गया था। नारी को यहाँ स्वतन्त्र रूप से वर चुनने की स्वीकृति न थी तथा स्वयंवर प्रथा का प्रचलन होने पर भी उसके लिए वर का निर्धारण गुरुजन ही कर सकते थे। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र के कथन द्वारा स्पष्ट हो जाता है—"रामायण में नीति के वन्धन दृढ़ हो गये थे। विवाहसंस्था के साथ इस समय स्वकीया-भाव का महत्त्व भी अनिवार्य हो गया था। स्त्री-पुरुषो की वर्ण सम्बन्धी स्वतन्त्रता कम हो चली थी। विशेषकर स्त्री वर्ण में स्वतन्त्रता नही रह गई थी। यद्यपि स्वयंवर प्रथा अब भी प्रचलित थी, पर स्त्री के गुरुजन ही उसके योग्य, पुरुष का चुनाव करते थे।"[1] डॉ० नगेन्द्र के इस कथन द्वारा विदित हो जाता है कि श्रृंगार के मूल में धार्मिक भावना ही कार्य कर रही थी। विवाह के पूर्व स्वतन्त्र प्रेम यहाँ मान्य नही था, अपितु मुख्यत: दाम्पत्य--जीवन के परिवेश में श्रृंगार के स्वरूप का यहाँ विकास होता हुआ दृष्टिगत होता है। अत: श्रृंगार के संयोग तथा वियोग पक्ष की सुन्दर व्यंजना राम और सीता के विवाहोपरान्त ही दृष्टिगत

---

१. देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र—पृष्ठ ८८ (द्वि. सं.-१९५७)

होती है।

महाकवि वाल्मीकि ने संयोग शृंगार का चित्रण बड़ी सावधानी के साथ अंकित किया है। यहाँ विशेष रूप से यह बात उल्लेखनीय है कि रामायण का कवि पत्नी के उद्दीपन के लिए देवताओं से स्तुति नहीं करता बल्कि उसे प्राकृतिक उद्दीपनों का पूर्ण रूप से ज्ञान है। अतः उसने अपने संयोग के चित्रों में प्रकृति द्वारा ही हृदय में विकार की उत्पत्ति दिखाई है। यही कारण है कि चित्रकूट के रम्य वातावरण में मिलन सुख को प्राप्त राम और सीता का वर्णन बड़ा मोहक बन पड़ा है।[1] इसीलिए प्रकृति के उस रम्य वातावरण में सीता अनायास ही अपने शरीर को राम की गोदी में सौंप देती है।[2]

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, महर्षि वाल्मीकि ने दाम्पत्य जीवन के आदर्श प्रेम की परिकल्पना की है जो कि कर्तव्य के धरातल पर स्थित है। यही कारण है कि विवाह के पश्चात् राम और सीता का स्नेह एक दूसरे के प्रति निरन्तर बढ़ता है।[3]

महाकवि वाल्मीकि ने संयोग के चित्रों के साथ ही वियोग के चित्र भी बड़ी ही सहृदयता के साथ अंकित किए हैं। इस दृष्टि से रामायण के अन्तर्गत सबसे अधिक प्रभावशाली और मार्मिक स्थल सीता और राम के वियोग के हैं। एक ओर रावण द्वारा अपहरण किए जाने पर सीता अनेक प्रकार से विलाप करती है।[4] दूसरी ओर मारीच का वध करके आने पर राम को सीता के वियोग में वह पर्णशाला हेमन्त की कमलिनी के सदृश शोभाहीन लगी। उस समय आश्रम के वृक्ष मानो रो रहे थे, फूल कुम्हलाए हुए थे, पक्षी उदास थे, वन देवता उसे ध्वस्त और

१ वाल्मीकि-रामायण—अयोध्याकाण्ड—सर्ग ९४ । १३, १४ इत्यादि

२ एवं मुक्ता प्रियस्याङ्के मैथिली प्रियभाषिणी ।
भूतस्तरा त्वनिधाङ्गी समारोहत भामिनी ॥ १६ ॥
अङ्के तु परिवर्तमी सीता सुरसुतोपमा ।
हर्षयामास रामस्य मनो मनसिजार्पितम् ॥ १७ ॥
वाल्मीकि-रामायण—अयोध्याकाण्ड—सर्ग ९४

३ गुणाद्रूप गुणाच्चापि प्रीतिर्भूयो विवर्धते ।
तस्यास्य मता द्विगुण हृदये परिवर्तते ।
अन्तर्गतमपि व्यक्तिमाख्याति हृदय हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिलीजनकात्मजा ॥
वाल्मीकि रामायण—बालकाण्ड—सर्ग ७७ । २७—२८ ॥

४ सा तथा करुणावाचो विलपन्ती सुदुःखिता ।
वाल्मीकि रामायण—अरण्यकाण्ड—सर्ग ४९

शोभाहीन देखकर चले गये थे ।[1] तथा सीता के वियोग में राम की दशा अत्यन्त दयनीय बन जाती है, वे कभी किसी वृक्ष से सीता का पता पूँछते हैं तो कभी दिशाओं से ।[2]

इधर रावण के यहाँ सीता की दशा भी कम दयनीय नहीं है । रावण के वशीभूत होने के कारण वह अपने भर्तार को किस भाँति देखे यही शोक उसे हर समय संतप्त करता रहता है ।[3]

विरह के मार्मिक चित्रों की ही भाँति सौन्दर्य का वर्णन भी कवि ने बड़ी ही सजीवता के साथ अंकित किया है । सीता-हरण करने के उद्देश्य से आये रावण के कथन द्वारा सीता का सौन्दर्य चित्र कितना सुन्दर है । रावण सीता से कहता है कि "हे कंचन के समान कान्तिवाली ! पीत परिधान धारण करने वाली तुम कौन हो ? हे शुभानने । पुष्करिणी के समान मंगलमयी, कमलो की माला को धारण किए हुए तुम गौरी, श्री, कीर्ति, कल्याणमयी, लक्ष्मी अथवा कोई अप्सरा हो ।..... ... वढ़े हुए गोल, सटे हुए पीन, कुछ हिलते हुए, उन्नत अग्र भागवाले, कान्त, स्निग्ध और तालफल के सदृश ये तुम्हारे मणियों के आभूपणो से विभूपित सुन्दर पयोधर हैं । सुन्दर मुस्कान वाली, सुन्दर दाँतो और नेत्रों वाली हे विलासिनी ! तुम मेरा मन उसी प्रकार हर रही हो, जैसे जल नदी के किनारों को हरता है ।"[4]

सीता-सौन्दर्य के सम्वन्ध में कही हुई यह उक्ति अत्यन्त स्वाभाविक तथा सौन्दर्य के सूक्ष्म स्वरूप की परिचायक है । इसी प्रकार अन्य वहुत से स्थलो पर नारी सौन्दर्य का सूक्ष्म विवेचन उभरकर आया है ।[5]

निष्कर्पात्मक रूप में रामायण के श्रृंगार के विपय मे यह वात प्रमाणित हो जाती है कि दाम्पत्य जीवन में नारी और पुरुप के प्रणय की उत्कृष्टता सीता और राम के आदर्श प्रेम द्वारा अनायास ही सामने आती है जो कि इस युग की अपनी विशेपता है । अतः रामायण मे श्रृगार के सयोग पक्ष का चित्रण मर्यादा के साथ अंकित है, जिसमें गति तो है किन्तु अश्लीलता नही है । वियोग के चित्रों के विपय

---

१. ददर्श पर्णशालां च रहिता सीतया तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ।।
रुदन्तमिव वृक्षैश्चम्लानपुष्पमृगद्विजम् ।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं सन्त्यक्तं वनदेवतैः
वाल्मीकि रामायण—अरण्यकाण्ड–सर्ग ६१ । ५–६

२. वही—सर्ग ६१ । १२—१५

३. वाल्मीकि रामायण–सुन्दरकाण्ड–सर्ग २५ । १४–१५

४. रामायण—अरण्यकाण्ड–सर्ग ४६ । १५–२१

५. उदाहरणार्थ कुश नाभ की कन्याओं का सौन्दर्य निरूपण, वालकाण्ड ३२ । १२ । १५
एवं अयोध्या के स्त्री–पुरुपों का वर्णन—वालकाण्ड ६ । ८ : १०

में तो कुछ कहने की बात ही नही । उनमे जितनी मार्मिकता छिपी है, वह सचमुच कवि की मौलिक सूझ है । नारी-सौन्दर्य में भी कवि संयमित ही रहता है, उसे वासना मूलक न बनाकर शुद्ध प्रणय से सम्बन्धित कर देता है, जैसा कि सीता के उक्त सौन्दर्य चित्रण से विदित हो जाता है ।

महाभारत युग मे श्रृंगार

महाभारत मे यद्यपि रामायण युग की अपेक्षा नीति बन्धन अधिक शिथिल हो गये थे किन्तु इस युग मे भी अधिकतर धार्मिक भावना ही प्रधान रही। महाभारत के अन्तर्गत कई स्थानो पर श्रृंगार के सूत्र दाम्पत्यजीवन को साथ लेकर चले हैं। उदाहरण के लिए शकुन्तला का दुष्यन्त के समक्ष दाम्पत्य जीवन मे नारी के महत्त्व प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त प्रस्तुत कथन दर्शनीय है--

"प्रवास मे दीन दुखी मनुष्य, जिन्होने मलीन वस्त्रो को धारण कर रखा है, वे भी अपनी पत्नी को प्राप्त कर उसी प्रकार सन्तुष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार दरिद्र व्यक्ति धन के लाभ होने पर।"[1]

महाभारत म यो तो दाम्पत्य जीवन की सवेदना से अनुप्राणित बहुत से स्थल हैं, किन्तु प्रेम की सवेदनाओं मे पोषित श्रृंगार की छटा नल--दमयन्ती के प्रसग मे बडी ही सुन्दरता के साथ अंकित है।[2] यहाँ नारी और पुरुष के पूर्वानुराग तथा सयोग और वियोग के अन्तर्गत पनपती हुई श्रृंगारिक भावना अत्यन्त सुन्दर ढग मे विकसित हुई है। प्रेमी और प्रेमिका का प्रेम दुर्भाग्य एव परिस्थितिवश वियोग की अग्नि मे तपकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है।[3]

महाभारत मे सयोग वियोग के साथ ही सौन्दर्य के चित्र इतने हैं कि अनायास ही यह पता चल जाता है कि उस युग मे 'नायिका के नखशिख वर्णन' की प्रवृत्ति काव्यात्मक रूप मे विस्तार ले चुकी थी। ऋषि ऋष्यश्रृंग को लुभाने के लिए राजा लोमपाद द्वारा प्रेषित रूपाजीवा के अंग-प्रत्यंग का सौन्दर्य बडा ही स्वाभाविक है।[4]

---

१ विप्रवासकृशा दीनानरा मलिनवासस ।
तेऽपि स्वदारास्तुष्यति दरिद्रा धनलाभवत् ।
महाभारत-आदिपर्व-सम्भव पर्व, दुष्यन्त आख्यान, अध्याय—७४, पृ ३०५

२ वही—वन पर्व-नलोपाख्यान पर्व-अध्याय ५२

३ महाभारत—वन पर्व-नलोपाख्यान पर्व—अध्याय ५२ । ७९

४ सा कन्दुकेनारमतस्य मूले विभज्यमाना फलितालतेव ।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा समाश्लिपच्चा सकृदृश्यशृङ्गम् ।
सजनिशोकास्तिलकाश्च वृक्षान् सपुष्पितानवनाम्यावभज्य ।
विलज्जमानेव मदाभिभूता प्रलोभयामास सुत महर्षे
महाभारत वन पर्व-अ १११ । १६-१७

महाभारत के अन्तर्गत उर्वशी, मेनका इत्यादि अनेक नारियों के सौंदर्य चित्रण के माध्यम से सौन्दर्य का सूक्ष्म अवलोकन किया गया है। उदाहरणार्थ अर्जुन के पास जाती हुई उर्वशी के सौन्दर्य को सूक्ष्म दृष्टि से परखा गया है, तभी तो उसके हाव भाव और अंग प्रत्यंगों के उभार का चित्रण बड़ा ही मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है।[1]

संक्षेप में, महाभारत में श्रृंगार का चित्रण दामपत्य एवं स्वतंत्र दोनों रूपों में अंकित है। विशेष रूप से वहाँ प्रेम का स्वरूप धार्मिकता के तानों बानों से बँधा हुआ है। अतः प्रेमियों में वहाँ ध्येय परायणता एवं प्रेम की उत्कृष्टता अनायास ही दृष्टिगत होती है। इस युग के कवि द्वारा नारी के अंग-प्रत्यंगों अथवा नखशिख एवं लावण्य का विभिन्न अलंकारों से पूर्ण चित्रण का केवल प्रतिफलन ही नहीं है अपितु विकसित रूप में बाह्य तथा हृदय निगूढ़ अनुभूतियों का सरस उद्घाटन करने वाला और हृद्य स्वरूप भी है। यही स्वरूप कालिदास एवं अमरुक जैसे कवियों की लेखनी का प्रश्रय प्राप्त कर निखर उठा।

पुराण-साहित्य में श्रृंगार

पुराणों का निर्माण पुरातन वैदिक धर्म को स्थिर रखने के उद्देश्य से तथा उसमें नवीन सुधार लाने के लिये महर्षि व्यास ने किया था।[2] अतः इन ग्रंथों में मुख्य रूप से धार्मिक दृष्टिकोण को ही प्रधानता रही, फिर भी इनमें श्रृंगारिक छटा स्थान-स्थान पर विद्यमान है। इन ग्रंथों की संख्या अठारह है, किन्तु विस्तार भय के कारण यहाँ कुछ ही ग्रंथों की चर्चा की जायगी जिससे पुराण-साहित्य में अभिव्यक्त श्रृंगार-भावना की प्रातिनिधिक रूपरेखा मिल सकेगी।

सर्वप्रथम यहाँ 'अग्निपुराण' को लिया जा सकता है क्योंकि यही ऐसा पुराण है जिसमें काव्य के लक्षणों के साथ श्रृंगार को आदि रस के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि यह पुराण शिव, श्रीमद्भागवत् आदि पुराणों की अपेक्षा बहुत कुछ बाद में लिखा गया, किन्तु श्रृगार के स्वरूप को लाक्षणिक रूप में सर्वप्रथम स्थिर करने के कारण इसे सर्वप्रथम ग्रहण करना आवश्यक है। अतः श्रृंगार की उत्पत्ति के विषय में अग्नि-पुराण ने अपना दृष्टिकोण देते हुये कहा है कि 'जो अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज और विभु है, उसका सहज आनन्द कभी-कभी प्रकट हो जाता है। यह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार और रसमय होती है। उसके आदि विकार को अहंकार कहते हैं। उसके अहंभाव से अभिमान 'ममता' का आविर्भाव हुआ, जो भुवन में व्याप्त है। ममता संकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति हुई, यही रति 'श्रृंगार रस' की जननी

---

१. महाभारत–वन पर्व–अध्याय ४३। ७-११

२. संस्कृत साहित्याचा सोपपतिक इतिहास (मराठी) डॉ० करम्बेलकर, पृष्ठ ६६ (प्रथम संस्करण)

है। बाद में 'राग' और 'रति' से शृंगार की तथा शृंगार की तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की तथा संकोच से वीभत्स की सृष्टि हुई। फिर शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत, वीभत्स से भयानक का आविर्भाव हुआ।"[1]

अग्निपुराण शृंगार का विशद एवं शास्त्रीय रूप उपस्थित करता है। अन्य पुराणों में स्थान-स्थान पर शृंगार के संयोग एवं वियोग पक्ष की सुन्दर व्यंजना विद्यमान है। विष्णु, श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेय, शिव, मत्स्य, इत्यादि समस्त पुराणों में प्रसंगानुसार शृंगार के अनेक चित्रों की परिकल्पना की गयी है। विष्णु-पुराण के अंतर्गत नृप तृणबिन्दु और अलम्बुषा नामक अप्सरा के प्रेम विवाह[2] से एक ओर शृंगार की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का पता लगता है तो दूसरी ओर अप्सराओं के प्रणय की सीमा का विस्तार मानवी भूमि तक फैलने से प्रेम के उस उज्ज्वल स्वरूप की पुष्टि भी हो जाती है जबकि प्रेमी अपने दूसरे प्रेमी के प्रेम में विभोर होकर उच्च से उच्च स्थान का भी परित्याग कर सकता है।

'श्रीमद्भागवत् पुराण' के अंतर्गत अनेक प्रेम कथाएँ अनुस्यूत हैं, किन्तु इसके दशम स्कन्ध में भक्ति और शृंगार का उत्कृष्ट संयोग है। अतः शृंगारिक दृष्टि से इसका दशम-स्कन्ध तो मानो प्राण है। गोपियाँ अपने प्रिय कृष्ण के चरण-कमलों पर अपना सब कुछ निछावर कर चुकी हैं। गोपियों की संयोग तथा वियोग दोनों प्रकार की अवस्थाओं का भागवत्कार ने अत्यन्त सुन्दर निदर्शन किया है। कवि ने गम्भीर प्रसंग को भी ललित बनाकर गीतों के माध्यम से गढ़ने की चेष्टा की है। अतः वेणु गीत, गोपी-गीत[3] इत्यादि ललित प्रसंग कवि के वाग्-चातुर्य द्वारा इस ढंग से अंकित हुये हैं कि रसिकों के हृदय में अनायास ही सुधामयी-स्रोतस्विनी अविरलगति के साथ प्रवाहित होने लगती है।

वियोग के प्रसंगों में मार्मिकता तथा करुणा का सुन्दर संयोग है। भ्रमरगीत के अन्तर्गत कृष्ण के विरह में गोपियों की व्यथा काव्य-रसिकों को अपार करुणा की

---

१ अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्, आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते सद्‌दाव्ययम्
व्यक्तिः सातस्य चैतन्य चमत्काररसाह्वया, अधस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इतिस्मृत
ततोभिमानस्तनेद समाप्त भुवनत्रयम्, अभिमानाद्रति सा च परिपोष मुपेयिषु,
रागद्भवति शृंगारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते, वीरोवष्टम्भज संकोच भूर्बीभत्स इष्यते
शृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः
वीराद्‌दद्भुत निष्पत्ति स्याद्वीभत्साद् भयानक ॥
अग्निपुराण – अध्याय ३९, श्लोक ३३, ६

२ विष्णुपुराण– ४ । १ । ४८

३ श्रीमद्भागवत्– स्कन्ध– दशम्– ९५ । १५, २१ इत्यादि

धारा में निमज्जित कर देती है। गोपियों ने जिस कृष्ण के साथ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ायें कीं, उसे भला किस प्रकार भूल सकती है। अतः एक भौंरे को उड़ता हुआ देखकर उसे कृष्ण का प्रतीक मानकर उपालम्भ देती हुयी कहती हैं कि– "अरे धूर्त के साथी भ्रमर तेरी मूँछें मेरी सौत के स्तनों पर पड़ी हुई माला में लगे हुए कुंकुम से लिप्त हैं, उनसे तू हमारे चरणो का स्पर्श मत कर। ऐसा क्षणिक प्रेमी तू जिनका दूत है, वे मधुपति श्रीकृष्ण अपनी मानिनियो का यह प्रसाद, जो यादवो की सभा में उपहास पाने योग्य है, अपने पास ही रक्खें।"[1]

श्रीमद्भागवत के समस्त प्रसंग रमणीय हैं। यह पुराण अकेला ही समस्त पुराणों का प्रतिनिधित्व करता है, जैसा कि बलदेव प्रसाद उपाध्याय के कथन से विदित हो जाता है– संस्कृत के वाङ्मय का भागवत् एक अलौकिक रसमय प्रतिनिधि है, वाङ्मय को विविध प्रकारो– वेद, पुराण तथा काव्य का श्रीमद्भागवत् अकेले ही बोधन कराता है अर्थात् यह शब्द प्रधान वेद के समान आज्ञा देता है तथा रस प्रधान काव्य के समान यह रसामृत से श्रोताओं और पाठकों को मुग्ध बना देता है। अतः एक होने पर भी यह त्रिवृत्त है– त्रिगुणों से सम्पन्न है।"[2]

'मार्कण्डेय पुराण' के अन्तर्गत भी शृंगार के अनेक प्रसग विद्यमान है किन्तु वहाँ सबसे अधिक मार्मिक प्रसंग कुवलयाश्व और मन्दालसा का है। मन्दालसा और कुवलयाश्व या ऋतध्वज का एक दूसरे को देखकर आकर्षित होना[3] मन्दालसा के गायब होने के पश्चात् पुनः प्राप्ति पर मिलन-प्राप्ति से कुवलयाश्व (ऋतध्वज) की विह्वलता,[4] इत्यादि प्रसंगों में जहाँ विरह की मार्मिक अनुभूति है, वहीं संयोग की दृष्टि से भी मन्दालसा और कुवलयाश्व (ऋतध्वज) के मिलन प्रसंग बड़े ही सजीव हैं–यथा– "दोनों (मन्दालसा और कुवलयाश्व) ने वन, उपवन आदि में बहुत समय विहार किया, मन्दालसा भी कामोपभोग द्वारा वासना सहित सुन्दर कान्तियुक्त ऋतध्वज के साथ विविध मनोहर स्थानों में विहार करने लगी, इस प्रकार बहुत काल व्यतीत हो

---

१. मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमाला कुंकुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसाद
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक ॥ भागवत्– १०।४७।१२

२. पुराण–विमर्श–बलदेव उपाध्याय (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ६०२

३. मार्कण्डेय पुराण– खण्ड १ –कुवलयाश्व –मन्दालसा आख्यान –अध्याय १९ (सम्पा० : पं० श्रीराम शर्मा आचार्य– सं० १९६७)

४. वही– अध्याय २२।४०, पृष्ठ २९८

गया ।[1]

'शिव-पुराण' के अन्तगत सती खण्ड मे शिव तथा सती विहार[2] मे शृगार का सयोग पक्ष बडे ही सुन्दर ढग से उभरकर आया है । पार्वती खण्ड के अन्तर्गत कामदेव द्वारा शिव और पार्वती के मन मे विकार भरने पर दोनो के आकर्षण का सजीव चित्र उभरकर आया है ।[3] इन स्थलो मे सयोग शृगार की उद्दीप्त दशाओ की परा काष्टा विद्यमान है । पार्वती खण्ड मे ही अध्याय २२ से अध्याय २३ तक शिव प्राप्ति के लिए विह्वल हृदया पार्वती की तपस्या, जटी के साथ सवाद, सप्तर्षियो का आगम एव उनके प्रयत्न से शिव द्वारा विवाह की स्वीकृति आदि विषयो को अत्यन्त विस्तार तथा विशदता के सहित ग्रहण किया गया है । इन स्थलों पर शृगारिक हाव-भाव एव उनके अनुभाव तथा सयोग और वियोग पक्ष की सुन्दर व्यजना विद्यमान है ।

'मत्स्य पुराण' के अन्तर्गत भी विरह विह्वला उमा को शिव प्राप्ति के लिए तपस्या का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4] इस प्रसग म प्रणय के अन्तर्गत एक ओर प्रेम की अनन्यता विद्यमान है तो दूसरी ओर यह बात भी पुष्ट हो जाती है कि नारी को उमा के समान घोर तपस्या करनी चाहिए तभी उसे योग्य वर की प्राप्ति हो सकती है ।

'ब्रह्माण्ड पुराण' के अन्तगत पाण्ड और उनकी पत्नी का शृगार दाम्पत्य की परिधि मे बँधा हुआ है । इस प्रसग मे प्रणय की अनन्यता तथा एकरूपता विद्यमान है । यही कारण है कि पाण्डु अपनी पत्नी पुण्डरी को प्राणो से अधिक प्रिय समझते हैं ।[5]

---

१ ध्वनध्वजरथर्षुचिरतयारेमेसुमध्यया ।
निर्झरेषु च शैलानानिम्नगापुलिनेषु च ॥ ४ ॥
काननेषु च रम्येषुवनेषूपवनेषु च ।
पुण्यक्षयवाढमानासापिकामोपभोगत ॥ ५ ॥
मार्कण्डेय पुराण—सम्पादक प० श्रीरामशर्मा आचार्य—स० १९६७
अध्याय २३ । ४-५

२ शिव पुराण—सम्पादक श्रीराम शर्मा आचार्य—(प्र० स०) सती खण्ड, श्लोक ६८-७०, पृ० २३९

३ वही–पृ० २३८–२३९ ।

४ मत्स्य पुराण–१५४ । २९० । २९४–३०१–३०८–३०९ ।

५ ज्यायसी च सुता तेषा पुण्डरीका सुमध्यमा ।
जननी सा द्युतिमत प्राणस्य महिषी प्रिया ।
ब्रह्माण्ड पुराण–२।११।४० ।

नारी-सौन्दर्य के चित्र भी पुराणों मे यत्र-तत्र दृष्टिगत हो जाते हैं । उदाहरणार्थ मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत मंदालसा के रूप-सौदर्य के प्रस्तुत चित्र को लिया जा सकता है । इस वर्णन में नारी के नखशिख सौदर्य के वर्णन की रुचि का समावेश है । यथा--

"उस (मंदालसा) के नख लाल रग के कुछ ऊँचे, देह-कोमल, नवीन-अवस्था, हाथ पांव के तलुए लाल रंग के, दोनों उरु गज-शुण्ड के समान, सुन्दर दशनावली और अलकें नीलवर्ण की थीं ।"[1]

शिव पुराण के अन्तर्गत शिव द्वारा पार्वती के मुख को चंद्रमा के तुल्य तथा नेत्रों को पूर्ण विकसित कहकर प्रशंसा करने से, नारी के रूप सौदर्य की परिपाटी का पता अनायास ही चल जाता है ।

अन्त में उपर्युक्त पुराणों के कुछ प्रसंगों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि पराणों में शृंगार की छटा विपुल मात्रा में विद्यमान है, किन्तु इससे इन ग्रंथों की धार्मिक भावना ही अधिक पुष्ट होती है ।

पुराणों के यत्र-तत्र शृंगारिक प्रसंगों से उनके काव्यात्मक स्वरूप की भी अभिव्यक्ति होती है, जिससे इनके विषय मे कहा जा सकता है कि पुराण साहित्य जितना धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है उतना ही काव्यात्मक दृष्टि से भी है । विशेष रूप से यह बात उल्लेखनीय है कि धार्मिकता के परिवेश में बँधे रहने पर भी पुराणों के अन्तर्गत शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का पूर्णरूप से निर्वाह हुआ है।

कालिदास के साहित्य में शृंगार

कालिदास के आविर्भाव से पूर्व कामसूत्र की रचना हो चुकी थी, तथा इससे वेश्याओं को भी नायिका पद की प्राप्ति होने लगी थी, जिससे कालिदास की रचनाओं में शृंगार की रसिकता प्रधान वृत्ति सम्यक् रूप मे उभरकर,हमारे सामने आती है । डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त ने इस समय का चित्र उभारते हुये कहा है कि–"कुलटाओं और वेश्याओं को भी इतना ही सम्मान मिलने,लगा–जितना सद्गृहिणियों को मिलता है । भास ने अपने 'चारुदत्त' में वेश्या को नायिका पद दिया तो दूसरी ओर कामसूत्रकार ने भी इनका विवेचन सम्मानपूर्वक करते हुए बताया है कि एक सज्जन व्यक्ति को इन्हें किस प्रकार आदर की दृष्टि से देखना चाहिए । ऐसे रसिकतापूर्ण समाज में प्रेम एकोन्मुखी न रहकर अनेकोन्मुखी हो गया । कालिदास की रचनायें शृंगार के

---

१. रक्ततुंगनखांश्यामांमृदुताम्रकारांध्रिकाम् ।
करभोरु सुदशनांनीलसूक्ष्मस्थिरालकाम् ॥
मार्कण्डेय पुराण–अध्याय १९।१८, पृ० २५७।५८

इसी रसिकता प्रधान रूप को प्रस्तुत करती हैं।"[1]

कालिदास की प्रमुख रचनायें 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'मेघदूत', 'ऋतुसंहार', 'मालविकाग्निमित्र', 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' हैं। इनमें प्रथम चार तो काव्य और शेष तीन नाटक हैं। इनके अन्तर्गत रघुवंश को छोड़कर शेष सभी मे शृंगार रस का ही प्राधान्य है। यहाँ इस बात का निर्देश करना और भी अधिक उपयुक्त है कि कालिदास के नाटको म काव्यात्मक तत्त्वो की प्रधानता है, इसीलिए काव्यों के साथ-साथ उनको भी लेना अत्यन्त आवश्यक है।

कालिदास ने अपने काव्यो मे अधिकतर भाव पक्ष पर जोर दिया है। अत काव्य की समस्त स्वाभाविकता के साथ ही प्रेम पक्ष की व्यंजना शृंगार की रसिकता पूर्ण दृष्टि से समन्वित होते हुए भी माधुर्य पूर्ण है। उनके समस्त चित्र भावना के रंगो द्वारा रंजित हैं। संयोग के समस्त चित्र अति-शृंगार युक्त तथा विलासमय होते हुए भी श्रेष्ठ काव्य गुण से ओत-प्रोत हैं। कुमारसम्भव मे शंकर और पार्वती की रति-क्रीडा की स्थूलता ही, मानो प्रकट हो गई है। आलिंगन, चुम्बन के साथ केलि का वहाँ खुलकर वर्णन है।[2] किन्तु प्रेम भावना का भी वहाँ सर्वथा अभाव नही है। पार्वती अपने प्रिय के विरह मे इतनी पागल हो जाती है कि रात्रि मे सहसा शिव को स्वप्न मे देखकर जाग उठती है।[3]

रघुवंश के अन्तर्गत भी प्रेम की इसी उत्कृष्टता का स्वरूप सामने आता है। रघुवंश के प्रेम मे कवि ने अधिक संयम से कार्य किया है। प्रियतम अज द्वारा हाथ थामने पर प्रियतमा इन्दुमती के हाथो मे प्रस्वेद की उत्पत्ति,[4] एव इससे पूर्व इन्दुमती मे आसक्त अज की आँखो मे निद्रा का न आना,[5] इत्यादि अनेक चित्र संयमित ढंग से अंकित हैं। उन्नीसवें सर्ग मे अग्निवर्ण की कामुकता के वर्णन द्वारा यह निर्देश किया गया है कि शृंगार के पवित्र स्वरूप के लिए प्रणय की उत्कृष्टता आवश्यक है, कोरी विषय वासना उचित नही है।

कालिदास के इन दोनो महाकाव्यो पर दृष्टिपात करने से पता चल जाता है,

---

१. हिन्दी काव्य मे शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी--
लेखक डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ० ९४ (प्र० स०) १९५९।

२ कुमारसम्भव--आठवाँ सर्ग--श्लोक ४, ११ इत्यादि।

३ त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसाव्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना॥५७॥
कुमारसम्भव--सर्ग ५

४ रघुवंश--सर्ग ७।२२।

५. वही सर्ग ५।६४।

कुमारसम्भव में जहाँ सम्भोग चित्रों मे अतिरंजित शृंगार को मान्यता दी गई है, वही रघुवंश में सम्भोग शृंगार की उज्ज्वलता सामने आती है। विरह के चित्रों की व्यंजना दोनों ही काव्यों में उत्कृष्ट प्रेम की अभिव्यक्ति देती है।

मेघदूत में व्यथा की अग्नि में जलकर यक्ष के प्रेम की शुद्धता दृष्टिगत होती है। इस काव्य को यद्यपि विरह के रंगों से रजित करते हुए कवि को प्रेम के सौदर्य को उभारना चाहिए था, किन्तु बीच में सम्भोग शृंगार की कल्पना[1] से काव्य के अन्तर्गत रस की धारा कुछ कुण्ठित स हो जाती है। फिर भी यह स्वीकार्य सत्य है कि मेघदूत में भावनाओं की संवेदना है, क्योंकि प्रकृति भी यक्ष के अन्तःकरण की संवेदना के साथ अपनी अश्रुधारा प्रवाहित करती है, जिसमे मेघदूत के अन्तर्गत प्रेम की उत्कृष्टता का भी पता चलता है।

'ऋतुसंहार' कालिदास का लघु शृगारिक काव्य है। इसमें कवि ने ग्रीष्म से लेकर वसन्त ऋतु तक क्रमशः छहों ऋतुओं का चित्रण किया है। इसके समस्त चित्र संयोग और वियोग के स्वरूप तथा ऋतु विशेष के अनुकूल वस्त्रों का भी उल्लेख करते हुये प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि 'ऋतुसंहार' में मानव जीवन विशेषकर प्रेमीजनों के साथ ही प्रकृति ताल मिलाकर चलती है। इसका कोई भी सर्ग ऐसा नही जहाँ प्रकृति की यह विशेषता न हो। उदाहरण के लिए 'वसंत ऋतु' के चित्र में कवि ने वसत की मादकता का वर्णन करते हुए जहाँ वृक्षों पर पुष्पों के आच्छादन तथा जल मे कमलों के विकास का चित्र खीचा है, वहीं स्त्रियो के सकाम होने का भी संकेत कर दिया है।[2]

कालिदास के नाटको मे भी शृगारिक रूप से महाकाव्यों की दृष्टि ही उभर कर आई है। अभिज्ञानशाकुन्तल मे दुष्यन्त की दृष्टि शकुन्तला के सौदर्य को वासनात्मक रूप में ही निहारती है।[3] पूर्वानुराग के पश्चात् संयोग के सुख की स्पृहा एवं वियोग का सामंजस्य भी इस काव्य मे बड़ी चतुराई के साथ अकित है।[4]

मालविकाग्निमित्र में राजा अग्निमित्र की वासना मालविका के साथ अनुराग को लेकर व्यक्त होती है। अन्त.पुर में अनेक स्त्रियों के होते हुए भी उसकी दृष्टि कुमारी मालविका के रूप सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो जाती है।[5] इतना अवश्य है कि इस नाटक में संयोग और वियोग का चित्र समानान्तर है। मालविका के हृदय में भी

१. मेघदूत—पूर्वमेघ—श्लोक १२।
२. ऋतुसंहार—षष्ठ सर्ग—श्लोक २।
३. अभिज्ञानशाकुन्तल—तीसरा अंक, श्लोक १५-२२।
४. वही—अंक २।११ तथा ३।८।
५ मालविकाग्निमित्र—अंक २।१३।

अग्निमित्र को देखकर प्रेम का बीजारोपण होता है ।[1] जिससे वियोग का 'पूर्वानुराग पक्ष' उभरकर सामने आता है । सयोग का चित्र रति क्रीडा की स्थूलता को लेकर लेकर ही चलता है, किन्तु उसमे भी माधुर्य है ।

विक्रमोर्वशीय नाटक मे उर्वशी और पुरूरवा का प्रेम अत्यन्त ही उत्कृष्ट रूप मे व्यजित हुआ है । इसमे शृगार के सम्भोग स्वरूप की स्थूलता नही है बल्कि प्रेमी और प्रेमिका की हृदयगत भावनाओ का समावेश है । प्रणय के प्रारम्भ, उसके विकास तथा मिलन एव वियोग इत्यादि की परिस्थितियाँ बडी ही कुशलता के साथ निरूपित हैं । एक ओर उर्वशी अपने प्रिय के लिए स्वर्ग का भी परित्याग कर देती है,[2] तो दूसरी ओर प्रेमी पूरूरवा चक्रवर्ती सम्राट होते हुए भी प्रिया को ढूँढने के लिए वन वन मे भटकता फिरता है ।[3]

कालिदास के समस्त काव्यो मे इस प्रकार जहाँ सयोग और वियोग की धारा का निरूपण परिस्थिति विशेष से अनुप्राणित है वही नारी सौंदर्य की भी सुन्दर छटा तरलता के साथ तरगित होती हुई दृष्टिगत होती है । विभिन्न नारियो के चित्र उनके साहित्य के अन्तगत विभिन्न रगो द्वारा रजित एव सुसज्जित हैं । राजकुमारी मालविका[4] तथा अलकावासिनी यक्ष-प्रिया[5] की शारीरिक शोभा का अकन अनेक सश्लिष्ट चित्रो से युक्त है । कालिदास ने राजकुमारियो के चित्रण के साथ ही वल्कल धारिणी-शकुतला[6] के चित्रा मे भी अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की है । कालिदास की दृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि वह स्थूल-अगो के अवलोकन के साथ ही उनकी गति-विधियो को भी गम्भीरता मे दृष्टिगत करती है । उन्होने यौवन मे पदार्पण करने पर नारी के अगो के परिवर्तनो के साथ ही नेत्रो की चचलता, अधरो की स्मिति, स्तनो की प्रफुल्लता, नितम्बो की स्थूलता एव गति की मदता इत्यादि को पार्वती के नखशिख सौन्दर्य[7] के माध्यम से सुन्दर ढग से उन्मीलित किया है । वे नवयुवतियों की लज्जा-मिश्रित मुद्राओ तथा अनुरागजन्य चेष्टाओ[8] के चित्राकन मे भी बडे ही सिद्ध-हस्त हैं ।

---

१ मालविकाग्निमित्र—अक २।१४ ।
२ विक्रमोवशीय—अक ३ ।
३ वही—अक ४ ।
४ मालविकाग्निमित्र—अक २।३ ।
५ मेघदूत-उत्तर मेघ—श्लोक ८२ ।
६. अभिज्ञानशाकुन्तल-प्रथम अक—श्लोक १९ ।
७ कुमारसम्भव—सर्ग १, श्लोक ३०-४८ ।
८ अभिज्ञानशाकुन्तल—अक दूसरा—श्लोक ११-१२ ।

यद्यपि कालीदास के काव्यों में यौवन तथा सौन्दर्य की अक्षय निधि का समावेश है किन्तु उनकी अतिरसिकता सौन्दर्य में अश्लीलता उत्पन्न कर देती है। जैसे बरात देखती हुई सुरवधुओं के हाथ के कंगन के प्रकाश में नाभि देखने की चेष्टा[1] तथा गम्भीरा नदी की विवृत जघना बाला के रूप में अभिव्यक्ति[2] इत्यादि चित्रों मे अतिरसिकता के कारण पाठक भी आश्चर्य चकित हो जाता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि कालिदास का साहित्य दाम्पत्य-जीवन की परिधियों में बँधा होने पर भी निरंकुशता से युक्त है। कुमारसम्भव में पार्वती का नखशिख, शंकर-पार्वती विलास, मेघदूत में नदियों का वर्णन, ऋतुसंहार में ऋतुचित्र, शाकुन्तल में दुष्यन्त की कामुक दृष्टि-मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र का मालविका के प्रति आकर्षण–इत्यादि स्थलों से विदित हो जाता है कि कालिदास ने केवल प्रणय की श्रेष्ठता को ही नही उभारा बल्कि शृगार की अतिरंजिता को भी विशेषकर उन्मीलित किया है।

अश्वघोष के साहित्य में शृंगार

अश्वघोष का युग लगभग कालिदास के समानान्तर ही माना जाता है। उनके दो महाकाव्य हैं–बुद्धचरित और सौन्दरनन्द। बुद्धचरित का अवलोकन करने पर पता चल जाता है कि इसमें शृंगारिका उभरकर नहीं आई। इसमें कुछ शृंगारिकता है भी तो वह राजकुमार सिद्धार्थ की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के प्रसंगानुरूप ही है। 'सौन्दरनन्द' में नन्द और सुन्दरी के संयोग और वियोग के चित्र अत्यन्त ही स्वाभाविक बन पड़े है। सुन्दरी और नन्द के संयोग का एक चित्र दर्शनीय है–– "उनकी आँखें एक दूसरे को देखने में लीन थी, उनके चित एक दूसरे के साथ बातें करने में व्यस्त थे और एक दूसरे का आलिंगन करते-करते उनका अंगराग मिट गया था, इस प्रकार उस जोड़ी ने एक दूसरे को आकृष्ट किया।[3]

विरह के चित्र अत्यन्त सजीव हैं। नन्द के चले जाने पर सुन्दरी की व्यथा का चित्र कितने नाटकीय ढंग से उभरकर आता है। यथा––

वह रोई, कुम्हलाई, चिल्लाई, इधर-उधर घूमी, खड़ी रही, विलाप करने लगी, चिन्तित हुई, रोष किया, मालाओं को बिखेरा, ओठ काटे, वस्त्र फाड़ने लगी।[4]

---

१. कुमारसम्भव–सर्ग ७–शिव बारात प्रवेश प्रसंग।

२. मेघदूत–पूर्वमेघा–श्लोक ४४-४५।

३. परस्परोद्वीक्षणतत्पराक्षं परस्परव्याहृतसक्तचित।
परस्पराश्लेषहृताङ्गरागं परस्परं तन्मिथुनं जहार॥ सौन्द० सर्ग ४।९।

४. रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार रोष विचकार माल्यं चकर्त वक्त्र विचकर्ष वस्त्रं॥
सौन्द० सर्ग–६।३४

कवि ने नारी-सौन्दर्य के चित्रों में बड़ी ही स्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है। बुद्धचरित[1] और सौन्दरानन्द[2] दोनों में ही नारी सौन्दर्य को स्वाभाविकता प्रदान की गई है।

संक्षेप में अश्वघोष के काव्यों पर विहंगम दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि दाम्पत्य जीवन के आँचल का स्पर्श करती हुई प्रेम की अनुभूति विरह जनित करुणा तथा संयोग की मधुर केलियों के तीव्र भावोद्वेग को लेकर गीतों के माध्यम से कवि हृदय से बरबस ही फूट निकलती है, साथ ही नारी-सौन्दर्य के चित्रों में अत्यन्त स्वाभाविकता तथा गति का समावेश है।

विशेष बात यह भी है कि अश्वघोष ने अपने काव्यों का निर्माण धार्मिकता की की पृष्ठभूमि का निर्माण करने के लिए किया। अतः शृंगार की नींव पर धार्मिक स्वरूप की भित्ति यहाँ खड़ी हुई दिखाई देती है।

भारवि, माघ, विल्हण, श्रीहर्ष के महाकाव्यों में शृंगार

कालिदास और अश्वघोष के पश्चात् संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों में लालित्य की प्रधानता प्रायः समाप्त हो जाती है। भाव पक्ष के स्थान पर कला पक्ष अधिक प्रधान हो जाता है। इस युग के अधिकतर कवि ऐसे हैं जिन्होंने कवित्व के साथ-साथ ही पाण्डित्य प्रदर्शन पर विशेष बल दिया है। इस युग में यों तो अनेक कवियों का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु मुख्य रूप से यहाँ महाकाव्य के रचयिताओं में भारवि, माघ, विल्हण तथा श्रीहर्ष ही आ सकते हैं, क्योंकि इनकी रचनायें अपने युग का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हैं।

भारवि का महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' यद्यपि वीर रस प्रधान है किन्तु इसमें शृंगार के संयोग पक्ष के चित्र बड़ी स्थूलता के साथ उभरकर आये हैं। देवता और देवांगनाओं का वारुणी पीकर संभोग-क्रिया में संलग्न होने के चित्र[3] सहज ही रूप में यहाँ अंकित हैं, इसी प्रकार मानवती[4] तथा खण्डिता[5] आदि नायिकाओं के

---

१ उदाहरणार्थ-सर्ग ४। श्लोक ३३।

२ सुन्दरी रूप वर्णन-बड़ा ही मार्मिक है-यथा-
सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्री पद्मिनी नन्द दिवाकरेण।

सौन्दरनन्द-सर्ग ४।८।

३ किरातार्जुनीयम-नवम् सर्ग-श्लोक ६९ (घण्टा पथ हिन्दी व्याख्या-सहित-प्रथम संस्करण)।

४ वही-नवम् सर्ग-श्लोक ४८।

५. वही-श्लोक ३९, ४०, ४६ इत्यादि।

चित्रों का भी अंकन है। प्रियतम द्वारा रतिक्रीड़ा के समय प्रिया के शरीर पर दंत-क्षत[1] आदि चिह्नों का भी इसमें खुलकर चित्रण है।

अप्सराओ के सौन्दर्य वर्णन में उनके सविलास गमन से हंसों की गति, नितम्ब सहित जंघाओं के भार से पुलिनों को, विशाल नेत्रों में और मुखों से समानता न करने वाले कमलों को, तिरस्कृत करने की उक्तियों द्वारा[2] कवि ने परम्परागत एवं स्थूल सौन्दर्य चित्रण को ही लिया है।

माघ के 'शिशुपाल वध' में श्रृंगार और वीर दोनों रसों की प्रधानता है। भारवि के समान ही माघ के काव्य में भी संभोग और रति-केलि के चित्र स्थूल हैं।[3] जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि माघ के ऊपर पूर्णरूप से कामशास्त्रीय ग्रंथों का प्रभाव है। माघ ने वन-विहार, जल-विहार के साथ ही सद्य-स्नाताः, नायिकाओं के स्नान करते हुए उनके स्तनों की सुषमा[4] इत्यादि चित्रों में गहन रुचि का परिचय दिया है। उनके काव्यों में नारी के अंग प्रत्यंगों के जो भी चित्र उभरकर आये हैं, उनमें मादक उद्दीप्ति विद्यमान है।[5]

नायिका-भेद की दृष्टि से कवि ने खण्डिता, कलहांरिता, स्वाधीन-पतिका, प्रौढ़ा, मध्या[6] इत्यादि अनेक नायिकाओं का चित्रण किया है, जिससे प्रतीत होता है कि माघ जैसे महा कवियो पर उस समय प्रचलित नायिका-भेद के ग्रंथों का प्रभाव पड़ चुका था। विरह के चित्र भी कही-कही पर वर्तमान हैं जो परम्परागत होते हुए भी सुन्दर हैं। एक स्थान पर प्रोषित पतिका को उसके बन्धुओं द्वारा धैर्य बँधाने का वर्णन[7] सहज ही निरूपित हो गया है।

विल्हण के दो काव्य सामने आते हैं—पहला—विक्रमांकदेव चरितम् दूसरा-चौरपंचाशिका। 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य है तथा 'चौरपंचाशिका एक लघुकाव्य है। 'विक्रमांकदेवचरितम्' यद्यपि वीररस प्रधान काव्य है किन्तु उसमें राजा विक्रमांकदेव और राजकुमारी चन्दलदेवी की कथा का सुन्दर निरूपण है। अतः इसके

---

१. किरातार्जुनीयम्-नवम् सर्ग श्लोक ६२ (घण्टा पथ हिन्दी व्याख्या-सहित-प्रथम संस्करण)

२. वही—सर्ग ८-श्लोक २९।

३. शिशुपालवध—सर्ग १०-श्लोक ६४, ७५ इत्यादि।

४. वही—सर्ग ७।२१, २२, सर्ग ८।३२, सर्ग ८।५३।

५. वही—सर्ग ९।८६।

६. वही—सर्ग ७।११, १४, १५, ३२, ३८।

७. वही—सर्ग ६।१७।

अन्तर्गत शृंगार के संयोग,[१] वियोग[२] तथा चन्दलदेवी–नायिका का नखशिख सौन्दर्य[३] के अनेक चित्र वर्तमान हैं। परम्परानुसार कवि ने यत्र-तत्र खण्डिता, मानवती, अभिसारिका इत्यादि नायिकाओ के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। कवि ने समस्त चित्रो मे संयम से काम लिया है। अत इनमे अधिक स्थूलता नही आई है।

महाकवि श्रीहर्ष द्वारा रचित नैषधकाव्य अत्यन्त ही महत्वपूर्ण काव्य है जिसमे प्रारम्भ से अन्त तक शृंगार की धारा अबाध गति के साथ प्रवाहित होती हुई दृष्टिगत होती है। इस महाकाव्य मे शृंगार के विप्रलम्भ पक्ष का पहले निरूपण हुआ है तथा इसके पश्चात् संयोग अथवा सम्भोग शृंगार का निरूपण है। दमयन्ती, नल का प्रशंसा सुनकर पूर्वराग जन्य वियोग का अनुभव करती है[४] तथा नल भी दमयन्ती की प्रशंसा सुनकर उसके प्रति आकर्षण का अनुभव करता है।[५] संयोग के चित्र भी नैषधकार ने कामशास्त्र से प्रभावित होने के कारण रति-क्रीडा से समन्वित करते हुए ही अंकित किए हैं।[६] नखशिख सौन्दर्य मे कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियो का अनुकरण करते हुए दमयन्ती के अंग प्रत्यंग का चित्रांकन[७] कर दिया है।

अन्त मे भारवि, माघ बिल्हण और श्रीहर्ष महाकाव्यो का विहगावलोकन कर कहा जा सकता है कि कालिदास और अश्वघोष के पश्चात् लिखे गये लगभग समस्त काव्यो मे हृदय पक्ष अधिक प्रधान नही है, बल्कि वहा बुद्धि पक्ष की प्रधानता है। अत शृंगार के समस्त चित्र कलापक्ष की दृष्टि से सुन्दर हैं किन्तु उनमे हृदयपक्ष की अधिक प्रधानता होने से प्रेम का उत्कृष्ट रूप देखने को नही मिलता।

ये सभी काव्य कामसूत्र के ग्रंथो से अधिक प्रभावित होने के कारण रति-क्रीडा के स्थूल चित्रण मे ही अपना अधिक गौरव समझते हैं। भारवि से लेकर श्रीहर्ष तक समस्त कवियो की प्रवृत्ति शृंगार के अन्य पक्षो की ओर अधिक न रमकर सम्भोग के रति-क्रीडा के चित्रण मे ही अधिक रम सकी है।

नखशिख-चित्रण प्राय इन सभी काव्यो का प्राण है किन्तु नखशिख सौन्दर्य भी परम्परागत बनकर रह गया है, उसमे कोई विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती। नायिकाओ के विभिन्न भेद इन काव्यो म यत्र-यत्र निरूपित हैं जिससे ज्ञात होता है

---

१ विक्रमांकदेवचरितम्–सर्ग १० श्लोक ३२-५४।
२ वही–सर्ग ९, श्लोक ११-२३, ३०।
३ वही–सर्ग ११, श्लोक २४, २५, ७९, ८७, ९० इत्यादि।
४ नैषध महाकाव्य–प्रथम सर्ग-श्लोक ३४।
५ वही वही–श्लोक ४८।
६ वही –सर्ग ११०।२९-१२१।
७ वही –सर्ग २, श्लोक १८-४३ और सर्ग ७, श्लोक १०-१०५।

कि नायिका-भेद निरूपक ग्रंथों का प्रभाव इन कवियों पर विशेषरूप से पड़ा है।

मुक्तक एवं लघु-काव्यों में शृंगार

मुक्तक एवं लघु काव्यों की रचना अलंकारिक महाकाव्यों के समानान्तर ही हुई तथा इनके रचनाकार अधिकतर कामसूत्र ग्रंथो से प्रभावित रहे, इसीलिए इनमें शृंगार के आलम्बन एवं उद्दीपन-दोनों पक्षों का अनावृत रूप में वर्णन मिलता है। इनमें किसी कथानक विशेष का अभाव होते हुये भी विभिन्न नायक, नायिकाओं के बड़े ही सजीव चित्र उभरकर आए। यों तो इस युग में अनेक लघु शृंगारिक काव्यों की सर्जना हुई, किन्तु मुख्य रूप से कवि अमरुकृत अमरुशतक, भर्तृहरिकृत शृंगार-शतक, कवि बिल्हण की चौरपंचाशिका, दामोदर गुप्त कृत कुट्टनीमत एवं जयदेव कृत गीतगोविन्द–ये काव्य ही मुख्य रूप से परम्परा में आते हैं।

अमरुशतक

अमरुशतक के अन्तर्गत कोई कथानक विशेष नहीं है। इसमें केवल मुक्तकों के आधार पर विभिन्न प्रेमी और प्रेमिकाओं के चित्रों का ही आयोजन है। संयोग के अन्तर्गत सुरत का चित्रण खुले रूप में विद्यमान है[1], तथा वियोग के पूर्वानुराग, मान और प्रवास[2]–तीनो ही रूपों की सफल व्यञ्जना है। इस यग में साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत नायक-नायिका–भेद का पर्याप्त विवेचन होने के कारण अमरुशतक के मुक्तक भी उससे वंचित नही रहे। यही कारण है कि इसमें मुग्धा, प्रगल्भा[3] इत्यादि दयिताओं के साथ मानवती, खण्डिता, विरहणी, अभिसारिका, वासक-सज्जा[4] आदि नायिकाओं के चित्र बड़ी ही सफलता के साथ अंकित होते चले गये हैं। तात्पर्य यह है कि अमरुशतक में प्रेमियो की संयोग एवं वियोग की अवस्थाओं में उनके सौख्य, विषाद एवं कर्त्तव्य पराणता के वर्णन बड़ी ही सजीवता लिए हुए है।

शृंगार-शतक

शृगार शतक के मुक्तको में भर्तृहरि ने आन्तरिकता के स्थान पर वाह्यत्व की ओर ही अधिक संकेत किया है। इसमें नारी प्रशंसा के विभिन्न स्थलों द्वारा स्पष्ट है[5] कि कवि ने सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूलता पर ही अधिक बल दिया है। संयोगात्मक रूप में नववधू की लज्जा जनित रति के लिए स्वीकृत गर्भ निषेध[6] का भाव

---

१. अमरुशतक–श्लोक ३
२. वही –श्लोक २, ८, ८६ इत्यादि
३. वही –श्लोक ११, १२ इत्यादि
४. वही –श्लोक क्रमशः ७, ३९, १७, ९६, ३१, ४५
५. भर्तृहरि कृत–शृंगार शतक–श्लोक २३
६. शृंगार शतक–श्लोक २५

तथा रति क्रीडा[1] और नारी के अंग-प्रत्यंग का चित्रण[2] स्थूल रूप मे ही अभिव्यजित है। कवि ने यहाँ ऋतु-वर्णन को शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष की पुष्टि हेतु ही ग्रहण किया है।[3] अतएव इस छोटे से शतक को देखकर यह बात विदित हो जाती है कि कवि ने इसके अन्तर्गत शृंगार के समस्त पक्षो को समेट लिया। इसके वर्णन कामशास्त्रीय उक्तियो के समान होते हुये भी युग विशेष की शृंगारिक परम्परा में यथेष्ट योगदान देते हैं।

चौरपंचाशिका

बिल्हणकृत यह "चौरपंचाशिका" ५० छन्दो का लघु प्रणय-काव्य है, जिसमे कवि के ही जीवन की अनुभूति विद्यमान है। उसने अपनी प्रिया के साथ जिस संभोग-सुख की प्राप्ति की उसका ही स्मरण कर एक-एक चित्र अंकित किया है। इस छोटी सी कृति मे नखशिख, सुरत-व्यापार, कामशास्त्रानुसार रति-बन्ध, रति चिह्न[4] इत्यादि चित्रों का कवि की वियोगात्मक स्थिति मे समावेश है।

गोवर्धनाचार्य कृत आर्यासप्तशती

अमरुशतक के जिस प्रकार प्रत्येक मुक्तक मे शृंगार के स्वतन्त्र चित्रो की योजना विद्यमान है, उसी प्रकार आर्याकार के मुक्तको मे स्वतन्त्र एवं भिन्न-भिन्न चित्रो का आयोजन है। आचार्य गोवर्धन इस समय का ऐसा कवि है, जिसने अपना सीधा सम्बन्ध प्राकृतिक मुक्तक काव्य कवि हाल रचित "गाथा सप्तशती" से ही स्थापित किया। देव दम्पत्ति के शृंगार-वर्णन की परम्परा को अपनाते हुये आर्याकार ने मंगलाचरण मे ही पार्वती और लक्ष्मी की विपरीत रति का भी वर्णन कर दिया है।[5] इसके अतिरिक्त कवि ने परम्परानुसार नायक नायिका भेद तथा यत्र तत्र नारी-सौन्दर्य को बडी ही सुगमता पूर्वक व्यंजित किया है। परकीया नायिका द्वारा जार को चूमने की उक्ति,[6] विरहिणी की दशा,[7] नारी-सौन्दर्य मे स्वाभाविकता[8]

---

१ शृंगार शतक – श्लोक २६
२ वही – श्लोक ५
३ वही – श्लोक ३३, ३४ इत्यादि
४ चौरपंचाशिका – सम्पा श्री एस० एन० ताडपत्रीकर – संस्करण १९४६ ई० श्लोक १, ७, १२, ४८, १३ इत्यादि
५ आर्यासप्तशती – श्लोक १८, १४
६ वही – श्लोक २०२
७ वही – श्लोक ३२३
८ वही – श्लोक ४०

इत्यादि की योजना बड़ी ही सफलता पूर्वक हुयी है । इसी प्रकार खण्डिता, विप्रलब्धा कलहान्तरिता, प्रोपित पतिका, प्रवत्स्यत्पतिका, आगतपतिका, अभिसारिका इत्यादि अनेक नायिकाएँ यहाँ स्वयं ही प्रकट होती हुई दृष्टिगत होती है ।[1] अन्ततोगत्वा यह तथ्य सामने आता है कि आचार्य गोवर्धन की आर्यासप्तशती नायक-नायिकाओं की ऐसी वाटिका है जिसमे उनके मनोभाव स्वतः ही उतरकर आलम्बन एव उद्दीपन रूप में श्रृंगार की विभिन्न दृष्टियों का परिचय देते हैं । नायक-नायिका भेद की जो परम्परा आर्याकार के मुक्तकों से प्रारम्भ हुई, उसका संस्कृत की उत्तरकालीन रचनाओ पर तो प्रभाव पड़ा ही, साथ ही हिन्दी के भक्तिकाल से लेकर रीतिकाल की रचनाओं का सृजन भी उसकी प्रेरणा के आधार पर हुआ ।

दामोदर गुप्त कृत कुट्टनीमत

कुट्टनीमत का कथानक अत्यल्प है । यह कृति उपदेशात्मक है तथा इसमें विनोद और श्रृंगार का सफल सामन्जस्य है । वेश्याओ की पूर्ण चेष्टाओ का यहाँ बड़ा ही सजीव संयोग है । प्रारम्भ मे कवि ने वेश्या मालती के नखशिख का वर्णन कर एक ओर तो नारी के नखशिख की परम्परा में अपना योगदान दिया है ।[2] इसमें सुन्दरसेन और हारलता के प्रसग मे स्वकीया नायिका तथा स्वकीय नायक के सयोग और वियोग की मार्मिक व्यजना है । जिस प्रकार इस कृति मे हारलता के रूप में स्वकीया और विभिन्न वेश्याओ के रूप मे सामान्या[3] इन नायिकाओ के प्रेम का सफल आयोजन है, उसी प्रकार परकीया प्रेम[4] की भी स्वाभाविकता विद्यमान है । इसी प्रकार यह कृति उपदेशात्मक होते हुए भी सस्कृत की श्रृगारिक परम्परा मे पूर्ण योग-दान देने वाली है ।

जयदेव कृत गीत-गोविन्द

अन्त मे संस्कृत के लघु-काव्यो की श्रृगार-परम्परा के गीत-गोविन्द का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इसके अन्तर्गत राधा और कृष्ण के विलास स्थान-स्थान पर अनेक चित्रों की कल्पना की गयी है । आगे चलकर हिन्दी के भक्तिकाल के प्रारम्भ मे विद्यापति ने इसी का अनुकरण किया तथा अष्टछाप के सूर इत्यादि कवियों ने इसी के आधार पर कृष्ण और राधा के सुरति-प्रसंगो की योजना की । अतः इस छोटे से काव्य का साहित्यक दृष्टि से संस्कृत काव्य मे बड़ा ही महत्त्व है । कवि जयदेव ने इसमें श्रृंगारिक और धार्मिक –दोनों धाराओ को मोड़कर एक स्थान पर मिला दिया

---

१. वही – श्लोक ३७७, ३६७, १५४, २६०, ४०९, ६७९, २८० इत्यादि

२. कुट्टनीमत – श्लोक ३४–५७ तथा शेक १०८–११६

३. कुट्टनीमत श्लोक २६७–२७५

४. वही – श्लोक ८३०–८३२

है। कवि ने राधा को उत्कण्ठिता, प्रोषितपतिका, वासक-सज्जा, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, अभिसारिका, स्वाधीनपतिका इत्यादि अनेक नायिकाओं के रूप में निहारकर संयोग के समस्त रूपों को प्रकट करते हुए वियोग के विभिन्न रूपों के साथ साथ दस दशाओं को भी व्यंजित कर दिया है।[९] इसी प्रकार कृष्ण के भी विभिन्न नायक रूपों की यह व्यंजना विद्यमान है। अतः यह निस्संदेह स्पष्ट है कि गीत-गोविन्द में शृंगार अत्यन्त लालित्य पूर्ण शैली में अभिव्यंजित है।

अंत में इन कतिपय लघुकाव्यों के शृंगारिक दृष्टिकोण के विषय में कहा जा सकता है कि ये संस्कृत के शास्त्रीय और कामसूत्र की गतिविधियों से प्रभावित हैं। यही कारण है एक ओर तो संयोग शृंगार में रति क्रीडा के उभरे हुए चित्रों का समावेश है तो दूसरी ओर वियोग पक्ष में दस-दशाओं की मार्मिक व्यंजना है। इसीप्रकार अनेक नायक-नायिकाओं के विभिन्न चित्रों का आयोजन किया गया है तथा उनके सौन्दर्य की कल्पना भी पूर्व परम्परित और शास्त्रीय दृष्टि के अधिक निकट है।

निष्कर्ष– वैदिक काल में शृंगारिक प्रवृत्ति का विकास अनेक रूपों में उपलब्ध होता है। मानव एवं प्रकृति के अन्तर्गत ही नहीं बल्कि दिव्य शक्तियों के शृंगारिक विकास का भी यहाँ प्राचुर्य है। ऋग्वेद के अन्तर्गत घोषा की उक्तियाँ, पुरुरवा और उर्वशी संवाद एवं यम-यमी संवाद इत्यादि स्थलों में एक ओर तो दिव्य शक्तियों के उत्कृष्ट प्रेम की व्यंजना है, दूसरी ओर ये मानव हृदय के समान ही सहृदयता लिए हुए हैं। इसी प्रकार इन्द्राणी और उषा का सौन्दर्य भी दिव्य होते हुए भी मानवी का ही है। "वृहदारण्यक उपनिषद्" के अन्तर्गत पत्नी के जार को नष्ट करने के प्रसंग से पता चल जाता है कि स्वकीया, परकीया इत्यादि नायिकायें इस युग में भी थी। अतः इस युग के शृंगार के विषय में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धार्मिकता के परिवेश में बँधे होने पर भी वैदिक कवि ने शृंगार को लौकिक पक्ष के अनुसार देखा है, इसीलिये उसमें शृंगार की छटा अत्यन्त विस्तार को लिये हुए है।

रामायण के अन्तर्गत संयोग की अपेक्षा वियोग का प्राधान्य है, संयोग के चित्र भी हैं तो सही किन्तु उनमें मर्यादा का समावेश है। अतः इस युग में शृंगार की सीमा धार्मिक-सूत्र तक ही सीमित रही। इतना निश्चित है कि राम और सीता के दाम्पत्य परिवेश में प्रेम की उत्कृष्ट व्यंजना है।

महाभारत में भी यद्यपि धार्मिकता की परिधि में शृंगार की भावना का विकास हुआ किन्तु इसका विस्तार इस युग में खूब हुआ। इस युग की विशेषता यह है कि यहाँ प्रेम के क्षेत्र में स्वच्छन्दता रहते हुये भी उसकी उत्कृष्टता का विस्तृत रूप में

---

९ गीत-गोविन्द सर्ग २।६।१, ४।८।१, १२।३।४, ९।१३।१, ८।१७।१, ९।१ अष्टपदी १८ से पूर्व, ११।२।६।, १२।४।१ इत्यादि

विकास हुआ है । नारी-सौन्दर्य की प्रवृत्ति भी यहाँ खूब दिखाई देती है । तात्पर्य यह है कि यहाँ शृंगार का सर्वांगीण विकास है जिसके बाद में काव्य खूब प्रभावित हुये ।

पौराणिक-काव्यों में शृंगारिकता धार्मिकता की पृष्ठभूमि को निर्मित करने के लिये ही आई है । अतः इस युग का शृंगार-वर्णन शृंगारिक दृष्टि से नहीं हुआ । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यहाँ कवि ने शृंगार को काव्यात्मक रूप में संयोग और वियोग की स्थिति में चित्रित कर खूब रुचि प्रदर्शित की है ।

इसके पश्चात् लौकिक काव्यों का युग आता है । लौकिक काव्यों में सर्वप्रथम महाकवि कालिदास के ग्रन्थ आते हैं । कालिदास के लगभग समस्त ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें शृंगार की सरिता उत्ताल तरंगो के साथ प्रवाहित होती हुयी दृष्टिगत होती है । शृंगारिकता का ऐसा कोई भी कोना नहीं जिसका कालिदास ने अवलोकन न किया हो । अतः कालिदास के ग्रन्थों में संयोग और वियोग की लगभग सभी अवस्थाएँ विद्यमान हैं ।

अश्वघोष के काव्यों में शृंगारिकता धार्मिकता को ही पुष्ट करती है । सौन्दरनन्द में नन्द और सुन्दरी का जहाँ अपार प्रेम व्यंजित है, वहीं एक ऐसी पृष्ठ-भूमि तैयार होती है जहाँ शृंगारिकता का लोप हो जाता है, और शुद्ध विरक्ति की भावना आ जाती है । जो नन्द सुन्दरी के प्रति इतना अधिक आसक्त था वही तपस्या करके स्वर्ग प्राप्त करने का इच्छुक बन जाता है ।

कालिदास और अश्वघोष के पश्चात् जितने भी कवि हैं वे सभी ऐसे हैं जो विभिन्न सम्राटों के आश्रित रहे और आश्रित रहते हुए भी इनकी शृंगारिक-प्रवृत्ति अन्तःपुर की चहार दिवारी में तो सिमटी ही रही, साथ ही बाह्य वातावरण के जो भी चित्रांकित हुए, उनमें उतनी अधिक स्वाभाविकता न होकर पाण्डित्य-प्रदर्शन अधिक रहा । अतः प्रेम का जो स्वाभाविक स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये था, वह न हो सका क्योंकि ये शृंगार के समस्त रूपों के चित्रण में काव्य शास्त्रीय और कामशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रश्रय लेकर चले हैं । भारवि, माघ, बिल्हण, श्रीहर्ष आदि कवि इसी श्रेणी में आते हैं । इन्होने काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय ग्रन्थों से प्रभावित होकर अपने काव्यों में शृंगारिक भावना का सृजन किया ।

लघु अथवा मुक्तक-काव्यो में कवियो की वैयक्तिक अनुभूति होने के कारण, इनमें प्रेम का सहज एवं स्वाभाविक स्वरूप विद्यमान है । अमरुशतक, आर्यासप्तशती, गीतगोविन्द आदि सभी मुक्तक काव्य कवियों की अनुभूति से अनुप्राणित होकर ही लिखे गये हैं, इसलिये इनमे प्रेम की स्वाभाविकता स्थल-स्थल पर वर्तमान है ।

संस्कृत की इस व्यापक शृंगारिक परम्परा का प्रभाव प्राकृत व अपभ्रंश इत्यादि भाषाओं पर तो स्वाभाविक रूप में पड़ा ही, साथ ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष

रूप से हिन्दी भाषा साहित्य मे भी उसके बीज विकीर्ण हो गये । इसीलिए जहाँ उसस आदिकाल के वीरकाव्य की भूमि सरस बनी, वही भक्तिकाल मे उसकी माधुर्य भक्ति के रूप मे फसल लहलहा उठी ।

(स) हिन्दी मे शृगार-परम्परा

किसी भी साहित्य के मूल मे कुछ ऐसे तत्त्व होते है जो अपने बीजो का शनै रोपण करते रहते हैं । यही बीज समय और परिस्थिति की अनुकूलता पाकर लहलहा उठते हैं। अत डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "प्राय भारत तथा विश्व भर के कवियो मे यह प्रथा रही है कि अपने प्रारम्भिक शब्दो मे वे प्रबन्ध काव्यो के विस्तार मे विकसित होने वाले आदर्शों का सकेत बीज रूप मे रख लिया करते हैं।"[1] हिन्दी मे शृगार के आगमन के विषय मे भी बहुत कुछ यही तथ्य सामने आता है । पहले तो यह हिन्दी के आदिकाल म वीरकाव्य की भूमि को यत्र तत्र सरस बनाने के लिए बीज रूप मे पल्लवित होता रहा, तत्पश्चात् भक्तिकाल मे भक्ति की धारा को सरसता प्रदान करने के लिए इसका आगमन हुआ । रीतिकाल मे समय और परिस्थितियो की अनुकूलता से शृगार का वृक्ष अपनी हरीतिमा को लेकर लहलहा उठा । अतएव सक्षेप मे क्रमश आदिकाल तथा भक्तिकाल के शृगार-निरूपण पर प्रकाश डालते हुए रीतिकाल के शृगार-वर्णन पर दृष्टिपात करना उचित होगा ।

आदिकाल मे शृगार

आदिकाल पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि यह युग वीरकाव्यो की रचना का युग है । अत इस युग में बहुत से रासो काव्यो की रचना हुई जिनका मुख्य रस, वीर-रस ही रहा । उनके अन्तर्गत शृगार-रस का वर्णन केवल वीर रस की भूमि का पोषण करने के लिए ही हुआ । 'पृथ्वीराज रासो' इस काल की प्रमुख रचना मानी जाती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य और इसके रचयिता कवि चन्द को हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार किया है ।[2] 'पृथ्वीराज रासो' यद्यपि वीर-रस प्रधान काव्य है, किन्तु स्थान स्थान पर शृगार रस का अत्यन्त मनोरम चित्रण है । उदाहरण के लिए पृथ्वीराज और सयोगिता के पूर्वानुराग से लेकर सभोग रति तक के बड़े ही सुन्दर चित्र प्राप्त होते हैं ।[3] स्थान-स्थान पर नारी के

---

१ रामभक्ति शाखा—ले० डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय—पृ० ६९ (प्र० स०)

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३६ (स०२०१५ वि०)

३ पृथ्वीराज रासउ—सम्पा० डॉ० माताप्रसाद गुप्त—कथासूत्र ६ और ९ तथा पृ० १८२ तथा २४१ (प्र० स०)

रूप-वर्णन की चर्चा में बहुत ही रमणीय-स्थल हैं ।[1]

चन्द ने विभिन्न रानियों के सौंदर्य तथा हाव-भाव का वर्णन इस ढंग से किया है कि उन स्थलों पर नवोढा स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका आदि नायिकायें स्वाभाविक रूप से दृष्टिगत होती हैं । उदाहरणार्थ पृथ्वीराज की इंछिनी, शशिव्रता इत्यादि रानियों के शृंगारिक प्रसंगों को देखा जा सकता है । पृथ्वीराज रासो में प्रमुख रूप से संयोग-शृंगार का ही परिपाक है किन्तु रानी संयोगता और पृथ्वीराज के अन्तिम मिलन के प्रसंगों में वियोग-शृंगार की व्यजना स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

'रासो' के अधिकांश युद्धों का सम्बन्ध सुन्दर स्त्रियों से होने के कारण वहाँ शृंगार रस केवल वीरता को ही मुख्य रूप से पुष्ट करने वाला है । 'पृथ्वीराज रासो' में इंछिनी, शशिव्रता, संयोगिता, पद्मावती इत्यादि रूपवती-नारियों के रूप तथा संयोग-वियोग सम्बन्धी अवस्थाओ के वर्णनों से यही तथ्य सामने आता है ।

इसके अतिरिक्त परम्परानुसार विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, खुमान रासो, वीसलदेव रासो जैसे विभिन्न रासो ग्रन्थों में शृंगारिक परम्परा किसी न किसी रूप में पल्लवित होती हुई दृष्टिगत होती है जिसमें शृगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के साथ विभिन्न नायक, नायिकाओ का सौन्दर्य और प्रवृत्तिगत शृगारिक विवेचन प्राप्त होता है ।

इस युग के उत्तरार्द्ध में विद्यापति का शुद्ध शृंगारिक कवि के रूप में अवतरण हुआ । इनकी पदावली के अन्तर्गत सयोग और विप्रलम्भ के आलम्बन पक्ष में नायक-नायिका तथा उद्दीपन के रूप में नखशिख की प्रवृत्ति को खूब प्रश्रय प्राप्त हुआ । संयोग के अन्तर्गत राधा और कृष्ण के विलास के बड़े ही सजीव चित्र विद्यमान हैं । अभिसार के वर्णनों में इस बात की पूर्ण विवृत्ति प्राप्त होती है क्योंकि एक पद के वर्णन में यद्यपि रात्रि समाप्त होना चाहती है, किन्तु नायिका का प्रिय के साथ अभिसार समाप्त नहीं होता ।[2] इसी प्रकार संयोग के अन्य बहुत से स्थल हैं, जिनमें नायिका के उन्मुक्त अभिसार का पता चल जाता है ।[3]

विद्यापति के काव्य में जहाँ संयोग शृंगार की उत्कृष्टता है, वहीं वियोग के एक से एक बढ़े-चढ़े वर्णन प्राप्त होते है । विप्रलम्भ के उत्कृष्ट चित्रों के कारण ही

---

१. (अ) पृथ्वीराज रासउ-सम्पा० डॉ० माताप्रसाद गुप्त—कथासूत्र ६ पृ० १५३
   (ब) पृथ्वीराज रासो—प्रथम भाग—पद्मावती समय—१७ छन्द ५, पृ० ३५५ सम्पा० कविरावमोहन सिंह (प्र०सं०)

२. विद्यापति—सम्पा० मित्र मुजुमदार—पद ३४१ (प्र० सं०)

३. विद्यापति—सम्पा० डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित—पद ४०–४३ (प्र० स०)

कवि लौकिक धरातल से उठकर अतीन्द्रिय जगत की सृष्टि करता है। अतः वहाँ राधा, केवल सामान्य विलासमयी नारी न रहकर ऐसी अपार प्रेममयी नारी का स्थान ग्रहण करती है जिसके सम्मुख प्रिय-प्रेम विषयक चिन्तन के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। कृष्ण के विदेश गमन पर राधा की जिस विह्वलता का कवि ने निदर्शन किया, वह बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है।[1] विद्यापति ने राधा-कृष्ण के विरह की व्यंजना अनेक रूपों में की है। परम्परानुसार वहाँ विरह की दसों दशाओं एवं विरह के पूर्वानुराग, मान[2] तथा प्रवास[3] इन तीनों रूपों का सफलतापूर्वक वर्णन है। विप्रलम्भ के इन सभी स्थलों पर विरहिणी राधा के मनोभावों का भिन्न-भिन्न रूपों में अत्यन्त कुशलता पूर्वक निदर्शन हुआ है। कवि ने परम्परा के अनुसार संदेश प्रेषण की पद्धति को अपनाकर[4] वियोग के प्रसंगों में और भी अधिक सजीवता भर दी है।

कवि ने नायिका भेद तथा नखशिख के वर्णनों को यद्यपि परम्परानुसार ही ग्रहण किया है किन्तु उनमें स्वाभाविकता का पूर्ण रूप से समावेश है।[5] विद्यापति के प्रसंगों में स्वकीया, परकीया एवं सामान्या[6] के साथ-साथ इनके विभिन्न भेद मुग्धा, अभिसारिका, खण्डिता, इत्यादि की बड़ी ही रुचि के साथ अभिव्यक्ति हुई है।[7] इसी प्रकार नारी के नखशिख की व्यंजना में अत्यन्त शक्ति भरी हुई है। नायिका के अंग-प्रत्यंगों के उपमान परम्परानुग्रहीत ही हैं, किन्तु कवि के वर्णन की दृष्टि पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। उदाहरण के लिए नेत्र वर्णन को लिया जा सकता है। उनके लिए प्रयुक्त पंकज, खंजन, मधुकर इत्यादि उपमान परम्परागत ही हैं।[8] अन्य अंगों के वर्णन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। विद्यापति की पदावली का समग्र रूप से अवलोकन करने पर कहा जा सकता है कि विद्यापति की पदावली में नायक-नायिकाओं के रूप में राधा-कृष्ण के शृंगार वर्णन के ऐसे चित्र हैं जो रीतिकालीन कवियों के चित्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। स्पष्ट बात तो यह है कि विद्यापति ने

---

१ मैथिल कोकिल विद्यापति—सम्पा० ब्रजनन्दन सहाय—पृ० ३३९ (प्र० सं०)

२ विद्यापति—सम्पा० बेनीपुरी—पद ३६

३. विद्यापति—सम्पा० मित्र मजुमदार, पद ६६२—६४ इत्यादि।

४ विद्यापति—सम्पा० ब्रजनन्दनसहाय—पृ० ३२४—३२५, ३५३ इत्यादि

५ विद्यापति—बेनीपुरी—पद २०३—१९९ आदि

६ उदाहरणार्थ देखिए—विद्यापति—सम्पा० मित्र मजुमदार—क्रमशः पद १६१, २०३ ४०६ इत्यादि

७ विद्यापति—सम्पा० बेनीपुरी—पद ३८, १२३, १३३ आदि

८ वही, पद २५, ३०, ३६, ३८, ४० इत्यादि

रीतिकाल का बीजारोपण आदिकाल के उत्तरार्द्ध में ही कर दिया था। भक्तिकाल में सम्भवतया इनसे ही प्रेरणा प्राप्त कर सूर इत्यादि कृष्ण भक्त कवियों ने अपने वर्णन प्रस्तुत किए। अन्ततोगत्वा आदिकाल के शृंगार विषयक वर्णनों से यह बात ज्ञात हो जाती है हिन्दी में नायक नायिका भेद के सूत्र इस युग के काव्यों में प्रतिपादित हो चुके थे जो रीतिकाल में खूब पुष्पित हुए।

भक्तिकाल में शृंगार

भक्तिकाल में कवियों की प्रवृत्ति के अनुसार दो धारायें सामने आती है–(१) निर्गुण धारा, (२) सगुण धारा। निर्गुण-धारा, ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी और सगुण-धारा, रामाश्रयी तथा कृष्णाश्रयी–इन दो शाखाओं में विभाजित है। ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर तथा प्रेमाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। कबीर की रचनाओं में शृंगार की अभिव्यक्ति तो है, किन्तु वह दार्शनिक तत्त्व की ही पुष्टि करने वाली है। जायसी रचित पद्मावत में प्रेमकथा का सूत्र भी आध्यात्मिक प्रेम की ही अभिव्यक्ति करता है। किन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसमें सर्वत्र राजा रतनसेन और पद्मिनी अथवा दूसरी रानी नागमती के प्रेम एवं विरह की ही अवतारणा हुई। पद्मिनी के रूप-सौन्दर्य को सुनकर राजा रतनसेन का मूर्छित होना विप्रलम्भ शृंगार के पूर्वानुराग-विरह की कोटि में आता है। पद्मावती की प्राप्ति हेतु रतनसेन के प्रस्थान करने पर नागमती का विप्रलम्भ एवं उसके साथ ही क्रमशः बारह ऋतुओं के वर्णन द्वारा कवि ने प्रवासजन्य वियोग का ही वर्णन किया है। जायसी की नायिका नागमती जहाँ स्वकीया नायिका की कोटि में आती है तो वही पद्मावती प्रारम्भ में परकीया के समान ही दृष्टिगत होती है। इनके ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर नायक और नायिका की मनोदशाओं के रूप प्रायः शास्त्रीय ग्रंथों के आदर्शों पर ठीक ही उतरते हैं।

जायसी के अतिरिक्त इस धारा में कुतबन, मंझन, कासिमशाह, नूरमुहम्मद इत्यादि कवि आते हैं, जिन्होंने अपनी-अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर शृंगारिक प्रसंगों का आयोजन कर अपनी विशेष रसिकता का परिचय दिया।

रामाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास और कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि सूरदास माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने यद्यपि शृंगार का निरूपण तो किया किन्तु वह मर्यादा प्रधान ही रहा। फिर भी सीता राम का जनक की वाटिका में परस्पर दर्शनजन्य पूर्वानुराग तथा सीता की रावण द्वारा चोरी करने पर राम का विरह तथा रावण के यहाँ अशोक वाटिका में राम से वियुक्त रहकर सीता की छटपटाहट इत्यादि प्रसंगों की उद्भावना अत्यन्त सफलता पूर्वक हुई है।

कृष्ण भक्ति काव्य में शृंगारिक धारा का प्रवाह अत्यन्त तीव्र गति के साथ हिलोरें लेता हुआ प्रतीत होता है। इस शाखा के सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास,

मीरा, रसखान, रहीम इत्यादि अनेक कवि हैं किन्तु इसके प्रमुख कवि सूरदास माने जाते हैं। सूरदास के नायक कृष्ण और नायिका राधिका हैं। इनके काव्य में भी विद्यापति के समान नायक नायिकाओं के लक्षण न होते हुए भी वर्णनात्मक दृष्टि शास्त्रीय ग्रंथों की कसौटी पर खरी ही उतरेगी। सूरदास कृत सूरसागर के अन्तर्गत राधा विविध नायिकाओं के रूप में उपस्थित होती है। राधा को खण्डिता नायिका के रूप में प्रदर्शित करते हुए कवि ने रति-क्रीडा जन्य चिह्नों का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] तात्पर्य यह है कि सूरसागर में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के साथ ही उनके आलम्बन रूप में नायक-नायिका भेद तथा उद्दीपन रूप में नायक और नायिका के ही रूप वर्णन को पूर्णरूप से प्रश्रय प्राप्त हुआ है। वहाँ राधा और कृष्ण के प्रेम की भित्ति परस्पर रूप-सौन्दर्य पर आधारित है तथा उसका विकास मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ी ही कुशलता के साथ हुआ है। उनके काव्य में संयोग के जहाँ पूर्वानुराग से लेकर रतिकेलि तक के प्रसंगों की योजना है, वहीं विरह में पूर्वानुराग से लेकर प्रिय के प्रवासजन्य वियोग में दुःखित गोपियों की विह्वलता का मार्मिक निदर्शन हैं। सूर के वियोग शृंगार में अभिलाषा आदि दस दशाओं के वर्णन अनायास ही दृष्टिगत हो जाते हैं।

सूरदास से प्रेरणा लेकर नायिका भेद को शास्त्रीय परिधि में बाँधकर चलने वाले कृष्ण भक्त कवियों में नन्ददास का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इनकी 'रसमंजरी' में नायिका-भेद का चित्रण हाव, हेला और रति के सांगोपांग विवेचन के आधार पर हुआ है। कवि ने रसमंजरी के आरम्भ में ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य 'नायिका-भेद' को समझाने का बतलाया[2] है। नन्ददास ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी शृंगार-निरूपण को शास्त्रीय पद्धति के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए विरह मंजरी के अन्तर्गत विरह के भेद करते हुए—प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर कहकर शास्त्रीय पद्धति का ही सहारा लिया है।[3] नन्ददास की 'रूपमंजरी' में यद्यपि शास्त्रीय भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु उसके अध्ययन से इस बात का स्पष्ट बोध होता है कि काव्य रचना के समय नायिका की विभिन्न अवस्थाओं वय सन्धि, प्रथम समागम आदि के वर्णन में शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान में रखा गया है। इसी प्रकार अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी नायिका-भेद के उदाहरणों की रचना की है।[4]

---

१ सूरसागर—दशम स्कंध—छन्द २५०२।३१२० (दूसरा खण्ड, सम्पा० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वि० सं०)

२ नन्ददास ग्रन्थावली—रसमंजरी—पृ० १४४ (सम्पा० ब्रजरत्न सहाय—प्र० सं०)

३ वही, पृ० १६३

४, अष्टछाप—परिचय—लेखक प्रभुदयाल मीतल—पृ० ३४०—४१ (प्र० सं०)

इस प्रकार शृंगार की परिपाटी इस युग में अत्यन्त तीव्र गति के साथ चल पड़ी थी। अतः तुलसीकृत 'बरवै रामायण' से रीति की परम्परा पूर्णरूप से विकसित हुई तथा इसका प्रभाव रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' पर पड़ा। इनके अतिरिक्त शृंगार की दृष्टि से हिततरंगिणीकार, कृपाराम, गंग, करनेस, बलभद्र मिश्र, केशव, इत्यादि कवि ऐसे हैं जिन्होंने नायिका-भेद पर अत्यन्त स्वतन्त्रता पूर्वक लेखनी चलाई। इस परम्परा के परिणाम स्वरूप रीतिकालीन कवियों ने अपने वर्ण्य-विषय नायिका भेद को प्रमुखता दी। अतः चिन्तामणि के उपरान्त तो शृंगार वर्णन को अधिक से अधिक गति प्राप्त हुई। तात्पर्य यह है कि भक्तिकाल के उपरार्द्ध में जिस साहित्य की सर्जना हुई, वह अधिकतर नायक-नायिका भेद पर लिखा गया, जिसमें शृंगार के समस्त पक्षों को विस्तृत रूप में प्रमुखता मिली। अतः स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति-काल के समय से ही शृंगारिक-धारा रीतिकालीन तत्त्वों को लेकर प्रस्फुटित होनी प्रारम्भ हो गई थी। चिन्तामणि के पश्चात् तो यह धारा अबाध गति के साथ प्रवाहित होने लगी थी। इस प्रकार भक्तिकाल के अन्तर्गत ही रीतिकाल की पूर्ण पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी।

रीतिकाल में शृंगार

किसी भी काव्यधारा के प्रवाह में तत्कालीन युग-विशेष की प्रवृत्तियों का विशेष हाथ होता है। अतः शृंगार की जो धारा संस्कृत की परम्परा से प्रवाहित हुई, वह आदिकाल और भक्तिकाल की भूमि को सरस बनाती हुई, रीतिकालीन काव्यों में उत्ताल तरंगों के साथ हिलोरें भरने लगी। इसका एकमात्र कारण तत्कालीन सामन्त-वर्ग की मनोवृत्ति थी, इसलिए इस युग के कवि समाज ने अपने आश्रयदाताओं की विलासी रुचि को समझते हुए तदनुकूल शृंगारिक-वर्णनों को ढालने का प्रयास किया। अतः युग को देखते हुए कहा जा सकता है कि दरबारों के विलासी वातावरण के कारण ही संस्कृत की शृंगारिक परम्परा को आश्रय मिला था। विशेषज्ञता के लिए किसी शास्त्र विशेष के चयन में उस युग की रुचि काम कर रही थी। रीतिकाल का कवि जानता था कि फारसी के ललित और शृंगारिक काव्य के सम्मुख वह तभी 'जम' सकता था, जब वह उसी तरह का 'जौहर' दिखाए जो शासक की विलास वृत्ति को सन्तुष्ट कर सके। इसी प्रवृत्ति के कारण नायिका-भेद को बल मिला था।[१]

रीति ग्रंथों के प्रणेता अधिकांश कवि ऐसे हैं जिनकी दृष्टि आद्योपांत शृंगार निरूपण पर ही रही। इसीलिए इस युग में शृंगार के वर्ण्य विषय के विस्तार के

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता—सिद्धान्त और समीक्षा—ले० डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—पृ० १२

साथ ही उसके विविध रूपों की चर्चा भी हुई। शृंगार के आश्रय आलम्बन नायक और नायिका हैं। इन्हीं के अन्तर्गत शृंगार के मूल तत्व 'रति' की स्थिति रहती है। अतएव रीतिकाल में इनके अनेक रूपों का विस्तार हुआ, तथा नायक-भेद की अपेक्षा 'नायिका-भेद' की ओर कवियों की दृष्टि और भी अधिक व्यापक रही। परिणाम-स्वरूप नायिकाओं के जाति, कर्म, गुण, देश, वयक्रम, शील, अंग रचना, कुल आदि के आधार पर बहुसंख्यक एवं विविध रूपिणी नायिकाओं के लक्षण और उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया। इन्हीं नायक नायिकाओं के संयोग और वियोग को ध्यान में रखकर शृंगार के अनेक रूपों की कल्पना की गई। अतएव रीतिकाल के अन्तर्गत शृंगार-वर्णन को चार दृष्टियों से देखा जा सकता है – संयोग, वियोग, नखशिख तथा नायक नायिका भेद।

विद्वानों ने शृंगारिक दृष्टि से रीतिकालीन कवियों के तीन भेद किए हैं– (१) रीतिबद्ध, (२) रीतिसिद्ध, (३) रीतिमुक्त।[1]

रीतिबद्ध कवियों में वे समस्त कवि आ जाते हैं जिन्होंने अपने काव्यों में रस आदि के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए उनकी पुष्टि की। इस परम्परा में केशव, चिन्तामणि, रसलीन, मतिराम, भिखारीदास, पद्माकर, ग्वाल आदि अनेक कवि हैं।

रीतिसिद्ध कवियों में मुख्य रूप से बिहारी आते हैं। इन्होंने शृंगार पक्ष के लक्षणों पर लेखनी न चलाते हुए उनको दृष्टि में रखकर ही नायक-नायिका-भेद तथा उनके नखशिख की अभिव्यक्ति परम्परानुसार ही की।

रीतिमुक्त कवियों में वे सभी कवि लिये जा सकते हैं, जिनकी दृष्टि शुद्ध काव्यात्मक रही। इनमें मुख्य रूप से रसखान, शेख आलम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव इत्यादि अनेक कवि आते हैं।

इन तीनों प्रकार के कवियों ने शृंगारिक दृष्टि से संयोग, वियोग, नायक नायिका भेद तथा नखशिख-इन चारों पक्षों को प्रस्तुत किया है। इतना अवश्य है कि किसी के वर्णन में किसी की प्रधानता है तो किसी के वर्णन में किसी बात की। अतः संक्षेप में रीतिकाल की शृंगारिक परम्परा का ध्यान में रखते हुए यहाँ चारों पक्षों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में देखना समीचीन होगा।

संयोग

संयोग या सम्भोग शृंगार के साक्षात् दर्शन, स्पर्शन इत्यादि से लेकर सुरति के प्रसंगों में परिणति हो जाती है। रीतिकालीन कवियों ने संयोग के समस्त पक्षों को बड़ी ही रुचि के साथ ग्रहण किया है। इन कवियों के संयोग के समस्त चित्र बड़ी

---

१ हिन्दी साहित्य का अतीत–भाग २–डॉ० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ३६१–३६५, (प्र० सं०)

ही सजीवता के साथ उतरते हुए चले आये हैं। केशव की नायिका का एक चित्र दर्शनीय है। अपने प्रिय द्वारा मुख चूमकर वह उसे यों ही नहीं जाने देना चाहती, बल्कि स्वयं भी प्रिय का मुख चूमना चाहती है। यदि प्रिय निषेध करता है तो प्रिया के पास एक हथियार यह है कि वह अपनी धाय से जाकर कह देगी—

केशव चूक सबै सहिहौ मुख
चूमि चलै यहु पै न सहौंगी।
कै मुख चूमन दै फिरि मोहि कै
अपनी धाय सों जाइ कहौंगी ॥१॥[1]

इस उक्ति में भाव, भाषा, एवं शब्दो के साथ ध्वनि का सुन्दर समन्वय है, तथा नायिका के भावों में संयोग की सुन्दर व्यंजना हुई है।

चिन्तामणि की नायिका की यह स्पर्शजन्य अनुभूति कितनी सुन्दर बन पड़ी है। नायिका प्रथम तो नायक की आँखें मूँदने के बहाने उसकी पीठ से अपने उरोजों को लगाती है जिससे नायक भी समझ जाता है। वह जब नायिका की छाती स्पर्श करता है तो नायिका झूठा रोष दिखाकर नायक को मानो स्वीकृति दे देती है। यथा—

आँखिनि मूँदिबे के मिसि आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
केहूँ केहूँ मुसक्याय चितै अंगराइ अनूपम अंग दिखावै।
नाह छुई छल सो छतिया हँसि भौह चढ़ाइ अनंद बढ़ावै।
जोवन के मदमत्त तिया हित सों पति को नित चित्त चुरावै।[2]

बिहारी का नायक लड़का लेने के बहाने छल पूर्वक नायिका की छाती स्पर्श करता है, इस भाव का दोहा भी दृष्टव्य है—

लरिका लैबे के मिसनु, लंगरु भो ढिग आइ।
गयो अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ ॥[3]

सुरति के प्रसंगों का वर्णन करने में रीतिकालीन कवियों ने पूर्ववर्ती संस्कृत के कवियों से और कामशास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरणा ली है, इसीलिए इन्होंने कामशास्त्र में निरूपित रति चिह्नों का खुलकर वर्णन किया है। ब्रह्म कवि की नायिका का चित्र यहाँ दर्शनीय है। नायिका समस्त रात्रि तो प्रिय के साथ रुदन रति-क्रीड़ा करती है, प्रातःकाल कंचुकी रहित उरोजों में प्रियतम द्वारा किए गए नखचिह्नों को इस प्रकार देख रही है जैसे चन्द्रमा नतमुख होकर शंकर (उरोजों) से अपनी कला (द्वितीया के

---

१. हिन्दी रीति–साहित्य–डॉ० भगीरथ मिश्र–केशवदास–कविप्रिया
(प्र० सं०–राजकमल प्रकाशन दिल्ली–१९५६)
२. कविकुलकल्पतरु–चिन्तामणि–छन्द १०५–पृ० १०७ (पाषाण यंत्रालय में मुद्रित)
३. बिहारी रत्नाकर–दोहा ३८६–पृ० १५९, पाँचवाँ संस्करण

चन्द्र तुल्य नख चिह्नों) को ले रहा है—

> मन्दि भोर उठी बिनु कचुकी भामिनि कान्हर सो करि केलि घनी ।
> कवि ब्रह्म भनै जिहि देखत ही बनिजात नही मुख ते बरनी ।
> कुच अग्र नखक्षत कन दियो मुख नाइ निहारति है सजनी ।
> शशि शेखर को शिर ते सुमनो निहुरे विधु लेत कला अपनी ॥[1]

रीतिकाल म सयोग के इस प्रकार के अनेक छन्द प्राप्त होते है जो दर्शन से सुरति एव सुरति उपरान्त की दशा का निरूपण करने के उद्देश्य से अकित किए गए हैं । अतएव रसिकता की दृष्टि से यहाँ सयोग शृगार का खूब सुरुचि से चित्रण हुआ है, जिसमे उसके समस्त अगो को रीतिकालीन कवियो ने समेट लिया है । इनमे एक ओर तो केशव के प्रारम्भ मे दिए गए वर्णन के समान हास परिहास है तो दूसरी ओर स्पर्श इत्यादि के चित्र भी मनोरम रूप मे अकित हैं । इसी प्रकार सयोग शृगार की अन्य अवस्थाओ के चित्रो की भी रीतिकालीन काव्यो मे कमी नहीं है ।

विप्रलम्भ-शृगार

वियोग के चित्रो की भी रीतिकाल मे कमी नही है । वियोग के चारो भेदो—पूर्वराग, मान प्रवास एव करुण मे प्रथम तीन का ही वर्णन रीतिकाल मे अधिकतर प्राप्त होता है । इसका मुख्य कारण सम्भवतया यह है कि करुण मे जाकर शृगार के रस पक्ष की उत्कृष्टता समाप्त हो जाती है । रस की उत्कृष्टता उसी मे है जबकि प्रेमी वियोग की अग्नि मे जलता रहे, क्योकि उस समय प्रेम अधिक निर्मल बन जाता है, जिसका मुख्य कारण यह है कि स्वर्ण भी तो अग्नि मे तपकर ही निखरता है ।

अब वियोग की उत्कृष्टता पर दृष्टिपात करने के पश्चात् रीतिकालीन शृगार का जब हम परीक्षण करते हैं तो ज्ञात होता है कि वहाँ शृगार के पूर्वराग, मान, प्रवास—इन तीनो भेदो मे प्रेम की अनन्यता बडी ही सुन्दरता के साथ अकित है । पूर्वानुराग का चित्रण, श्रवण दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, तथा प्रत्यक्ष-दर्शन—इन चारों अवस्थाओ मे प्रेम की गम्भीरता को लेकर अकित है । उदाहरण के लिए कवि देव की नायिका का चित्र दर्शनीय है । वह प्रिय के साथ सुख मे सोई हुई है । स्वप्न में देखती है कि प्रिय विदेश जा रहा है, इसलिए उसकी सिसकियाँ बँध जाती है । उस समय प्रियतम द्वारा अक मे भर लेने पर भी उसकी हिलकियाँ बन्द नही होती—

> सँग सोवत ही पिय के सुखसो सुखसो नहि जाग वियोग सहै ।
> सपने मँह स्याम विदेश चले सुकथा कवि देव कहाँ लौं कहै ।

---

१ शृगार सग्रह—सम्पा० सरदार कवि, पृ० २५, छन्द ३३, प्र० स० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ मे—सन् १८८८ ई० मे मुद्रित

तिय रोइ सकी न सुनी सिसकी हँसि प्रीतम त्यों भरि अंक गहै ।
बड़ भागी लला उर लागी जऊ तिय जागी तऊ हिलकीन रहै ।।[१]

देव के इस छन्द में नायिका के प्रेम की अनन्यता दृष्टिगत हो रही है । वह अपने प्रिय को एक क्षण के लिये भी अलग नही करना चाहती है, इसलिये स्वप्न में भी प्रिय का विदेश गमन जानकर, जगने पर प्रिय के अंक से लिपटी हुई भी उसकी हिलकियाँ बन्द नही होती । कालिदास के "मेघदूत" मे इस भाव की बहुत ही उदात्त कल्पना है । उनका विरही यक्ष एक दिन की घटना का स्मरण करते हुए प्रिया के समीप उसका स्मरण कराने के उद्देश्य से मेघ को सदेशा देते हुये कहता है कि—"एक दिन की बात का मैं तुझे स्मरण कराता हूँ कि तू मेरे गले लगकर सोती थी । अकस्मात् तब जागकर रोने लगी । । मैंने बार-बार पूँछा कि क्यों रोती है ? तुमने हँस कर उत्तर दिया कि "हे छलिया स्वप्न में तुम्हे किसी स्त्री से मिलते देखा है ?"[२]

कालिदास की नायिका प्रियतम को दूसरी स्त्री से मिलते देखकर रोती है जब कि देव की नायिका की हिलकियाँ इसलिये बन्द नही हो रही कि वह प्रिय को विदेश जाते हुये स्वप्न मे देखती है । यद्यपि दोनो छन्द अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठता लिये हुये है, किन्तु देव के छन्द में जो मार्मिकता छिपी हुई है, वह सचमुच ही कालिदास के भाव से उत्कृष्ट बन पड़ी है ।

पूर्वराग के अन्तर्गत उस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं जिनमें नायिका की इसी उत्कृष्ट प्रेम-वृत्ति के चित्र प्राप्त होते है । इसी प्रकार मान के भी अनेक चित्रों की योजना रीतिकालीन कवियों ने की है क्योंकि मान की अवस्था में ही तो नायक-नायिका का प्रेम अधिक से अधिक पुष्ट होकर सामने आता है । मतिराम की नायिका के मान का एक चित्र दर्शनीय है—नायक और नायिका आषाढ़ मास की सुन्दर सन्ध्या में आँगन में बैठे हैं । तब नायक अपनी प्यारी से कुछ पूँछता हुआ अन्य स्त्री का नाम ले लेता है । इससे नायिका की भौंह चढ़ जाती हैं और उसका सुहास भी हंस के समान उड़ जाता है । यह चित्र दृष्टव्य है —

दोऊ अनंदसौ आँगन माँझ विराजैं अषाढ़ की साँझ सुहाई,
प्यारी की बूझत और तिया को अचानक नाऊँ लियो रसिकाई ।

---

१. अष्टयाम—देव—पृ० ३४, छन्द सं० १६

२. भूयश्चापि त्वमसि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे ।
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सत्वरं विप्रबुद्धा ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत् पृच्छतश्च त्वया मे ।
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपित्वं मयेति ।।१११।। मेघदूत उत्तरार्द्ध

आयो उनै मुँहु मैं हँसि कोपि प्रिया-सुर-चाप सी भौंह चढ़ाई,
आँखिन तैं गिरे आँसू के बूँद, सुहासु गयो उड़ि हंस की नाँई ॥[1]

मतिराम का यह छन्द मानिनी स्वकीया नायिका के सुन्दर उदाहरण को व्यक्त करता है। अतः मानिनी के लिए भी इस प्रसंग को लिया जा सकता है। पद्माकर की मानिनी भी दर्शनीय है—मान के उद्देश्य से नायिका प्रिय के सामने आने पर प्रिय को देखने के लिये उत्सुक नयनों को नीचा कर लेती है, प्रिय आगमन जन्य पुलकता को गिराकर प्रस्वेद को भी समाप्त कर देती है, जिह्वा को भी कुछ न कहने के लिये बन्द कर लेती है, किन्तु आश्चर्य यह है कि नायिका का प्रिय के सम्मुख पहुँचने पर मान स्थिर नहीं रह पाता—और उसकी अँगिया वक्ष की धड़कन के कारण टूक-टूक होकर गिर जाती है—यह चित्र दृष्टव्य है :—

जाके मुख सामुहे भयोई जो चहत मुख
लीन्हो सो नवाइ डीठि पगनि अखाँगीरी।
बैन सुनिबे को अति व्याकुल हुते जे कान
तेऊ मूँदि राखे मजा मन ही न माँगीरी।
सारि डार्‌यो पुलक प्रसेदहु निवारि डार्‌यो
रोकैं रसना हू त्यों भरी न कछु हाँगीरी।
एतं पै रह्यौ न मान मोहन लटू पै भटू
टूक टूक ह्वै के जो छटूक भई आँगीरी ॥[2]

रीतिकालीन कवियों के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमे नायक और नायिका के मान सम्बन्धी चित्र भरे पड़े हैं। ये सभी चित्र भाव की दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट बन गये हैं।

वियोग के प्रवासजन्य रीतिकाल के अधिकतर वर्णन ऐसे हैं जिनमे प्रेमी जनों का प्रेम अत्यन्त ही पुष्ट होकर सामने आता है। शास्त्रानुमोदित दस दशाएँ इस वियोग विप्रलम्भ के अन्तर्गत ही आती हैं। घनानन्द और बोधा तथा आलम के काव्यों मे प्रवास के द्वारा उत्पन्न वियोग के वर्णनों मे प्रेम की उत्कृष्टता का बड़ी ही सहज अवस्था मे निरूपण किया गया है। उदाहरण के लिये घनानन्द की विरहिणी का एक उदाहरण लिया जा सकता है, जिसमे विरहिणी नायिका मेघ की खुशामद करके पुनः अपने दैन्य भाव से प्रेरित होकर विश्वासघाता सुजान के आँगन मे अपने

---

१ मतिराम ग्रन्थावली—रसराज-छन्द ३९०
(सम्पा० स्व० प० कृष्ण बिहारी मिश्र)

२ पद्माकर ग्रन्थावली-जगद्विनोद-छन्द २७६, पृ० १४१
(सम्पा० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)

आँसुओं को बरसाने की प्रार्थना करती है, जिससे कि कम से कम प्रिय को पता तो चल जाय कि उसके वियोग में नायिका कितनी विह्वल हो रही है–

परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्यजथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ।
घन आनन्द जीवन-दायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहिं लै बरसौ॥[1]

घनानन्द ने इस छन्द की प्रेरणा सम्भवतया कालिदास कृत मेघदूत से ली हो क्योंकि कालिदास का नायक यक्ष भी मेघ द्वारा अपनी प्रिया के समीप संदेश भेजते समय प्रारम्भ में मेघ की इसी प्रकार प्रशंसा करता है। घनानन्द का यह छन्द भाव और ध्वनि के रूप में रीतिकाल के उत्कृष्ट छन्दों में से है। प्रिय को सदेश भेजने में "अँसुवान को लै बरसने" की उक्ति बड़ी मार्मिक है। अतः इस प्रसंग द्वारा नायिका के हृदय में स्थित संवेदनात्मक अनुभूति की मार्मिकता सहज ही प्रकट हो जाती है।

आलम और बोधा के काव्यों मे प्रवासजन्य वियोग की सवेदना गहन विषाद को लेकर चलती है। इनमें पीड़ा और करुणा सर्वत्र विद्यमान रहती है। आलम की प्रिय के वियोग में मस्तिष्क की दीनता तथा हृदय की विवशता का कितना कुशलता पूर्वक निदर्शन है। यथा–

जाथल कीन्हे विहार अनेकन ताथल काँकरी बैठि चुन्यो करें।
जा रसना सौं करी बहु बात सुता रसना सों चरित्र गुन्यो करें।
आलम जौन से कुंजन मे करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करे॥[2]

इस छन्द का भाव स्वतः ही स्पष्ट है। प्रिय के सामीप्य मे जो स्थान एवं जो वस्तुएँ सुखप्रद लगती है, वही अभाव होने पर विषमय बन जाती हैं। इसीलिये विरह में तो विहार के स्थलों में बैठकर काँकरी चुनना, प्रिय के साथ अनेक बात करने वाली रसना से अब प्रिय के चरित्र गुनना, प्रिय के साथ की गई केलि-स्थल, कुंजों में अब सीस धुनना, अर्थात् पश्चाताप करना, एवं नयनों मे सदा रहने वाले प्रिय की अब केवल कहानी मात्र सुनते रहना–ये समस्त अवस्थाये यहाँ अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत हुई हैं।

बोधा की वियोगिनी की प्रिय के वियोग की पीड़ा इतनी विचित्र बन चुकी है कि वह किसी से कहते हुए नही बनती है, केवल सहते ही बन सकती है। क्योंकि उसके हृदय में सदैव यही आशा लगी रहती है कि प्रिय कभी न कभी तो अवश्य

---

१. घनानन्द कवित्त–सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ७१, छन्द १२८
२. आलम केलि–सम्पा० लाला भगवानदीन–भूमिका-भाग–पृ० ४ (प्र० सं०)

ही मिलेगा । इस भाव का विस्तार एवं इसकी सूक्ष्म मार्मिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत छन्द मे दर्शनीय है—

> कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो यह धीरज ही मैं धरैबो करै ।
> उरते कढ़ि आवै गरे ते फिर मन की मनही मे सिरैबो करै ।
> कवि बोधा न चाल सरी कबहूँ नित ही हरवा सो हिरैबो करै ।
> सहते ही बनै कहते न बनै मन ही मन पीर पिरैबो करै ॥[1]

इस छन्द मे अन्तर्वेदना की पीडा उभरकर मनिवान् रूप मे सामने आ आती है ।

इस प्रकार रीतिकालीन काव्यो मे वियोग की बडी मार्मिक अनुभूतियां भरी पडी हैं । इन सभी मे प्रेम की एक स्वाता सहज ही उभरती हुई चली आई है । प्रेम के अन्तर्गत हृदय की टीस और सवेदना तथा विषाद का जो प्रादुर्भाव रहता है, उसका पूर्ण विकास इन स्वच्छन्द काव्यधारा के कवि घनानन्द, आलम तथा बोधा की रचनाओ मे देखने के लिये अनायास ही प्राप्त हो जाता है ।

नायक नायिका भेद

नायक नायिका भेदो को प्रारम्भ मे ही स्पष्ट किया जा चुका है । उसी शास्त्रीय पद्धति को कुछ थोडा बहुत हेर फेर करके रीतिकालीन कवियो मे लगभग सभी ने अपनाया है । अतएव नायको के—पति, उपपति, और वैशिक तथा नायिकाओं के—स्वकीया, परकीया, सामान्या या गणिका-मुख्य रूप से ये तीन भेद हैं जैसा कि शृंगार का शास्त्रीय विवेचन करते समय प्रारम्भ मे ही स्पष्ट किया जा चुका है । रीतिकालीन कवियो ने नायका के वर्णनों की अपेक्षा नायिका भेद मे ही अधिक रुचि दिखाई है । तीनो नायिकाओ के परिस्थिति, वय, दशा इत्यादि के अनुसार अनेक भेद प्रभेद हो जाते हैं जैसा कि पाचवें अध्याय मे स्पष्ट किया जायगा । यह बात सर्वविदित है कि रीतिकालीन कवियो ने तीनो नायिकाओ के भेद प्रभेद के साथ ही इनका सुन्दर एव स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है ।

रीतिकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि इस काल मे स्वकीया नायिकाओ के यद्यपि कम वर्णन हैं किन्तु जो भी हैं वे उत्कृष्ट बन पडे हैं । *देव ने स्वकीया के स्वरूप को कितना सजग होकर चित्रित किया है—*

> कवि देव हरे बिछियानु बजाइ लजाइ रहे पग डोलनि पै ।
> गुरु डीठ बचाइ लचाइ कै लोचन सोचन सौं मुख खोलनि पै ।
> हँसि हाँस भरे अनुकूल बिलोकनि लाल के लोल कपोलनि पै ।
> *बलि हौं बलि हारी हौं बार हजारक बाल की कोमल बोलनि पै ।*[2]

---

१ इश्कनामा—बोधा—(सम्पा० डॉ० नकछेदी तिवारी) पृ० २१

२. देव ग्रन्थावली—भावविलास—चतुर्थ विलास—छन्द २२

भाव स्वतः ही स्पष्ट है । स्वकीया के गुणों पर ही तो नायक रीझा हुआ है । स्वकीया सम्बन्धी गुणों की यहाँ उत्कृष्ट व्यंजना हुई है । यहाँ स्वकीया नायिका के साथ नायक भी स्वकीय पति है ।

परकीया के कवियों ने अनेक रूप दिये हैं किन्तु स्वकीया से परे अन्य की पत्नी अथवा अन्य किसी कुमारी के रूप मे उपपत्नी ही परकीया होती है । परकीया का भी एक उदाहरण दर्शनीय है–मतिराम की नायिका परकीय नायिका के साथ सुरति सम्पादित करके लौटती है । वह अपनी सुरति को सखि के सामने बड़ी ही निपुणता के साथ छिपाती है । अतः उसका चित्र कवि ने कितनी स्पष्टता के साथ अंकित किया है –

> लेन गई हुती बागन फूल, अँध्यारी लखे डर बाढ्यो महाई;
> रोम उठे, तन कंप छुटे, "मतिराम" भई स्रम की सरसाई ।
> बेलिन में उरझी अँगिया, छतियाँ अति कटक के छत–छाई,
> देह में नेकु सभार रह्यो न, यहाँ लगि भाजिमरु करि आई ॥६८॥[1]

भाव सरसता की दृष्टि से यह प्रसंग अत्यन्त ही उत्कृष्ट है । शब्दों का निर्माण भी ध्वनि को लेकर हुआ है, जिससे भाव के समझने मे कोई कठिनाई प्रतीत नही होती ।

सामान्या नायिका के स्वरूप को इसी प्रकार देखा जा सकता है, उसके भेद प्रभेद न होते हुए, स्वाभाविक रूप में चित्रण हुआ है । पद्माकर ने वधा करने वाली तथा रसिकों की प्रतीक्षा करने वाली सामान्या नायिका का चित्र बड़ी ही सजीवता के साथ अंकित किया है –

> आस सों आरत सम्हारत न सीस पट,
> गजब गुजारत गरीबन की वार पर ।
> कहै पद्माकर सुगन्ध सरसार वेस
> विथुरि विराजे हार हीरन के हार पर ।
> छाजत छवीले छिति छहर छरा के छोर
> भोर उठि आई केलि मदिर के द्वार पर ।
> एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे
> एक कर-कज एक कर है किवार पर ॥[2]

नखशिख

संयोग शृंगार से ही सम्बन्धित ग्रन्थ रचनाओं में "नखशिख" वर्णन का अपना

---

१. मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ६८, पृ० २६६
२. पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द १२४, पृ० १०६

स्थान है। रीतिकाल मे नखशिख सम्बन्धी अनेक रचनाओ का उल्लेख है। ये रचनायें भी दो रूपो मे विभाजित की जा सकती हैं-पहले मे नखशिख की वे रचनायें जो क्रमश नायिका के शारीरिक अग-प्रत्यगो को लेकर चली हैं। दूसरे मे नखशिख सम्बन्धी वे रचनायें जिनमे किसी विशिष्ट अग की रचना है।

नखशिख पर जो स्वतन्त्र रचनायें अब तक प्राप्त हुई हैं उनमें रसलीन कृत अग दर्पण, नृपशम्भु कृत नखशिख, चन्द्रशेखर कृत नखशिख, ग्वाल कृत नखशिख इत्यादि प्रमुख मानी जाती हैं। कुछ रचनायें ऐसी भी हैं जो किसी अग विशेष को लेकर लिखी गई हैं। इनमे मुबारक द्वारा लिखित "तिल शतक" और "अलक शतक" मुख्य रूप से आती है।[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार-'१८वी शताब्दी मे अल्मोडे के विश्वेश्वर कवि ने "रोमावली शतक" नामक ग्रथ की रचना की थी। आगे चलकर मुबारक आदि कवियो ने अलक शतक, तिलक शतक जैसे ग्रन्थो की रचना इसी से प्रभावित होकर की।"[2] लाला सीताराम का अनुमान है कि मुबारक ने नायिका के शरीर के दस भागो मे सम्बन्धित, हर एक पर इसी प्रकार पृथक् पृथक् शतक रचना की होगी जिनमे केवल दो ही शतक---तिल शतक और अलक शतक अब उपलब्ध हैं।[3]

इस प्रकार रीतकाल मे नखशिख की परम्परा अत्यन्त विस्तार को लेकर विकसित हुई। संस्कृत कवियो ने पैर से लेकर बालो तक जिन अगो का चित्रण किया, लगभग उसी परिपाटी को रीतिकालीन कवियो ने अपनाया। रीतिकालीन कवियो के किसी भी अग के वर्णन चमत्कारिक ढग से उभरकर आये हैं।-रसलीन का त्रिवली सहित नाभि वर्णन उसी चमत्कार को स्पष्ट करता है। यथा-

मो मन मजन को गयो उदर रूप सर धाय।
पर्यो सु त्रिवली भँवर तें नाभी भँवर दिखाय ॥[4]

इसी प्रकार अन्य अगो के अनेक वर्णन हैं, जो परम्परा-भुक्त चमत्कार तथा पुराने उपमानो पर ही आधारित हैं-भिखारीदास ने नायिका के "अयत्नज अलकारो"

---

१ इन समस्त रचनाओ का प्रकाशन भारत जीवन प्रेस काशी से हो चुका है।

२ हिन्दी साहित्य-उसका उद्भव और विकास-डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (द्वि० स०) पृ० २११

३ "It is believed that he compiled a hundred verses on each of the ten parts of the heroines' body of which only two have come down to us, the 'Tilakshatak and 'Alakshatak"

Selection from Hindi-Literature Book VI Part I Page-153

By-Lala Sitaram

४ अग दर्पण-रसलीन-पृ० २, छन्द स० १४३-(मु० स०-१९०५)

का उल्लेख करते हुये नखशिख की प्रभा को विशेष रूप से शोभा, कान्ति और सुदीप्ति युक्त ही स्वीकार किया है । यथा–

युवा सुन्दरी गुन भरी, तीन नायिका लेखि ।
सोभा कांति सुदीप्ति युत नखसिख प्रभा विसेखि ॥[1]

देव ने एक ही कवित्त में बहुत से अंगों को समेट लिया है । प्रथम चार पंक्तियों में क्रमशः अंगों को लिया और बाद की चार पंक्तियों में क्रमशः उनके उपमानों को ग्रहण किया है –

केशि भाल भृकुटि नयन श्रुति औ कपोल
नासिका अधर दंत चिबुक विचारिये ।
कंठ कुचनाभी त्रिवली औ रोमावली
कटि भुज कर जानु पग प्यारी के निहारिये ।
कुहूतम चन्द चाप खजन कनक पुट
पत्र सुक विम्ब मोती चम्पकली वारिये ।
कंदु निंबु कूप नदी सैवाल मृनाललता
पल्लव कदलि कंज चेरे करि डारिये ।[2]

कवित्त का भाव स्वतः ही स्पष्ट है । रीतिकाल में श्रृंगार की परम्परा विस्तार को लेकर पल्लवित हुई । कवियों ने अलग-अलग अंगों के वर्णन में पुराने एवं परम्परागत उपमानो का ही प्रयोग किया । आगे पंचम अध्याय में नखशिख परम्परा और उसके विकास के ऊपर और भी अधिक सविस्तार प्रकाश डाला जायगा ।

संक्षेप में, रीतिकालीन श्रृंगार के संयोग पक्ष तथा वियोग पक्ष की व्यंजना सामन्तीय स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त वातावरण में अमरवेल के समान फैलकर पनपती रही । अपने आश्रयदाताओं के हरमों में रहने वाली नायिकाओं और उनके नायकों के चित्रांकित करने में ही समस्त कवियों ने अपना मुख्य उद्देश्य समझा । तथा जिस प्रकार अमरवेलि किसी वृक्ष के ऊपर आच्छादित होकर उसे जर्जरित वना देती है, उसी प्रकार समस्त सामन्तवर्ग को उसके महलों में पनपने वाली कामुक वृत्ति ने निर्बल वना दिया था । अतः नायिकाओं के रंग रूप तथा वेशभूषा ने उनकी प्रवृत्ति को खूब रंग विरंगा बनाकर ऐसा रंग चढ़ा दिया, जिससे समस्त काल की भावना ही रँगीली वन गई । यही कारण है कि श्रृंगारिक–प्रवृत्ति को इस युग में खूब प्रश्रय प्राप्त हुआ ।

निष्कर्ष

"श्रृंगार" का सम्यक् विवेचन करने पर यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है कि

---

१. श्रृंगार निर्णय–आचार्य भिखारीदास, पृ० सं० ९, छन्द संख्या २९

२. देव ग्रन्थावली–भाव विलास–पाँचवाँ विलास–छन्द ६४, पृ० १२५
(सम्पा० लक्ष्मीधर मालवीय–प्र० सं०)

रति और काम के योग से सौन्दर्य के जिस स्वरूप का जन्म हुआ, उसने लौकिक भूमि पर भी अलौकिक आनन्द की सृष्टि की, जिसमे समस्त ससार का हृदय उसी प्रकार लहलहा उठा, जिस प्रकार पावस की बूँदो का सयोग पाकर मुरझाये हुए कण भी लहलहा उठते हैं।

अतएव शृगार की जो स्रोतस्विनी ऋग्वेद के जिस कथा सूक्त से प्रवाहित हुई वह वैदिक साहित्य मे धार्मिक पृष्ठभूमि का सिंचन कर उसे उर्वर बनाती रही। रामायण युग मे वह दाम्पत्य जीवन को हरा भरा बनाने मे एव महाभारत तथा पौराणिक युग मे समस्त समाज और दाम्पत्य जीवन की परिधियो एव आध्यात्मिकता को निस्सीम करने मे अपना पूरा-पूरा सहयोग देती रही और लौकिक महाकाव्यो मे वही सरस रस की धारा प्रवाहित करती हुई अविरल गति के साथ गतव्य की ओर धीरे-धीरे बहने लगी।

सस्कृत के लौकिक महाकाव्यो का निर्माण युगीन परिस्थितियो मे पनपती हुई विलास और ऐश्वय की भावना के परिणामस्वरूप ही हुआ, यही कारण है कि शृगारिक लघुगीत-काव्यो मे श्रेष्ठ कहलाने वाले गीत-गोविन्द आर्यासप्तशती और अमरुशतक जैसे अनेक काव्यो की सर्जना हुई। इनमे समय की गतिविधियो के कारण नायक-नायिकाओ के ऐसे चित्र उभरकर आये जो स्वाभाविक रूप से शास्त्रीय ग्रथों से प्रभावित थे। भक्तिकालीन काव्यो मे प्रेरणा ले भक्ति के क्षेत्र मे भी राधाकृष्ण का ऐसा शृगारिक रूप अकित किया गया जिसमे लौकिक स्वरूप की वासनात्मक क्रियायें रीतिकाल से पूर्व ही दृष्टिगोचर होने लगी थी। फिर रीतिकाल मे तो यही शृगार का निर्झर सरिता के परम विस्तार के समान कही पर उथला और कहीं पर अत्यन्त गम्भीर दृष्टिगत होने लगा। इस प्रकार भक्ति युग के कवियो ने भक्ति की आड लेकर शृगार के जिन बीजो का रोपण किया, वे रीतिकाल की उर्वरा भूमि मे अधिक लहलहा उठे तथा उनके पोषण करने मे तत्कालीन सामन्त वर्गीय कामुक वृत्ति अपना अधिक योग देती रही।

२ | संयोग-श्रृंगार

समस्त विश्व साहित्य की कवित्व-मनीषा सदैव मानव-कल्याण के हेतु अपार आनन्दमयी भूमि की खोज करती रही है। यद्यपि इसकी प्रेरणा-शक्ति उसकी व्यक्तिगत अनुभूति है, किन्तु परिस्थिति और वातावरण के साथ पूर्ण आत्मसात् करने के कारण वह व्यक्ति विशेष तक सीमित न रहकर समष्टिगत बन जाती है। अतः श्रृंगार की रस-धारा जब काव्य-सरिता के रूप में प्रवाहित होती है तो समस्त रसिको के मानस को सुख पहुँचाती है। इसीलिए संयोग में प्रेमीजनों की मिलन की प्रवृत्ति उन्हें अपार आनन्दमयी भूमि पर प्रतिष्ठापित कर देती है। इसमें अनिर्वचनीय सुख की मात्रा का सहज ही समावेश रहता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में संयोग-श्रृंगार का पर्याप्त विवेचन किया गया है। आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक अनेक आचार्यों ने संयोग-श्रृंगार की परिभाषा देते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अतः संस्कृत तथा रीतिकालीन हिन्दी काव्य में वर्णित संयोग-श्रृंगार की चर्चा करने के पूर्व पृष्ठ-भूमि के रूप में कतिपय प्रमुख आचार्यों की संयोग अथवा संभोग श्रृंगार विषयक मान्यताओं को देखना समीचीन होगा—

आचार्य भरतमुनि ने संयोग के विषय मे अपना मत देते हुए कहा है-"इनमें सम्भोग, ऋतु, मालायें, अनुलेप, गहने, प्रियजन-विषय, अच्छा घर, उपवन-गमन, अनुभाव, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा, लीला आदि विभावों से उत्पन्न होता है।"[1] आचार्य भरत ने यहाँ श्रृंगार के लिए विशद क्षेत्र की कल्पना की है। बाद के लगभग सभी आचार्यों ने इन्ही का अनुकरण किया है।

दशरूपककार धनंजय के मतानुसार—"अनुकूल विलासी जहाँ परस्पर दर्शन,

---

१. तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुलमायानुलेपनालंकारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवन-गमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा—डॉ० नगेन्द्र— द्वितीय संस्करण, १९६४ (हिन्दी पाठ–पृ० ५, नाट्यशास्त्र मूल पाठ–पृ० १७)

स्पर्शन इत्यादि बातों का प्रसन्नता पूर्वक सेवन करते हैं, वहाँ आनन्द से पूर्ण सम्भोग शृंगार होता है।"[१]

इसी प्रकार आचार्य भानुदत्त ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है कि "दर्शन, स्पर्शन, सलाप इत्यादि से अनुभूयमान सुख अथवा परस्पर संयोग से उत्पद्यमान आनन्द ही संयोग है। यह संयोग बहिरिन्द्रिय सम्बन्ध होता है।"[२]

आचार्य विश्वनाथ ने संयोग का परिचय देते हुए कहा है—"जहाँ परस्पर प्रेम में अनुरक्त नायक, नायिका दर्शन, स्पर्शन आदि का अनुभव करते हैं, वह सम्भोग-शृंगार कहलाता है।"[३]

पण्डितराज जगन्नाथ ने संयोग के विषय में कुछ अधिक विस्तार से दृष्टिकोण देते हुए कहा है कि स्त्री-पुरुष में संयोग के समय प्रेम हो तो संयोग शृंगार कहलाता है। परन्तु संयोग का अर्थ स्त्री-पुरुष का 'एक स्थान पर रहना' नहीं है क्योंकि एक शय्या पर शयन करते हुये दम्पत्ति में यदि ईर्ष्या आदि विद्यमान हो तो विप्रलम्भ रस का वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी अलग रहना नहीं है क्योंकि यह दोष वहाँ पर भी उपस्थित रहता है। अतः यह मानना चाहिए कि संयोग और वियोग—ये दोनों एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं और वह है-'मिला हुआ हूँ' और 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान।"[४]

---

१ अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः॥
दशरूपक—चतुर्थ-प्रकाश, श्लोक ६९, सम्पादक हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा पृथ्वीनाथ द्विवेदी, संस्करण-१९६३

२ तत्र दर्शनस्पर्शनसल्लापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्परसंयोगोत्पद्यमानं आनन्दो वा संयोगः। संयोगबहिरिन्द्रियसम्बन्धः।
रसतरंगिणी—सप्ततरंग श्लोक—६

३ दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः॥
साहित्य-दर्पण—सम्पादक—डॉ० सत्यव्रतसिंह ३।२१० प्रथम संस्करण

४ तत्र शृंगारो द्विविधः। संयोगो विप्रलम्भश्च। तत्र संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः। वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः। संयोगश्च न दम्पत्योः समानाधिकरणयम्। एकतल्पेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्। दोषस्योक्तत्वात्। तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यान्तःकरणवृत्तिविशेषौ। यत्संयुक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः।

रस गंगाधर—पण्डितराज जगन्नाथ, पृ० ३४
नागेश भट्ट की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस बम्बई (सं० १९१६)

पण्डितराज के इस कथन से प्रमाणित हो जाता है कि नायक, नायिका के एक स्थान पर रहने पर भी उनके मन में परस्पर मिले रहने की भावना का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। अतः शारीरिक मिलन के साथ प्रेमियों की परस्पर आन्तरिक भावना के पूर्ण तादात्म्य द्वारा ही संयोग की पुष्टि हो सकती है।

रीतिकाल में लगभग सभी आचार्यों ने संस्कृत-कवियों की परिभाषा के अनुसार ही अपनी अभिव्यक्ति दी है।[1]

इन समस्त परिभाषाओं के आधार पर संयोग के विषय में कहा जा सकता है कि जब नायक-नायिका एक दूसरे के साथ बिना किसी भेद-भाव, जैसे ईर्ष्या आदि से रहित होकर सामीप्य के कारण प्रसन्नता की अनुभूति प्राप्त करें—वहाँ संयोग अथवा सम्भोग शृंगार होता है। अतएव संयोग की अभिव्यक्ति परस्पर—प्रत्यक्ष दर्शन, स्पर्शालिङ्गन, संकेत, होली, जल-क्रीड़ा, निषेधात्मक स्वीकृति, सुरतिकेलि, सुरतान्त इत्यादि अनेकरूपों में होती है।

परस्पर दर्शन

संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों के अन्तर्गत नायक-नायिका के परस्पर-दर्शन को लेकर मुख्य रूप से तीन भेद किये गये हैं, जिनमें स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन तथा प्रत्यक्ष-दर्शन[2] आते हैं, किन्तु रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः नायक-नायिका द्वारा एक दूसरे के गुण श्रवण द्वारा प्रभावित होकर 'श्रवण' को भी दर्शन के अन्तर्गत ले लिया है।[3] इस दृष्टि से दर्शन के श्रवण-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन ये चार भेद

---

१. उदाहरणार्थ रीतिकालीन कवियों की कतिपय परिभाषायें यहाँ दृष्टव्य हैं—

(अ) जहाँ प्रीति सों दम्पती विलसत रचत बिहार।
चिन्तामनि कवि कहत यों तहँ संयोग सिंगार॥

कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि ८—३, ८, ९ (नन्दकिशोर प्रेस (प्र० सं०)

(ब) प्रमुदित नायक नायिका जिहिं मिलाप में होत।
सो संजोग सिंगार कहि वरनत सुमति उदोत॥३४४॥

मतिराम-ग्रन्थावली, सम्पादक : कृष्णविहारी मिश्र—रसराज (प्र० सं०)

(क) जानु संजोग दरसऽरु रस बाहिर की रीति।
दम्पति हिय के मोद को करि संयोग परतीति॥१४०॥

रसलीन ग्रन्थावली, सम्पादक : सुधाकर पाण्डेय—रस प्रबोध (प्र० सं०)

२. भानुदत्त कृत रसमञ्जरी—सुषमा हिन्दी व्याख्या सहित, पृ० १२४

३. दरसन आलम्बनि में, छवि मतिराम सुजान।
श्रवन, स्वप्न अरु चित्तयों, पुनि प्रत्यक्ष बरवान।
मतिराम कृत रसराज—सम्पादक : श्री रामजी मिश्र, छन्द सं० २७५

हो जाते हैं। संस्कृत काव्यों मे इन चारो की व्यंजना विद्यमान है। उदाहरण के लिए श्रीमद्भागवत पुराण के अन्तर्गत उषा और अनिरुद्ध के प्रेमाख्यान का प्रसंग बड़ी ही मनोरम पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे प्रारम्भ मे ही प्रत्यक्ष दर्शन तथा पाठ सग म चित्र-दर्शन एव 'मेघदूत' मे स्वप्न-दर्शन की अवतारणा है। श्रीहर्ष कृत 'नैषध' के अन्तर्गत नल और दमयन्ती के बीच श्रवण-दर्शन तथा चित्र-दर्शन की व्यञ्जना है। दर्शन की इस परम्परा को हिन्दी साहित्य मे कवियो ने बडी ही रुचि के साथ स्वीकार किया है। भक्तिकाल मे जायसी ने 'पद्मावत्' के अन्तर्गत श्रवण-दर्शन द्वारा नायक रत्नसेन के समक्ष पद्मावती के रूप सौन्दर्य की झांकी तोते के माध्यम से प्रस्तुत कर कथानक को नवीन ढग से प्रस्तुत किया। इसके पश्चात तुलसी ने जनक की पुष्प-वाटिका मे राम और सीता के मध्य परस्पर प्रत्यक्ष-दर्शन की स्थिति उत्पन्न कर रामचरित-मानस के कथानक को सुन्दर मोड प्रदान किया। इसी प्रकार अन्य बहुत से कवियो ने भी दर्शनो के माध्यम से अपने-अपने काव्यो की कथावस्तु को प्रकट किया। रीतिकाल के कवियो ने भी यथा-स्थान इन दर्शनो को प्रस्तुत किया।

काव्य मे दर्शनो के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य कथानक की शृखला को जोडना तथा प्रेम के उज्ज्वल रूप की झांकी प्रस्तुत करना है। कवियो ने यद्यपि अधिकाश दर्शनो का वर्णन विप्रलम्भ-शृगार के अन्तर्गत किया है, फिर भी उन्होंने प्रत्यक्ष-दर्शन को शृगार की सयोगात्मक-अनुभूति स्वरूप भी ग्रहण किया है। अत परस्पर प्रत्यक्ष-दर्शन सयोग और वियोग दोनो को ही व्यजित करता है।

प्रत्यक्ष-दर्शन

दर्शन की अनुभूति प्रेमी और प्रेमिका दोनो के लिये अत्यन्त ही आह्लाद-दायिनी होती है। प्रणय का आरम्भ भी परस्पर-दर्शन के माध्यम से ही होता है। नायक-नायिकाओं का नयनो द्वारा कटाक्ष-निपात एव अपागो से देखना, ये एक दूसरे के समीप प्रेम प्रेषित करने के साधन हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यौवन के कगार पर जब मुग्ध भाव के साथ नायक अथवा नायिका मे से कोई भी किसी एक पर दृष्टि-विक्षेप द्वारा अपने प्रणय का परिचय देता है तभी प्रेम का प्रारम्भ होता है। इस मुग्ध भाव द्वारा देखने पर नायक और नायिका दोनो के हृदय मे प्रणय का बीजारोपण होना अत्यन्त ही आवश्यक है। एकागी प्रेम सयोगात्मक स्थिति की कोटि मे किसी भी प्रकार नही गिना जा सकता। अतएव सयोग के लिये 'प्रत्यक्ष-दर्शन' महत्त्वपूर्ण स्थिति तो है ही साथ ही मनोरम भी है। यही कारण है कि समस्त कवि-समाज इसकी अनुभूति द्वारा स्वत ही प्रभावित हुआ।

रीतिकालीन हिन्दी कविया ने संस्कृत-कवियो से प्रभावित होकर 'प्रेम-व्या-

पार' की इस स्थिति को स्वतन्त्र रूप मे अत्यन्त रुचि के साथ ग्रहण किया । इस युग के काव्यों में प्रत्यक्ष-दर्शन की जिस भावपूर्ण स्थिति का संयत होकर अंकन किया गया, वह निस्सन्देह सराहनीय है । कवियों के वर्णन के आधार पर मुख्य रूप से प्रत्यक्ष-दर्शन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है ।

(१) प्रथम-दर्शन ।

(२) परिचयोपरान्त-दर्शन ।

प्रथम-दर्शन

जब नायक-नायिका प्रथम बार एक दूसरे को निहारकर प्रणय की अनुभूति करते हैं, तब प्रथम दर्शन की स्थिति होती है । रीतिकालीन कवियो ने प्रथम-दर्शन के अनेक चित्र उभारे हैं । विहारी, पद्माकर इत्यादि कवियों के अनेक वर्णन बड़ी ही रुचि के साथ प्रकट हुए हैं ।

प्रथम-दर्शन जनित प्रणय से विहारी के नायक-नायिका की मनोदशा का यह चित्रण दर्शनीय है--

> दोऊ चाह भरे कछू चाहत, कह्यौ, कहैं न ।
> नहि जाचकु सुनि सूमलौं, वाहर निकसत वैन ।।[1]

नायक और नायिका दोनों एक दूसरे के समक्ष खड़े होकर प्रथम बार प्रणय की अनुभूति प्राप्त करते हैं । उनके हृदय में एक दूसरे से कहने की तीव्र लालसा है, किन्तु लज्जा और शील के भार से इतने बोझिल हैं कि परस्पर एक बात भी नहीं कर पाते है । इनके मुख से व्यक्त होने वाले वचनों की स्थिति उसी प्रकार की है जैसी कि याचकों का आगमन जानकर किसी कृपण की हो जाती है । अर्थात् जिस प्रकार याचक वृन्द को धन प्रदान करने के भय से कोई कृपण घर के बाहर नहीं आता, उसी प्रकार लज्जा और शील ने नायक-नायिका के वचनों को इतना अवरुद्ध कर दिया है कि वे इच्छुक होते हुए भी परस्पर कुछ भी नही कह सकते ।

इसी प्रकार परस्पर अवलोकन से पद्माकर के नायक-नायिका की दशा दृष्टव्य है जिसमें दोनों ही एक दूसरे के समक्ष स्तम्भित है--

> आजु ही की वा दिखादिखी में दसा दोउन की नहिं जाति कही है ।
> मोहन मोहि रह्यो कबको कब की वह मोहनी मोहि रही है ।।[2]

यहां नायक-नायिका की प्रथम-दर्शन में ही ऐसी दशा हो जाती है कि कवि भी स्वयं को उनकी अवस्था का वर्णन करने में असमर्थ पाता है । प्रथम बार ही

---

१. विहारी रत्नाकर--सम्पादक : पण्डित जगन्नाथदास रत्नाकर, दोहा--५४५

२. पद्माकर ग्रन्थावली--जगद्विनोद--सम्पादक : पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द--५१२, पृ० १८८

परस्पर अवलोकन में दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षित तो हो जाते हैं, किन्तु इतने स्तम्भित भी हो जाते हैं कि एक दूसरे से कुछ कह नहीं सकते ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों पर विचार करने के पश्चात् जब हम संस्कृत काव्यों का अवलोकन करते हैं तो ज्ञात होता है कि रीतिकाल के दोनों कवियों का प्रेरणा स्रोत सम्भवत कालिदास के 'कुमार सम्भव' का निम्नलिखित वर्णन है, जिसमें नायक-नायिका, शिव-पार्वती के नेत्र एक दूसरे के समक्ष होने पर थोड़ी देर के लिए तो एक दूसरे से मिलते हैं, किन्तु पुन लज्जावश अलग हो जाते हैं । उन्हे भय है कि उनके कार्य-कलाप पर समीप के जन कुछ सोचने न लगें यथा—

> तयो समापत्तिषु कातराणि किञ्चिद्व्यवस्थापितसंहृतानि ।
> ह्रीयन्त्रणा तत्क्षणमन्वभूवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥[1]

कालिदास ने प्रस्तुत प्रसग को 'कुमार सम्भव' के अन्तर्गत शिव-पार्वती के परिणय-महोत्सव के लिए चुना है । यहाँ दोनो प्रेमी शिव-पार्वती भी उक्त रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के तुल्य लज्जा और शील से इतने दबे हुए हैं कि परस्पर वार्ता तो दूर रही, परस्पर देखने मे भी उन्हे दूसरे लोगों के द्वारा सोचने का भय लगा रहता है । यद्यपि ये दोनो प्रेमी भी रीतिकालीन प्रेमियो के समान पूर्णरूप से परस्पर आकर्षित हैं किन्तु लज्जा से इतने दबे हुए हैं कि स्वतन्त्र होकर आपस मे कुछ अधिक समय के लिए अपने नेत्रों को भी नहीं मिला सकते, जबकि रीतिकालीन प्रेमी एक दूसरे को अच्छी तरह देखकर परस्पर आकर्षित हो रहे हैं । थोड़ी सी कमी यही रह जाती है कि परस्पर बोल नही पाते । इसके अतिरिक्त कालिदास का वर्णन सीधा-सादा है जबकि बिहारी और पद्माकर के क्रमश 'नहि जाचकु मुनि सूम लौं' एव "मोहन मोहि रह्यो कबको कबकी वह मोहिनी मोहि रही है"—ये प्रसग कालिदास के प्रसगों की अपेक्षा नवीनता से युक्त है । बिहारी के वर्णन मे 'जाचकु' और 'सूम' शब्दो की अन्योन्याश्रित कल्पना पूर्ण रूप से स्वतन्त्र तो है ही, साथ ही ध्वनि संयुक्त भी है । प्रत्यक्ष-दर्शन के अन्तर्गत बिहारी और पद्माकर ने कालिदास के श्लोक से भाव-मात्र ही ग्रहण किया है । परिस्थिति और वातावरण की दृष्टि से इनमे पर्याप्त अन्तर है । अत इन दोनों कवियों ने 'कुमार सम्भव' के प्रसग की प्रेरणा से ही सम्भवतया अपने-अपने प्रसग का सृजन किया, तथा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन कर स्वतन्त्र भाव विन्यास का परिचय दिया ।

---

१ कालिदास ग्रन्थावली—कुमार सम्भव, सातवाँ सर्ग, श्लोक—७६ सम्पादक— प० रामप्रताप त्रिपाठी (यह श्लोक यद्यपि प्रथम-दर्शन का नही है, किन्तु रीतिकाल के उक्त प्रसगों मे मिलता है । अतएव इसको तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ रखा गया है ।)

मतिराम ने प्रत्यक्ष-दर्शन में प्रथम दर्शन जनित प्रेम का चित्र बड़ी ही सावधानी के साथ अंकित किया है। प्रिय की छवि का साक्षात्कार जब अनायास ही हो जाय, तब कहना ही क्या है ? उस समय आनन्द की जो धारा हृदय में प्रवाहित होती है, उसका अनुभव केवल प्रेमी ही कर सकता है। यथा–

देखत ही 'मतिराम' रसाल गही मति प्यारी की प्रेमन गाढ़ी।
चाहिवे की चितचाह भई हिय तैं कुलकानि न जाति है काढ़ी।
संग सखीन को जानि दुरावति, आनन आनँद की रुचि वाढ़ी।
पाँइ परे मग मैंन मरूकै भई मिस लाजन के फिर ठाढ़ी ॥[1]

इसी भाँति प्रिय के प्रेम मे पगी प्रथम बार अवलोकन से प्रिय के नयन वाण से घायल मतिराम की दूसरी नायिका भी दर्शनीय है–

"लेन कौं फूल निकुञ्जन माँझ गयो मिलि गोपिन को गन भायो।
नन्दलला तिय के हिय मैं 'मतिराम' तहाँ दृगबान खुमायो।
गेह चलीं सखियाँ सगरी चित सुन्दर साँवरे रूप लुभायो।
आँखिन पूरि कटीले कपोलनि कंटक कोमल पाँय चुभायो ॥"[2]

इस नायिका के कार्य कलाप से ऐसा लगता है कि समस्त सखियों के गेह को प्रस्थान करने पर भी यह प्रिया, साँवरे के रूप पर इतनी मुग्ध हो जाती है कि सात्त्विक भाव के रूप में आँखों में आए हुए अश्रु और कपोलों पर उठे हुए रोमाञ्च को छिपाने के हेतु पैरों में कंटक चुभा लेती है जिससे किसी देखने वाले को वस्तु-स्थिति का ज्ञान न हो सके तथा कुछ देर प्रिय को वह देख भी सके।

कालिदास की नायिका भी प्रिय के प्रथम प्रेम में ऐसी रंग जाती है कि वह किसी न किसी वहाने अपने हाव-भाव प्रकट कर ही देती है किन्तु लज्जा उसे भी दवाये हुए है। इसका स्पष्टीकरण कवि ने दुष्यन्त के कथन द्वारा कर दिया है। यथा—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥११॥
दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥१२॥[3]

---

१ मतिराम-ग्रन्थावली–रसराज–पद संख्या–३१६, पृ० ३२२ (प्र० सं०)
सम्पादक : कृष्ण विहारी मिश्र

२. मतिराम ग्रंथावली–ललित ललाम–छन्द ३६५, पृ० ४२२ (प्र० सं०)

३. अभिज्ञानशाकुन्तल–द्वितीय अंक–श्लोक–११-१२

संस्कृत काव्यों से ये दोनों उदाहरण कालिदास के "अभिज्ञान-शाकुन्तल" से ग्रहण किए गए हैं। दुष्यन्त और शकुन्तला के मध्य प्रथम बार ही परस्पर अवलोकन द्वारा प्रणय का सूत्रपात हो जाता है। अत शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त को मुग्ध-भाव से देखने का वर्णन इसमें व्यक्त है। दुष्यन्त के वचन द्वारा कवि ने इस भाव को पकड़ा है। प्रिय के सम्मुख होने पर शकुन्तला का लज्जावशात् अपनी आँखें हटाकर किसी न किसी बहाने से हँसना, शील से बोझिल होने के कारण अपने भावों को प्रकट करने में असमर्थ होना, तत्पश्चात् कुछ ही दूर जाने पर पैर में दर्भाङ्कुर चुभने का और वल्कल का वृक्ष की शाखा में उलझने का नाट्य तथा इसी बहाने से प्रिय की ओर कुछ देर तक मुँह करके खड़े होना, आदि अवस्थायें अत्यन्त मनोरम एव सजीव हैं।

कालिदास के इस प्रसग की छाप स्पष्ट रूप से मतिराम के उक्त दोनों उदाहरणों पर लक्षित हो रही है। मतिराम की पहली नायिका के हृदय में यदि "कुल-कानि" विद्यमान है तो कालिदास की नायिका भी शील में आबद्ध है। दोनों ही कवियों की नायिकाएँ अपने अपने प्रिय को देखने के लिए कुछ बहाना बनाकर क्षणभर को खड़ी हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त एक ओर मतिराम की दूसरी नायिका प्रिय को देखकर सात्विक भावों को छिपाने के लिए अपने कोमल पैरों में कटक चुभा लेती है तो दूसरी ओर कालिदास की नायिका प्रिय का अवलोकन कर अपने कोमल चरणों में दर्भाङ्कुर चुभने का और वल्कल उलझने का नाट्य करती है। अत इन समस्त दृष्टियों से दोनों कवियों के भावों में पर्याप्त समानता है, किन्तु मतिराम ने जिस परिस्थिति और वातावरण को दृष्टिगत करते हुए इन प्रसगों की योजना की है, वह निस्सन्देह भिन्न है। शब्द योजना तथा भाव योजना की दृष्टि से दोनों ही कवियों के प्रसग श्रेष्ठ हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कालिदास ने प्रत्येक भाव-वृत्ति को नाटकीय ढग से रुचि के साथ स्पष्ट किया है, उसी प्रकार मतिराम ने भी "सग सखीन की जानि दुरावति", 'आँखिन पूरि कटीले कपोलनि कटक कोमल पाँय चुभायो" इत्यादि परिस्थितियों को नाट्य ढग प्रदान करते हुए अपनी भाव-वृत्ति के उन्मेष का परिचय दिया है। अतएव मतिराम ने जिस भाव की प्रेरणा संस्कृत कवि कालिदास से प्राप्त की, उसे अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा अत्यन्त प्रखर और सशक्त बना दिया। अत मतिराम के उपर्युक्त दोनों छन्दों में कालिदास के भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति और उन्मेष है।

रीतिमुक्त कवि आलम ने नायिका के प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रणय का बड़ा ही उत्कृष्ट चित्र उपस्थित किया है। इसे कालिदास के उक्त प्रसग की तुलना में रखा जा सकता है। यथा—

> राजहू की ठौर तिहि ठौर है सचेत इत,
>
> कोरहू सौं जोरि नैन सखी मुसकाति है।

वांधति दृंगचलनि वीच मनु मानो चलि,
चिकने से नेह गाँठि छटि छूटि जाति है।[१]

आलम ने नायिका के इस चित्र को वड़ी सूक्ष्म कल्पना द्वारा अंकित किया है। कालिदास और मतिराम की नायिकाओं के समान आलम की यह नायिका भी शील और लज्जा के कारण अपने नायक को जी भर कर नही देख पाती। कालिदास की नायिका प्रिय को देखने के लिए वृक्ष की शाखा में वल्कल उलझाने का वहाना वनाती है तो मतिराम की नायिका पैर में कंटक चुभा लेती है, किन्तु आलम की यह नायिका प्रिय को देखने के लिए केवल चञ्चल पलकों के मध्य मन को वाँधना ही चाहती है। अतः मुग्ध भाव से देखने, सखी के द्वारा व्यवधान डालने की दृष्टि से तो यह प्रसंग कालिदास और मतिराम के उक्त प्रसंगों से मिलता है किन्तु 'चञ्चल पलकों' में मन को वाँधने तथा 'नेह की चिकनी गाँठ' की कल्पना करने की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है और मौलिक है। अन्तिम पंक्ति में "नेह" की "गाँठ" के लिए "चिकने" शब्द की कल्पना वड़ी सार्थक है तथा नायिका की मनःस्थिति के मनोविज्ञान को परखने की दृष्टि से भी यह छन्द वड़ा ही सजीव है।

प्रथम दर्शन द्वारा प्रिया के हृदय में प्रथम प्रणय के प्रथम सूत्रपात का चित्रण कवि देव के निम्नलिखित प्रसंग में वड़ी ही रुचि के साथ अंकित है। देव की नायिका यौवन की देहली पर अपने चरण प्रतिष्ठापित करती है ऐसी अवस्था में प्रिय-कटाक्षों से घायल उसकी दशा कैसी हो गई है, देखिए-

गोरी सी ग्वालिनि थोरी सी वैस जगी तन जीवन जोति नई है।
आवत ही जवहीं उततें कवि देव सु नैक इतै चितई है।
योंहि कटाछनु मोहि चितौत चितौतहि मोहन मोहि लई है।
व्याव हनी हरनी लौं वधू वह वा घर लौं महरात गई है।।[२]

देव की यह ग्वालिनी प्रथम तो शुभ्र वर्णा है ही दूसरे इसकी वय भी थोड़ी है अर्थात् इसने नवीन यौवन की उम्र में प्रवेश किया है, इसीलिए उसके अंग-प्रत्यंगों में नवीन जीवन की छटा व्याप्त हो जाती है। वह कही से आती हुई किसी मोहन को देखकर कटाक्षों द्वारा घायल हो जाती है। तव व्याध के द्वारा हनन की गयी मृगी के समान उसकी अवस्था हो जाती है।

संस्कृत काव्य "कुट्टनीमत" के प्रणेता दामोदर गुप्त की नायिका हारलता की भी दशा अपने प्रिय को देखने पर देव की नायिका के समान ही हो जाती है। यथा-

---

१. आलमकेलि-सम्पादक : लाला भगवानदीन, संस्करण प्रथम-छन्द ५३, पृष्ठ २३
२. देव ग्रन्थावली-भाव विलास-द्वितीय विलास-छन्द १२, पृष्ठ ६५

आविर्भवदनुरागे तस्मिन्नथ वलितलोचना सहसा ।
सापि बभूव मृगाक्षी हस्तगता कुसुमचापस्य ॥[1]

कुट्टनीमत के अन्तर्गत वर्णित सुन्दरसेन और हारलता की प्रणय-कथा का उत्स प्रवाहित करने के निमित्त प्रस्तुत श्लोक की स्थापना की गई है । हारलता को प्रथम बार देखकर सुन्दरसेन अनुराग से पूर्ण हो जाता है, उसी समय सुन्दरी हारलता जैसे ही सुन्दरसेन को दृष्टिगत करती है वैसे ही वह प्रेम के रंग में निमग्न हो जाती है ।

कवि देव के प्रसंग से कुट्टनीमतकार का यह प्रसंग बहुत कुछ साम्य लिए हुए है क्योंकि जिस प्रकार किसी मोहन को प्रेम पूर्ण कटाक्ष करते देखकर देव की नायिका प्रणय की अनुभूति प्राप्त करती है, उसी प्रकार अपने प्रणयी सुन्दरसेन को देख कुट्टनीमतकार की नायिका भी प्रेम के सुख का अनुभव करती है । कवि देव ने इस प्रसंग की प्रेरणा संस्कृत के प्रसंग से लेकर भावना की तूलिका द्वारा कुछ अधिक रंग भरकर "व्याध हनी हरनी लौ वधू वह वा घर लौ भहरात गई है"—की योजना कर अधिक मर्मस्पर्शी बना दिया । अतः देव का प्रसंग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कुट्टनीमत के उक्त श्लोक का भावानुवाद है ।

परिचयोपरान्त दर्शन

प्रथम दर्शन के पश्चात् विभिन्न अवसरों पर नायक-नायिका के पुनः-पुनः जो पारस्परिक दर्शन होते हैं उन्हें परिचयोपरान्त दर्शन के अन्तर्गत रखा जा सकता है । इन दर्शनों के कारण दोनों के हृदय में प्रेम के बीज स्थिर हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप सात्विक-भावों की सृष्टि होने लगती है । संस्कृत तथा रीतिकालीन हिन्दी काव्यों में इस प्रकार के अनेक चित्रों की योजना की गई है । उदाहरणार्थ सर्वप्रथम बिहारी की नायिका का चित्र निहारने योग्य है । कवि ने केवल नायिका के हाव-भाव का चित्र खींचते हुए यह अभिव्यञ्जित करा दिया है कि केवल नायिका ही नायक को नहीं देख रही अपितु नायक भी उसे उत्सुक होकर निहार रहा है । यथा—

नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चितु चिहुँट्यौ तकि तीर ।
परसि फुरहरी लै फिरत विहँसति, धँसति न नीर ॥[2]

नायिका सरोवर पर स्नान करने के लिए आई है । वहीं पर उसका प्रिय नायक भी आ जाता है । वह अपने प्रिय को देखकर ऐसी स्तम्भित हो जाती है कि न तो वह घर ही जा सकती है और न सरोवर में स्नान करने के निमित्त प्रवेश ही कर सकती है । क्योंकि उसका चित्त किनारे पर खड़े होकर उसे देखने वाले नायक

---

१ कुट्टनीमत—श्लोक—२६६
२ बिहारी रत्नाकर—दोहा—६४५, पृष्ठ २६५, संस्करण—१९६५

की ओर लगा हुआ है। अतः वह शीत के बहाने जल का स्पर्श कर, फुरहरी या कम्पन तथा पुलक लेकर हँसती हुई लौट आती है तथा जल में प्रवेश नहीं कर पाती। नायक के प्रत्यक्ष दर्शन से नायिका के शरीर में उत्पन्न फुरहरी या कम्पन नायक को सात्त्विक भावों की सूचना देता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि वह नायिका मन ही मन नायक के स्पर्श की कल्पना कर आन्तरिक सुख का अनुभव कर पुलकित होती है, इसीलिए हँसती हुई वह जल में प्रवेश नहीं करती।

इसीसे मिलती-जुलती कालिदास की भी नायिका है। वह भी अपने प्रिय को देखकर विकम्पित हो जाती है। यथा—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥[1]

कुमार-सम्भव मे प्रिय की प्राप्ति—हेतु तपस्या करती हुई पार्वती के समक्ष एक दिन शिव ब्रह्मचारी का वेष धारण करके आते हैं और स्वयं शिव की ही निन्दा करते हैं। पार्वती शिव की निन्दा सहन नहीं कर पाती। वह अन्यत्र जाने को जैसे ही प्रस्तुत होती है कि तत्काल शिव अपने वास्तविक वेष में प्रिया पार्वती के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं—प्रिय को सहसा समक्ष देखकर प्रियतमा के शरीर में कम्पन और प्रस्वेद प्रकट हो जाता है। वह स्तम्भित हो जाती है। उसकी स्थिति उसी नदी के समान हो जाती है, जो कि बीच में किसी पर्वत के आने के कारण न तो पीछे ही लौट सकती है और न ही आगे बढ़ सकती है।

उपर्युक्त प्रसंगों में बिहारी और कालिदास दोनों कवियों की नायिकायें अपने-अपने प्रियतम को निहारकर कम्पित और स्तम्भित है। अतः कम्पन और स्तम्भन की दृष्टि से दोनों कवियों के प्रसगों में प्रायः समानता है। इतने पर भी भाव के वर्णन में बिहारी ने जिस सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया है, वह निश्चित रूप से प्रशंसनीय है, क्योंकि बिहारी की नायिका कम्पन का अनुभव तो नायक को देखकर करती है, किन्तु नाट्य ऐसा करती है जैसे सरोवर के जल-स्पर्श द्वारा कम्पन का अनुभव कर रही हो। यहाँ "परसि फुरहरी ले फिरत बिहँसति धँसति न नीर"—इस वाक्य द्वारा अंकित किया गया चित्र कवि की सूक्ष्म दृष्टि का ही परिचायक है। तात्पर्य यह है कि कालिदास की नायिका गम्भीर है तथा प्रेम के रंग में रँगी होने पर भी उसके हृदय में चाञ्चल्य नहीं है; जबकि बिहारी की नायिका जल-स्पर्श द्वारा "फुरहरी" लेकर "बिहँसती" है। जिससे उसके हृदय की सुखात्मक अनुभूति को पाठक भी

---

१. कुमार—सम्भव—पञ्चम सर्ग—श्लोक—८५

अनायास ही अनुभव कर लेता है। बिहारी ने अपने दोहे मे "फुरहरी" तथा "विहँसनि"—इन शब्दों के विन्यास द्वारा भाव मे गति उत्पन्न कर दी है। भाव और सरसता की दृष्टि से दोनो ही कवियों के प्रसग अद्वितीय हैं। अत यह स्पष्ट है कि भाव की दृष्टि मे बिहारी का वर्णन कालिदास का भावानुवाद है, क्योंकि जिस प्रकार अपने प्रिय शिव को देखकर पार्वती स्तम्भित होकर कम्पन आदि विभिन्न सात्त्विक भावों का अनुभव करती है, ठीक वही दशा अपने नायक को देखकर बिहारी की नायिका की भी है।

परिचयोपरान्त-दर्शन के एक सजीव चित्र की कल्पना मतिराम ने अत्यन्त सहृदयता पूर्वक की है। सहसा अपने समीप प्रिय को निहारकर बाला किंकर्तव्य-विमूढ हो जाती है। उसका यह चित्र दर्शनीय है—

चन्द्रमुखी अरविन्द की मालनि गूँदत रूप अनूप सुधारयो,
काम सरूप तहाँ "मतिराम" अनद सो नन्दकुमार पधार्यो।
देखत कंप छुट्यो तिय के तन यो चतुराई को बोल उचार्यो,
सीरे सरोज लगे सजनी कर कांपत जातु न हार सँवार्यो॥[1]

चन्द्रमुखी बाला जैसे ही अरविन्द की मालों को गूँथकर अपना रूप सँवारती है कि रसीला नायक भी सहसा वहाँ आ जाता है। उसे निहारते ही प्रिया के हृदय मे सात्त्विक भावों की सृष्टि होती है। अब करे क्या ? क्योंकि समीप मे ही सखियाँ खड़ी हुई हैं, जिससे उसे भय है कि कहीं सखियाँ उसकी स्थिति को न भाँप लें। इसलिए कुशलतापूर्वक कम्पित होने का सत्य कारण छिपाकर सरोजो द्वारा प्राप्त हुई शीतलता को ही दोषी ठहराती है।

नैषधकार श्रीहर्ष की नायिका भी प्रिय को निहारकर सात्त्विक भावों का अनुभव करती है। अत रोमांचो द्वारा उसके भावों मे जो परिवर्तन होता है—वह यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से द्रष्टव्य है—

रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावाद्वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि।
तस्यास्तदा कण्टकिताङ्ग यष्टेरुदग्री विस्तादानमिवान्वभूवन्॥[2]

यह प्रसग दमयन्ती-स्वयवर के अवसर का है। नैषधकार की नायिका दमयन्ती अपने प्रिय नल को स्वयवर के अवसर पर जैसे ही देखती है कि उसके हृदय मे सात्त्विक भावों की सृष्टि होती है। तभी तो प्रिय के रूप-सौन्दर्य को देखने के लिए उसके बाल भी खड़े हो जाते हैं।

उपर्युक्त वर्णना मे मतिराम और श्रीहर्ष की नायिकाओं के हृदय मे अपने-

---

१ मतिराम-ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ३३८, पृष्ठ ३२५
२. नैषध—श्लोक—५३, सर्ग—१४

अपने प्रियतम को निहारकर सात्त्विक भावों की सृष्टि होती है, लेकिन मतिराम का वर्णन नैषधकार की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा तथा मनोरम भी है । नैषधकार नायिका के रोमांचों का वर्णन करके ही छोड़ देता है जबकि मतिराम नायिका में प्रिय दर्शन से कम्पन तो भरते ही हैं साथ ही उसकी बौखलाहट को चित्रित कर पुनः स्थिति को सँभालकर कौशल के साथ यह भी कहला देते हैं कि "सीरे सरोज लगें सजनी कर काँपत जात न हार सँवारयौ ।।" अस्तु, यह "सीरे सरोज" लगने की योजना कवि की स्वतंत्र कल्पना है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने सम्भवतया इस प्रसंग से प्रेरणा तो ली हो किन्तु प्रसग को ज्यों का त्यों न लेकर उसमें अपनी कल्पना के द्वारा माधुर्य तत्त्व का सम्मिश्रण कर उसे लौकिक आनन्द की रम्य वसुन्धरा पर प्रतिष्ठापित कर दिया । मतिराम ने प्रसंग मे "सीरे" शब्द द्वारा ऐसी माधुर्यपूर्ण ध्वनि का समावेश किया है जिससे भाव मे और भी अधिक रमणीयता तथा गति आ जाती है ।

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन कवियो ने संयोग-शृंगार के अन्तर्गत प्रत्यक्ष-दर्शन का अत्यन्त रमणीय एवं मनोहारी चित्रण किया है । उन्होंने अधिकांश वर्णनों में संस्कृत काव्यों से प्रेरणा तो प्राप्त की किन्तु उनमें अपनी भाव-भीनी कल्पना को इस प्रकार अनुस्यूत किया कि समस्त प्रसग अनायास ही स्वतन्त्र प्रतीत होने लगे ।

प्रथम-दर्शन तथा परिचयोपरान्त दर्शन दोनो स्थितियो में नायक-नायिकाओं के हाव-भाव एवं रोमांच, कम्पन इत्यादि सात्त्विक भावों का निरूपण इन कवियों ने कल्पना के अनेक रंगों द्वारा रंजित रमणीय भाव-भूमि पर किया है । इन वर्णनों मे कटाक्ष-निपात से भाव गति की तीव्रता तथा प्रेम के अन्तर्गत जिस सलोनी एवं श्यामल भावना का समावेश है, वह अत्यन्त मार्दव है ।

स्पर्शालिङ्गन

संयोग के अन्तर्गत प्रत्यक्ष-दर्शन के पश्चात् स्पर्श और आलिङ्गन एवं उनके द्वारा उत्पन्न सात्त्विक भाव विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । ये स्पर्श और आलिङ्गन परिस्थिति के अनुसार अनेक रूपात्मक हो जाते हैं । अतः जीवन में स्पर्शालिङ्गन के जो भी अवसर आते हैं, उसका उल्लेख स्थान-स्थान पर संस्कृत कवियों मे लेकर हिन्दी के लगभग समस्त कवियो ने किया है । हाँ इतना अवश्य है कि किसी कवि ने किसी वर्णन में अधिक रुचि दिखाई है तो किसी ने किसी मे । विवाह के समय पाणिग्रहण के अवसर पर स्पर्श, विवाह के पश्चात् केलि-पूर्व अथवा केलि के समय पाणि एवं अन्य शारीरिक अंग-स्पर्श, आलिङ्गन आदि के अनेक प्रसंग जीवन में आते हैं, जिनका कवियों ने अपनी-अपनी कल्पनानुसार विवेचन किया है । इनके अन्तर्गत निहित सुखात्मक अनुभूति; रोमांच, प्रस्वेद, आदि सात्त्विक भावों द्वारा व्यक्त हो जाती है ।

रीतिकालीन हिन्दी काव्यों में स्पर्शालिङ्गन के अनेक रूपों की व्यञ्जना प्राप्त होती है। इस दृष्टि से बिहारी का निम्नलिखित चित्र दर्शनीय है—

स्वेद-सलिलु रोमाच-कुसु, गहि दुलही अरु नाथ
दियौ हियौ सँगु नाथ कैं, हथलेयैं ही हाथ ॥[1]

बिहारी के नायक-नायिका दोनों दाम्पत्य के सूत्र में बँधने के लिए वैवाहिक वेदी पर आसीन हैं। एक दूसरे के कर-स्पर्श करने से उन्हें जिन सात्विक भावों (प्रस्वेद, रोमाचों) की अनुभूति होती है, उसके विषय में बिहारी की कल्पना कितनी सुन्दर है। अस्तु परस्पर पाणिग्रहण जनित "प्रस्वेद" तो सकल्प के निमित्त गृहीत पवित्र जल है, "रोमाच" उस जल के सहित समर्पित करने के लिए ग्रहण किये गए कुश स्वरूप हैं, इन दोनों के साथ एक दूसरे के प्रति सकल्प की हुई वस्तु हृदय है। इस प्रकार बिहारी ने मगल उपकरणों का सागरूपक देकर दोहे को अलकारिक-रूप में व्यक्त किया है।

संस्कृत कवि कालिदास की भी पाणिग्रहण संस्कार सम्बन्धी कल्पना अत्यन्त स्वाभाविक है। रघुवंश में अज, इन्दुमती के वैवाहिक अवसर पर परस्पर पाणिग्रहण में उत्पन्न सात्विक भावों का वर्णन कितने शिष्ट ढंग से व्यञ्जित है। यथा—

"आसीद्वर कण्टकितप्रकोष्ठ स्विन्नाङ्गुलि सववृते कुमारी।"[2]

रघुवंश के अन्तर्गत अज, इन्दुमती की पाणिग्रहण के समय विचित्र अवस्था हो जाती है, क्योंकि परस्पर एक दूसरे का हाथ स्पर्श करने से कुमार अज की कलाई का ऊपरी भाग रोमाचित होता है। दूसरी ओर कुमारी इन्दुमती की अगुलियों में प्रस्वेद उत्पन्न हो जाता है।

कालिदास के "कुमार सम्भव" के नायक और नायिका—शिव-पार्वती की भी, पाणिग्रहण के अवसर पर इन्हीं प्रस्वेद और रोमाच सात्विक भावों के उत्पन्न होने पर जो दशा होती है, वह अवलोकनीय है—

"रोमोद्गम प्रादुरभूदुमाया स्विन्नाङ्गुलि पुगवकेतुरासीत्।"[3]

यहाँ पाणिग्रहण के समय पार्वती तो रोमाचित होने का सुखद अनुभव करती है और शंकर जी प्रस्वेद की सुखात्मक स्थिति का अनुभव करते हैं।

सात्विक भावों की दृष्टि से ये दोनों प्रसग बिहारी के उक्त प्रसग से समानता लिए हुए हैं, क्योंकि पाणिग्रहण के अवसर पर कालिदास के नायक-नायिका क्रमश अज-इन्दुमती और शंकर पार्वती जिस प्रकार स्पर्शजन्य सुखानुभव करते हुए

---

१. बिहारी रत्नाकर—सम्पादक पण्डित जगन्नाथदास रत्नाकर, दोहा—२५१
२ रघुवंश—महाकाव्य—सातवाँ सर्ग, श्लोक—२२
३ कुमार-सम्भव—महाकाव्य—सातवाँ सर्ग, श्लोक—७७

रोमांचित और प्रस्वेद युक्त हो जाते हैं, उसी के तुल्य विहारी के नायक और नायिका भी परस्पर कर-स्पर्श से रोमांच और प्रस्वेद की अनुभूति प्राप्त करते हैं। लेकिन विहारी की "स्वेद सलिलु" तथा "रोमाच कुसु" की रूपक योजना एवं नाथ के संग "हिय" संकल्प करने की कल्पना सौन्दर्यपूर्ण तो है ही, साथ ही पाठकों के हृदय मे अनिर्वचनीय सुख का भी संचरण करने में समर्थ है। अतएव दोनो कवियो की दृष्टियों के विषय में और भी स्पष्ट यह कहा जा सकता है कि परिणय विषयक कल्पना दोनो कवियों की एक होते हुए भी विहारी का व्यक्त करने का ढग कालिदास की अपेक्षा सर्वथा भिन्न तथा अधिक प्रभावोत्पादक है।

कवि मतिराम की नायिका प्रिय-आलिङ्गन से अपार सुख का अनुभव कर कितनी प्रसन्न है। इसे इस द्वितीय प्रसंग मे देखा जा सकता है-

लपटानी अति प्रेम सो दै उर उरज उतग।
घरी एक लौं छुटेहु पर रही लगी सी अंग ॥[1]

प्रिय के निरंतर समीप रहने वाली प्रिया निस्सदेह सौभाग्यशालिनी ही होती है। अतः उसकी प्रसन्नता भी स्वाभाविक है। मतिराम की यह नायिका एक तो प्रिय के निकट है, दूसरे अत्यन्त प्रेम सहित अधिक समय तक हृदय से उन्नत उरोजो को देकर प्रिय का आलिङ्गन करती रहती है। फिर इससे वढ़कर प्रसन्नता की वात क्या हो सकती है। यही कारण है कि वह घड़ी भर के लिये प्रिय से अलग भी हो जाती है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों कि वह नित्य ही प्रिय का अग-स्पर्श करती रहती है। नायिका के इस आलिङ्गन के विषय में यह भी कहा जा सकता है कि प्रिय इस प्रकार प्रगाढ आलिङ्गन करता है कि प्रिया के लिये उस आलिङ्गन की स्मृति चिरस्मरणीय वन जाती है।

तुलनात्मक दृष्टि से मतिराम की नायिका से समान प्रिय के आलिङ्गन करने पर हर्षित गीत-गोविन्द की नायिका का चित्र स्वाभाविकता और सहजता का परिचायक है। यह प्रसंग इस प्रकार है- एक ओर तो वसन्त की छटा, दूसरी ओर नायक-नायिकाओं के अंग-प्रत्यग मे छाई यौवन की सुषमा और उनका एक-दूसरे के साथ स्वच्छन्द विहार आदि परिस्थितियाँ सयोग शृंगार को पुष्ट वना देती हैं। ऐसे समय मे विहार करती हुई कोई नायिका प्रिय कृष्ण का आलिङ्गन कर किस प्रकार प्रसन्न होती है; देखिये-

कापि कपोलतले मिलिता लपितुकिमपि श्रुतिमूले।
चारु चुचुम्व नितम्ववती दयित पुलकैरनुकूले ॥[2]

---

१. मतिराम ग्रंथावली – रसराज, छन्द – ३४६, पृष्ठ ३२८

२. गीत-गोविन्द – प्रवन्ध – ४, श्लोक – ५

अस्तु प्रिया द्वारा प्रिय का आलिंगन करते हुये कपोलतल मे चुम्बन, तथा पुन उस नितम्बवती द्वारा प्रिय से मंत्रणा करते हुये कानों के मूल मे सलग्न होकर पुलकित होना आदि की योजना मे वातावरण मे अधिक सरसता आ गयी है।

अब दोनो कवियो के वर्णनो से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन काव्यकार और गीत-गोविन्दकार की नायिकायें अपने-अपने प्रिय का प्रेमावेग मे विह्वल होकर आलिंगन करती हैं। लेकिन गीत-गोविन्द की नायिका आलिंगन के साथ चुम्बन भी करती है। दोनों ही कवियों के वर्णनो मे सरसता है। गीत-गोविन्द का श्लोक भाव शबलता की दृष्टि मे जितना सरस और उत्कृष्ट है, उतना ही कवि मतिराम का भी दोहा है। मतिराम की स्वतन्त्र भाव योजना भी सराहनीय है, क्योंकि प्रेम सहित आलिंगन भी उरोजो को देकर, केवल इतना ही नहीं बल्कि नायिका की प्रिय के साथ हर समय आलिंगन की अनुभूति आदि योजनायें अत्यन्त सफलतापूर्वक चित्रित हुई हैं। अस्तु यद्यपि दोनो कवियो की नायिकायें आलिंगन जनित सुख का अनुभव करती हैं, किन्तु मतिराम ने 'लपटानी', 'रही लगी सी अग' आदि शब्दो के गढने मे इतना कौशल दिखलाया है कि माधुर्य की दृष्टि से उनका दोहा भी गीत-गोविन्द के श्लोक से किसी प्रकार भी कम नही है। इसके अतिरिक्त गीत-गोविन्द के आलिंगन भाव की छाया तो मतिराम के दोहे मे है किन्तु दोहे का शेष प्रसग और शब्द तथा भाव-विन्यास सर्वथा स्वतत्र है।

चिन्तामणि की नायिका भी गीत गोविन्दकार की नायिका के समान ही प्रिय की आख मूँदने के बहाने प्रिय की पीठ से उरोज लगाकर सुख का अनुभव करती है। यथा–

> आखिन मूँदिने के मिसि आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
> केहूँ केहूँ मुसकयाइ चितै अगराइ अनूपम अग दिखावै।
> नाह छुइ छल सौं छतिया हँसि भौंह चढाइ अनन्द बढावै।
> जोबन के मदमत्त तिया हित सो पति को नित चित्त चुरावै॥[1]

चिन्तामणि ने सम्भवतया इस भाव की प्रेरणा गीत-गोविन्द के उक्त श्लोक से ही ग्रहण की है। गीत-गोविन्द की नायिका जिस प्रकार प्रिय से मंत्रणा करने के बहाने प्रिय के कानो के मूल मे चुम्बन करती है उसी प्रकार चिन्तामणि की नायिका भी प्रिय की आख मूँदने का बहाना लेकर अपने उरोजों को प्रिय की पीठ मे लगा देती है। अत यहाँ तक भाव की तुलनात्मक दृष्टि से दोनो कवियो के वर्णन पर्याप्त समान हैं, किन्तु चिन्तामणि की आगे की समस्त कल्पनायें स्वय ही मौलिक हैं।

---

1 कविकुलकल्पतरु – चिन्तामणि, छन्द– १०५, पृष्ठ १०७
(प्रकाशक–मुद्रक – पाषाणयन्त्रालय)

नायिका द्वारा प्रिय की पीठ से उरोज लगाना एवं अँगड़ाई लेकर अंग-प्रदर्शन इत्यादि वर्णन बड़े ही स्पृहणीय बन पड़े हैं। कवि ने "अंगराई" शब्द को लाकर भाव को और भी अधिक तीव्र बना दिया है। अतः भाव शबलता की दृष्टि से गीत-गोविन्द, चिन्तामणि तथा मतिराम इन तीनों ही कवियों के प्रसंग श्रेष्ठ है।

स्पर्श की यह तीसरी स्थिति कुछ और भी वैशिष्ट्य लिये हुये है। नायक के साथ नायिका ने प्रथम बार स्पर्श का अनुभव किया है। इस स्पर्श से नायिका के अंग-प्रत्यंग की सुप्त चेतना सात्त्विक भावों को लेकर सहसा उभरनी प्रारम्भ हो गयी। अतः स्पर्श-जन्य अपनी समस्त शारीरिक स्थिति के परिवर्तन को मतिराम की यह नायिका सखी के सामने व्यक्त करती है–

खेलन चोर मिहीचनि आजु गई हुती पाछिले घोष की नाई,
आली कहा कहौं एक भई "मतिराम" नई यह बात तहाँई।
एकहि भौन दुरे इक संग ही, अंग सो अंग छुवायो कन्हाई,
कंप छुट्यो घनस्वेद बढ़्यो, तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आईं ॥[1]

नवयौवना पिछले दिवस के तुल्य आज भी 'चोरमिहीचनि' खेलन को जाती है, वहीं एक नवीन घटना यह होती है कि एक ही स्थान में छिपने के कारण कन्हाई अपना अंग नायिका के अंग से लगा देते है। फिर क्या था, यौवन में मदमाती नायिका के हृदय में बिजली दौड़ जाती है, जिससे शरीर में कम्पन, प्रस्वेद का बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है, शारीरिक अंग-प्रत्यंगों में रोमांच उत्पन्न होता है और नायिका की आँखें अश्रु से पूर्ण हो जाती है।

कालिदास का भी स्पर्श-जनित अनुभव हमें निम्नलिखित पंक्तियों से विदित हो जाता है–

यादिद रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥[2]

कालिदास द्वारा रचित विक्रमोर्वशीय नाटक से प्रस्तुत श्लोक ग्रहण किया गया है। पुरूरवा, उर्वशी को जब राक्षस से छुड़ाकर लाता है और उसके साथ रथ में बैठकर स्पर्शजनित सुख का जो अनुभव करता है, उसे नाटककार ने पुरूरवा के कथन द्वारा स्पष्ट किया है कि रथ के हिलने से पुरूरवा से जैसे ही उर्वशी का स्पर्श होता है कि उसके (पुरूरवा के) शरीर में रोमाच उत्पन्न हो जाता है। पुरूरवा को वे रोमांच प्रेमाङ्कुर–तुल्य प्रतीत होते है। निस्संदेह कवि की कल्पना अतीव सुन्दर है।

---

१. मतिराम–ग्रथावली – रसराज – १९, पृष्ठ २५६
२. विक्रमोर्वशीय – श्लोक – १३, प्रथमोऽङ्कः।

दोनो प्रसंगो पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर तो मतिराम की नायिका चोर मिहीचनि मे प्रिय-स्पर्श जनित सुख की अनुभूति करती है और दूसरी ओर कालिदास का नायक प्रिया के स्पर्श से उत्पन्न सुख का अनुभव करता है। दोनो ओर स्पर्श द्वारा सात्विक भाव उदित होते हैं और साथ ही नवीन प्रेम पल्लवित होता है। दोनो कवियो के प्रसंगो मे शारीरिक स्पर्श जनित सुख का निरूपण समान रूप से हुआ है, किन्तु चोर मिहीचनि का सन्दर्भ उठाकर मतिराम ने जो कल्पना की है, वह निस्सन्देह नवीन है तथा नायिका द्वारा अङ्ग स्पर्श को 'नई बात' कहलाने की बात न केवल नवीन है बल्कि अतीव सौन्दर्यपूर्ण भी है।

स्पर्श की इस चतुर्थ स्थिति मे कितनी सरसता है। कवि देव की नायिका को अकेली देखकर प्रेमी अपना कार्य कितनी शीघ्रता और चातुर्य से करता है। यह भाव यहाँ द्रष्टव्य है–

> देखन को बन को निकसी वनिता बहु बानि बनाइ के बागे
> देव कहै दुरि दौरिकै मोहन आइ गये उतते अनुरागे
> बाल की छाती छुई छलसो घन-कुन्जन मे रस पुन्जन पागे
> पीछे निहारि निहारत नारिन हार हिये के सुधारन लागे ॥[1]

नायिका सुन्दर वेश बनाकर वन की शोभा देखने को निकलती है। नायक भी वहीं छिपकर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। बाला के निकलते ही वह अनुरागी उसके सामने आकर छल पूर्वक छाती का स्पर्श कर लेता है। बस फिर तो सघन कुंजो मे रस समूह व्याप्त हो गया, लेकिन चोरी भी पकडी गई। पीछे फिर कर जैसे ही देखा तो बाला की सखियाँ खडी हुई थी, तब अत्यन्त लज्जित होकर गले मे पडे हुए हारो को सुधारने का नाट्य करने लगी। आगे भी देव का दूसरा वर्णन इसी प्रकार है–

> सोंगेये छाती छुवै छिपिकै मुखि चमि कहै कोई और न जानै।
> काहू ते भाई कछू दिन तैं मन मोहन को मन मोही सों मानै ॥[2]

कवि देव का यह दूसरा नायक प्रिया की छाती को छिपकर इस प्रकार स्पर्श करता हुआ, पुन मुख का चुम्बन करता है जिससे कि कोई जान न सके। इस कार्य कलाप द्वारा प्रिया के मन मे इतनी पुलक भर जाती है कि उसे भी ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिय का मन उससे ही तृप्त होता है। देव की यह उक्ति भी अत्यन्त सरस बन पडी है।

देव के उपर्युक्त दोनो वर्णनो पर दृष्टिपात कर आचार्यवर का स्पष्ट जन्य पुर-

---

1 देव ग्रन्थावली–भाव विलास–द्वितीय विलास, छन्द–७४, पृ० ७५
2 देव ग्रन्थावली–भाव विलास–चतुर्थ विलास, छन्द २६, पृ० ९४

कता का स्पष्टीकरण देने वाला निम्नलिखित वर्णन भी दर्शनीय है–

दयितस्पर्शोन्मीलितघर्मजलस्खलितचरणनखलाक्षे ।[1]

जब आर्याकार की नायिका का स्पर्श नायक कर लेता है तो इससे उसके हृदय में जो स्पर्शजन्य पुलकता भर जाती है उसी प्रसग को नायिका की सखी के कथन के माध्यम से आर्याकार ने यहाँ स्पष्ट किया है। नायक जैसे ही प्रिया का स्पर्श करता है कि उसके हृदय में इस स्पर्शजन्य सात्त्विक भाव द्वारा उत्पन्न हुए प्रस्वेद से पैरों के नखों में लगी हुई लाक्षा दूर हो जाती है।

देव के प्रसंग केवल स्पर्श और उसके द्वारा उत्पन्न भाव की दृष्टि से आर्या-सप्तशती के प्रसंग से कुछ मिलते है। एक ओर देव की नायिका की छाती स्पर्श करने से घन-कुञ्जन में रस-पुञ्ज पगते है, तथा वही कवि देव के दूसरे वर्णन मे छाती स्पर्श और मुख-चुम्बन के द्वारा नायिका को अपने प्रगाढ प्रेम की प्रतीति होती है, तभी तो वह 'मन मोहन को मन मोही सों मानै'–कथन को व्यक्त करती है। दूसरी ओर आर्यासप्तशती की नायिका के चरण-नख की लाक्षा प्रिय-स्पर्श जनित प्रस्वेद से दूर हो जाती है। अत: व्यंजित है कि मतिराम की नायिकाओं के समान उसका हृदय भी पुलकायमान होता है, तभी तो सात्त्विक भाव के रूप में प्रस्वेद की उत्पत्ति होती है। किन्तु देव के प्रसगो मे क्रमश: नायिका का वन जाना, मनमोहन का छिप-कर आना, छाती-स्पर्श, पीछे नारियों को निहारकर हारों का सुधारना और पुन: दूसरी नायिका की दूसरे नायक द्वारा छाती-स्पर्श करने पर किसी अन्य के न जानने की कल्पना आदि योजनाये सर्वथा नवीन हैं। अत: यदि देखा जाय तो आर्या के अत्यल्प भाव का ही यहाँ समावेश हो सका है।

स्पर्श की यह स्थिति आशावादिता में प्रतिफलित होती है। पद्माकर की नायिका एक दिन तो प्रिय के प्रभाव मे आ ही जाती है, इसका रसपूर्ण चित्रण प्रस्तुत उदाहरण मे है–

जाति हुती नित गोकुलकों हरि आवै तहाँ लखिकै मग सूना।
तासौ कही पद्माकर हों अरे साँउरे बाउरे तैं हमे छूना।
आजु धौं कैसी भई सजनी उत वा विधि बोल कढ्योई कहूँ ना।
आनि लगायो हियें सों हियो भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना ।।[2]

पद्माकर की नवयोवन में पदार्पण करने वाली नायिका जब नित्य-प्रति गोकुल को जाती है, तब कृष्ण भी नित्य प्रति उसकी घात में लगे रहते है और जाने के समय सूना मग देख उसके सामने आते रहते है। कृष्ण चाहते है कि नायिका स्पर्श

१. आर्यासप्तशती–गोवर्धनाचार्य, श्लोक–२९२
२. पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–सवैया–४०८, पृ० १६९

का अवसर प्रदान करे। पहले तो नायिका स्पर्श के लिए निषेध करती है किन्तु यह रसीला नायक भी आशावादी है क्योंकि वह जानता है कि नवयौवना एक दिन अवश्य ही स्पर्शालिङ्गन के लिए स्वीकृति प्रदान करेगी। परिणामस्वरूप एक दिन मौन-स्वीकृति प्राप्त हो ही जाती है, अतएव नायक, नायिका का हृदय से हृदय लगाकर प्रगाढ आलिङ्गन करता है, नायिका इस आलिङ्गन सुख से ऐसी स्तम्भित हो जाती है कि सात्विक-भाव जनित अश्रुओं से उसका गला तो भर आता है किन्तु वह कुछ भी नही पाती। यही दशा पद्माकर की दूसरी नायिका की भी है–

सुन्दरि को मन मन्दिर मे लखि आए गुबिन्द बने बड भागें।
आनन ओप सुधाकर सी पद्माकर जीवन जोति के जागें।
औचक ऐंचत आचल कें पुलकी अग-अग हिये अनुरागें।
नन के राज मे बोलि सकी न मटू ब्रजराज सो लाज के आगें॥[1]

पद्माकर की सुन्दरी नायिका को मन-मन्दिर मे देखकर गोविन्द आ जाते हैं। चन्द्रमा के तुल्य मुख वाली नायिका प्रिय द्वारा अँचल खीचते ही चौंक उठती है और अग- प्रत्यग मे अनुराग की उत्पत्ति हो जाती है, तब वह नन के राज मे अत्यन्त पुलकित होते हुए भी लज्जा के कारण प्रिय से बोल नही पाती। अर्थात् प्रसन्न होकर आलिङ्गन की मौन-स्वीकृति प्रदान कर देती है।

इस प्रकार अपने-अपने प्रियतम के स्पर्श से उक्त दोनो नायिकायें रोमाचित हो जाती हैं। इन्ही के समान क्रमश नैषधकार और कुट्टनीमतकार की नायिकायें अपने अपने प्रिय स्पर्श द्वारा रोमाचित हो जाती हैं। अत सर्व-प्रथम नैषध की नायिका दृष्टव्य है–

स्मरसि छद्म निद्रालुर्मया नाभौ शयार्पणात्।
मदानन्दोल्लसल्लोमा पद्मनाभीमविव्यसि॥[2]

श्रीहर्ष द्वारा रचित नैषध का प्रस्तुत प्रसग विवाहोपरान्त नल द्वारा दमयन्ती के प्रति कही गई उक्ति का स्वरूप है। रात्रि के समय किये गए क्रिया-कलाप के अन्तर्गत स्पर्श का कथन, नल-दमयन्ती के समक्ष प्रात काल के समय करता है। रात्रि के समय दमयन्ती प्रिय के कार्य का चुपचाप अनुभव करने के लिए झूठी निद्रा का बहाना बनाती है, उस समय प्रिय नल जैसे ही उसकी नाभि का स्पर्श करता है तो दमयन्ती इतनी रोमाचित हो जाती है कि उसकी नाभि भी रोमाचों के कारण कमल के तुल्य हो जाती है।

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त की ग्रामीण नायिका प्रिय का स्पर्श प्राप्त कर सदैव रोमाचित बनी रहती है। यथा–

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद सवैया–४५८

२. नैषध चरितम्–श्रीहर्ष–सर्ग–२०, श्लोक-७४

लग्नोऽसि यत्र गात्रे कथमपि दैवेनदेवयात्रायाम् ।
अद्यापि तन्न मुञ्चति पुलकोद्गमकण्टकं तस्याः ॥[1]

नायिका गाँव में ठाकुर जी की यात्रा को जाती है। वहीं किसी नवयुवक से उसके किसी अंग का स्पर्श होता है। इससे वह अद्यापि रोमांचित रहती है।

अब परीक्षण की दृष्टि से पद्माकर के उपर्युक्त दोनों प्रसंग और संस्कृत कवियों के ये प्रसंग, स्पर्श द्वारा उत्पन्न सात्विक भाव-क्रमशः अश्रु, पुलक आदि की दृष्टि से समानता लिए हुये हैं। नैपध की नायिका प्रिय द्वारा नाभि-स्पर्श पर रोमांचित होती है तथा पद्माकर की द्वितीय नायिका "आँचक आँचल के ऐंचते" ही पुलकित होकर रोमांचित हो जाती है। इसी प्रकार कुट्टनीमतकार की नायिका जिस प्रकार प्रिय-स्पर्श द्वारा सदैव रोमाञ्चित रहती है, उसी प्रकार पद्माकर की प्रथम नायिका भी प्रिय के अंग स्पर्श पर रोमाचित हुए बिना भला कैसे रह सकती है। इसके अतिरिक्त यदि सम्यक दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत कवियों के यहाँ दोनों वर्णन सीधे हैं, जबकि पद्माकर के दोनो प्रसंगो में गूढ़ार्थ की व्यञ्जना लक्षित होती है क्योंकि प्रथम प्रसग मे प्रिय-स्पर्श से गले का भार आना और कुछ कह न सकना तथा द्वितीय प्रसंग मे प्रिय द्वारा अचानक आँचल खीचने पर पुलकित होना एवं नैन के राज में बोलने में असमर्थ होना आदि से रोमांच सुख की स्थिति की व्यञ्जना हो जाती है। इसके अतिरिक्त पद्माकर के दोनों प्रसंग वस्तु-स्थिति को पूर्ण रूप से प्रकट करते है क्योंकि प्रथम वर्णन में सूना मग लखकर नायक का नायिका के समीप आना और स्पर्श की इच्छा करना, प्रथम तो नायिका द्वारा निषेध, फिर स्पर्श सुख से आनन्दित होना एवं दूसरे वर्णन में नायक का सुन्दरी को एकान्त में लखकर समीप आना तथा उसका आँचल खीचना, सुन्दरी का चौंककर पुलकित होना इत्यादि योजनायें अत्यन्त भावपूर्ण हैं। इन प्रसंगों के अन्तर्गत कवि ने सुकोमल कल्पना का सामञ्जस्य बड़े ही कौशल से किया है।

इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत कवियों से क्रमशः रीतिकालीन कवियो तक स्पर्शालिङ्गन के अनेक प्रसंगो की योजना दृष्टिपथ मे आती है। ये समस्त प्रसंग युगीन परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार कवियो द्वारा निर्मित हुये हैं। कहीं-कहीं तो रीतिकालीन काव्यों और संस्कृत काव्यों के प्रसंग बहुत कुछ समान है और कहीं-कही रीतिकालीन काव्यों ने संस्कृत काव्यों से कुछ प्रेरणा ले प्रसंग मे अधिक उन्मेषपूर्ण भाव का सामञ्जस्य कर दिया। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन कवियों के कुछ प्रसंग तो इतने सुन्दर ढंग से गढ़े हुए हैं कि उनकी शृंगारिक उक्तियाँ अत्यन्त सरस हो उठी हैं।

---

१. कुट्टनीमत–दामोदर गुप्त–श्लोक–८६८

संकेत

संयोग-शृंगार के अन्तर्गत संकेतात्मक भाषा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इसके माध्यम से ही प्रेमी-जन एक दूसरे के विचारों को मौन होकर सहज ही समझने में समर्थ होते हैं। संकेत भी परिस्थिति, वातावरण से अनुप्राणित होकर अनेक रूपात्मक हो सकते है-यथा किसी का संकेत दृष्टिविक्षेप द्वारा तो किसी का अन्योक्ति अथवा हाव-भाव इत्यादि के प्रदर्शन द्वारा सम्पन्न होता है। संस्कृत काव्यों के अन्तर्गत शृंगारिक चित्रणों में यत्र तत्र भाव प्रदर्शन के रूप में संकेतात्मक भाषा का स्वरूप निहित है। अतः रीतिकालीन कवियों ने भी इन काव्यों से प्रेरित होकर कहीं-कहीं इन्हें अपनी कल्पना के रंग द्वारा उभारकर पर्याप्त मात्रा में अंकित किया है। बिहारी जैसे प्रतिभावान कवि तो इन वर्णनों में अत्यन्त ही निष्णात हैं।

अस्तु, सर्वप्रथम बिहारी का प्रस्तुत दोहा लक्षणीय है-

मन सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
अरी, हरी अरहरि अजौं धरि धरहरि जिय नारि ॥[1]

नायिका की सखी या दूती रमण-स्थल का संकेत देती हुई नायिका को धैर्य बँधाती है। अतः संकेतात्मक-उक्ति में बिहारी ने इस प्रसंग को सखी के माध्यम से व्यक्त किया है, क्योंकि कवि की ग्रामीण-नायिका के लिये सन के शुष्क होने पर, वन के बीत जाने पर तथा ऊख के उखाड़ लेने पर अब भी अरहर का हरा खेत रमण के लिये उपयुक्त स्थल है।

बिहारी की नायिका के समान कुट्टनीमतकार की भी नायिका दर्शनीय है-

उच्चेतुं कर्पासं प्रविष्टया गहनवाटिकां शून्याम्।
टङ्कारिणेन संज्ञा कृता तथा त्वं तु वेत्सि नो मूर्ख ॥[2]

यहाँ कुट्टनीमत काव्य की नायिका कपास चुनने के लिये जाती है। वहाँ वह टंकार ध्वनि से अपने नायक को संकेत करती है कि रमण के लिये "वाटिका के अन्तर्गत ही उपयुक्त स्थल है लेकिन नायक इतना मूर्ख निकला कि उस संकेत के समझने में ही असमर्थ रहा। इस उक्ति का स्पष्टीकरण" दामोदर गुप्त ने नायक के समक्ष दूती के माध्यम से किया है।

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि ग्रामीण नायक और नायिकाओं के लिये पहले से ही सन, बाड़ी (वन) ईख, अरहर आदि की हरी-हरी फसलों से भरे हुये खेत ही रमण हेतु उपयुक्त स्थल रहे हैं। तभी तो बिहारी ने कुट्टनीमत से प्रेरणा लेकर अपने कौशल द्वारा उक्त प्रसंग का निर्माण किया। दोनों कवियों के वर्णन, वातावरण की

१ बिहारी-रत्नाकर-दोहा-२३५
२ कुट्टनीमत-श्लोक-८६९

दृष्टि से भिन्न होते हुये भी ग्रामीण नायक-नायिकाओं के रमण-स्थल की अभिव्यक्ति व्यञ्जित करने की दृष्टि से समान हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि विहारी के प्रसंग में दूती नायिका को केवल संकेत देती है और कुट्टनीमतकार के वर्णन में वही दूती नायक को समझाती हुई घटित घटना के विषय में संकेत द्वारा व्यञ्जित करती है कि जो मूर्खता तुमने अब की है, उसे आगे नही करना।

विहारी की नायिका को भविष्य के लिये रमण-संकेत-स्थल की सूचना है और कुट्टनीमतकार के नायक को भी उसी का संकेत है। किन्तु कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त ने जहाँ रमण के निमित्त केवल वाटिका का ही संकेत किया है, वही रीतिकालीन सतसईकार विहारी ने ग्रामीण भू-प्रान्त से सम्बन्धित रमण हेतु सन, वन, ऊख तथा अरहर को लेकर अन्त में "धरि धरहरि हियनारि" कहकर अत्यन्त मार्मिक एवं विस्तृत चित्र का निर्माण किया है। अतः सतसईकार विहारी का वर्णन संस्कृत कवि कुट्टनीमतकार-दामोदर गुप्त से बहुत कुछ आगे निकल गया है। इसके अतिरिक्त विहारी के दोहे की अंतिम पंक्ति के दूसरे चरण से नायिका की विह्वलता परिलक्षित है तभी तो सखी या दूती उसे धैर्य धारण करने को कहती है।

कार्य कलाप द्वारा संकेतात्मक स्थिति के निमित्त विहारी तथा मतिराम के निम्नलिखित प्रसंगों को क्रमानुसार ग्रहण किया जाता है। यहाँ विहारी के नायक-नायिका कितनी चतुराई के साथ परस्पर अपने प्रेम का परिचय देते हैं, यथा—

> लखि गुरुजन-विच कमल सौं, सीसु छुवायौ स्याम
> हरि सनमुख करि आरसी, हियै लगाई वाम ॥[1]

विहारी की नायिका गुरुजनों के मध्य में बैठी है। नायक भी उधर ही आ निकला। अतः दोनों के मध्य में सं[illegible]ारा बातें प्रारम्भ हुई। नायक ने कमल का पुष्प सिर से लगाकर नायिका के [illegible] पड़ने की चेष्टा प्रकट कर अपना अनुराग व्यक्त कर दिया अथवा मिलन की प्राथना की। तब नायिका ने अपनी आरसी को प्रिय के सामने करके तथा हृदय से लगाकर इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया कि नायक का प्रतिबिम्ब उसके हृदय के अन्दर विद्यमान है। इसके अतिरिक्त दूसरी पंक्ति में दूसरा भाव यह भी छिपा है कि नायिका ने नायक को सूर्यास्त के पश्चात् मिलन का संकेत दिया है।

मतिराम के नायक-नायिका भी इसी संकेतात्मक भाषा द्वारा अपने मनोगत विचारों को स्पष्ट करते हैं—

> लाल सखीन में बाल लखी "मतिराम" भयौ उर आनन्द भीनौ;
> हाथ दुहूनि सौ चम्पक गुच्छिनि को जुग छाती लगायकै लीनौं।

---

१. विहारी–रत्नाकर–छन्द ३४, पृ० २०

चन्दमुखी मुसकाय मनोहर हाथ उरोजनि अंतर दीनों।
आँखनि मूँदि रही मिसिकै ढाँपि निचोल को अंचल कीनों ॥[1]

मतिराम के नायक ने जैसे ही सखियो के मध्य मे बाला को देखा कि उसके हृदय में आनन्द का माधुर्य पूर्ण स्रोत प्रस्फुटित होना प्रारम्भ हो जाता है। वह अपने दोनो हाथो से "चम्पक गुच्छ" को छाती से लगाकर इस बात का परिचय देता है कि चम्पा के पुष्प-तुल्य नायिका की मधुर आकृति को निरन्तर हृदय मे धारण किए रहता है, तब चन्द्रमुखी नायिका भी मुसकुराकर अपने उरोजो पर हाथ रखकर अपने परम प्रणय का आभास कराती है। पुन हाव-भाव के रूप मे अपनी आंखो को बन्द करने के बहाने स्तनो पर पडे हुए ओढनी के आँचल को ढकती है।

बिहारी और मतिराम के इन दोनो उदाहरणो की थोडी सी तुलना आर्याशप्तसती के प्रस्तुत प्रसग से की जा सकती है, यथा—

सुरभवने तरुणाभ्या परस्पराकृष्टदृष्टि हृदयाभ्याम् ।
देवार्चनार्थमुद्यतमन्योन्यस्यार्पित कुसुमम् ॥[2]

आर्याकार के ये दोनों प्रणयी ससार के किसी भी व्यक्ति की ये चिन्ता नहीं करते कि उनके परस्पर प्रणय-सकेतो को कोई जान भी सकता है, तभी तो मदिर में एक दूसरे को पुष्प प्रदान करते है, जबकि दोना के पास देवार्चन के निमित्त ही पुष्प थे। इस पुष्प के आदान-प्रदान द्वारा दोनो प्रणयी एक दूसरे के प्रति उत्कृष्ट प्रेम का परिचय देते हैं।

उक्त रीतिकालीन दोनों कवियो के नायक-नायिका दूर से ही सकेतो के आदान-प्रदान द्वारा अपने-अपने उत्कृष्ट प्रणय का परिचय देते हैं, जबकि आर्याकार के नायक-नायिका दोनो कमल पुष्प का आदान-प्रदान कर अपने मन मे स्थित भावो को व्यक्त करते हैं। अत सकेतो के आदान-प्रदान की दृष्टि से रीतिकालीन और आर्याकार दोनों कवियों के प्रसगो मे साम्य विद्यमान है। अब यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि आर्याकार के नायक-नायिका दोनो के के सकेतो पर उनके परिकर के जन सन्देह कर सकते हैं, किन्तु रीतिकालीन दोनों कवियो के नायक-नायिका इस लाघव से सकेत करते हैं कि किसी भी अन्य व्यक्ति को कोई भी सदेह नही हो सकता। प्रसग वर्णन मे भी बिहारी मतिराम के ये दोना प्रसग अतीव उत्कृष्ट बन गये हैं, क्योंकि बिहारी के वर्णन मे नायक द्वारा कमल का मस्तक से स्पर्श, नायिका का अपनी आरसी को हृदय से लगाना, तथा पुनश्च मतिराम के नायक द्वारा चम्पक-गुच्छ का छाती से लगाना, नायिका द्वारा उरोजों

---

१ मतिराम ग्रन्थावली—ललित ललाम, छन्द ३५५, पृ० ४२०

२ आर्यासप्तशती—श्लोक—६५७

पर हाथ रखकर ओढ़नी के आँचल द्वारा स्तनों का ढँकना आदि क्रियायें और प्रति-क्रियायें अत्यन्त सफलता के साथ वर्णित हैं, जबकि संस्कृत कवि आर्याकार, प्रसंग-वर्णन में अधिक सफल नहीं हो सका है।

संयोग में संकेत की तृतीय स्थिति मतिराम और पद्माकर के निम्नलिखित वर्णनों में प्राप्त होती है जिन्हें यहाँ क्रमानुसार ग्रहण किया जा रहा है।

मतिराम के प्रस्तुत अवतरण में दूती नायिका को रमण-स्थल का संकेत देती है, यथा—

केलि करैं मधुमत्त जहँ घन मधुपन के पुञ्ज
सोच न कर तुव सासुरे सखी ! सघन वन—कुञ्ज ॥[1]

मतिराम की नायिका को दूती उस एकान्त स्थान में रमण के लिए संकेत करती है जहाँ पर कि सघन वन-कुञ्ज हैं और मधु पीकर उन्मत्त भ्रमरों के समूह क्रीडाएँ कर रहे हों। अतः नायिका अपने ससुर के विषय में पूर्णरूप से निश्चिन्त रहे। मतिराम के इस छन्द से यह ध्वनि निकलती है कि ऐसे एकान्त एवं गुप्त स्थान में ससुर की तो बात ही क्या बल्कि अन्य किसी भी व्यक्ति के पहुँचने का डर नहीं है।

इसी प्रकार पद्माकर ने भी रमण-हेतु सघन वन का संकेत कुछ और भी अधिक विस्तार से दिया है। अतः भाव दृष्टव्य है—

"चालौ सुनि चन्दमुखी चित्त में सुचैन करि, तित वन बागनि घनेरे अलि घूमि रहे।
कहै पद्माकर मयूर मञ्जु नाचत हैं, चाइ सों चकोरनि चकोर चूमि चूमि रहे।
कदम अनार आम अगर असोक थोक लतनि समेत लौने लौने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे फलि रहे फैलि रहे फबि रहे, झपि रहे, झलि रहे झुकि रहे झूमि रहे ॥"[2]

यहाँ पद्माकर ने दूती के माध्यम से नायिका को रमण के उपयुक्त सघन वन प्रान्त की भूमि का चुनाव किया है। उस वन-भूमि में घनेरे अलियों का घूमना, मंजुलता के साथ मयूरों का नृत्य करना, चाव से चकोर द्वारा चकोरियों का चुम्बन, लावण्यपूर्ण कदम्ब, अनार, आम, अगर, अशोक आदि वृक्षों का लताओं के सहित भूमि का स्पर्शालिङ्गन ये सभी रमण-स्थल की उपयुक्तता के द्योतक हैं एवं शृंगारिक भावनाओं के उद्दीप्त करने में प्रकृति के इन समस्त उपकरणों का विशेष हाथ होता है। इसके अतिरिक्त इस उक्ति में यह भी ध्वनित है कि ऐसे रमणीय एकान्त स्थान पर नायक छिपा हुआ होगा। अतः नायिका के रमण के लिए एकान्त एवं गुप्त स्थल उपयुक्त ही है।

मतिराम और पद्माकर के तुल्य ही आर्याकार ने भी अपनी नायिका को गुप्त

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज, छन्द—९०, पृ० २७१

२. पद्माकर—ग्रन्थावली, जगद्विनोद, छन्द ११८, पृ० १०५

स्थल का संकेत देते हुए कहा है कि—

"नीरावतरणदन्तुरैकतसभेदमेदुरे शिशिरे ।
राजन्ति तूलराशिस्थूलपटैरिव तटे सरित ॥"[1]

स्पष्ट है कि आर्याकार ने भी रमण-हेतु गुप्त स्थल के रूप में ऐसी सरिता का एकान्त भू-भाग चुना है जिसका शिशिर ऋतु में जल उतर गया है और बालू शेष रह जाने के कारण उसके ऊपर रमण-कार्य में उसी प्रकार सुख प्राप्त होगा, जैसे कि रुईदार गद्दों के ऊपर। इसके अतिरिक्त तटों के उन्नत होने के कारण न तो कोई देख ही सकता है और न ही किसी के आने का भय है।

आर्याकार ने अपने वर्णन में स्थूलता की ओर अधिक बल दिया है, जबकि रीतिकालीन कवियों के उपर्युक्त दोनों प्रसंग स्थूलता को व्यक्त न कर व्यंजना के साथ अत्यन्त गहराई में प्रवेश कर अंकित किए गए हैं, क्योंकि क्रमश: मतिराम और पद्माकर की 'सोच न कर तुव सासुरे सखी ! सघन बन कुञ्ज' एवं 'चालौ सुनि चन्द मुखी' से लेकर 'झुकि रहे झूमि रहे' तक की उक्तियाँ मुख्यार्थ को अभिव्यंजना के रम्य अवगुंठन में छिपाये हुए हैं। तथा पद्माकर के वर्णन में 'फूलि रहे, फलि रहे, फैलि रहे, फबि रहे, झपि रहे, झालि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे' शब्द ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से अच्छे ढंग से गठित हुए हैं।

संकेत की चतुर्थ स्थिति कुछ अलग ढंग से ही चित्रित की गई है, जिसमें पद्माकर के नायक और नायिका परस्पर प्रेम की ग्रन्थियों में बँधकर एक दूसरे के समक्ष दूर से ही अपने-अपने घरों की छतों से अपने प्रेम की निष्ठा का किस चतुराई के साथ परिचय देते हैं, यह द्रष्टव्य है—

दोऊन अटान चढ़े पद्माकर देखें दुहूँ कों दुवौ छवि छाई।
त्यों ब्रजबाले गुपाल तहाँ बन माल तमालन की दरसाई।
चन्दमुखी चतुराई करी तब ऐसी कछू अपने मन भाई।
अंचल ऐंचि उरोजन तें नँदलाल को माल्तीमाल दिखाई ॥[2]

अपनी-अपनी अट्टालिका की छत पर चढ़कर पद्माकर के दोनों नायक-नायिका परस्पर एक दूसरे को देख रहे हैं। इसी समय नायक, नायिका को अपने कण्ठ में पड़ी हुई तमाल पुष्पों द्वारा निर्मित वनमाला दिखाकर व्यंजना में यह संकेत करता है कि वह नायिका को जीवन भर अपने हृदय की अधिष्ठात्री बनाकर रखेगा। इधर चन्द्रमुखी नायिका भी कम चतुर नहीं है, वह भी अपने उरोजों से आँचल खींचकर प्रिय को अपने कण्ठ की माल्ती माला दिखाकर पुन: व्यंजना में ही यह उत्तर

---

१ आर्यासप्तशती—श्लोक ३०८

२ पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद, छन्द–४६७, पृ० १८०

देती है कि मालती माला के समान वह भी नायक का जीवन भर आलिङ्गन करती रहेगी।

पद्माकर के इस प्रसंग की प्रथम पंक्ति से मिलता जुलता नैषध-काव्य के अन्तर्गत नल-दमयन्ती के विवाह के अवसर पर प्रेम में पगे निम्नलिखित प्रसंग के नायक-नायिका का चित्र भी दृष्टव्य है—अस्तु——

> नवौ युवानौ निज भावगोपिनावभूमिषु प्राग्विहितभ्रमिक्रमः।
> दृशोर्विधत्तः स्म यदृच्छया किल त्रिभागमन्योन्मुखे पुनः पुनः ॥[१]

नैषधकार श्री हर्ष के नवयौवन प्राप्त नायक-नायिका परस्पर प्रेम-रंग में रंग जाने के कारण समस्त स्थानों में दृष्टि घुमाकर पुनः कटाक्ष को एक दूसरे के मुख पर रखकर यह आशय प्रकट करते हैं कि वे एक दूसरे की दृष्टि से किसी भी प्रकार ओझल होना नहीं चाहते।

दोनों कवियों के वर्णन यद्यपि समानता लिए हुए है किन्तु पद्माकर ने प्रसंग को केवल देखने तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि परस्पर मालाओं को दिखाने का प्रसंग उपस्थित कर अपने वर्णन मे और भी अधिक मार्मिकता भर दी है; तथा 'अचल ऐंचि उरोजन तें'—इस उक्ति मे चित्र-कल्पना अत्यन्त ही मधुर और सुन्दर है, साथ ही नवीन भी है।

इस प्रकार रीतिकालीन काव्यों में जो भी शृंगारिक संकेत अंकित किए गए है, वे इतनी लचक और जिज्ञासा से पूर्ण है कि पाठको की सुप्त उर-तन्त्री के तार स्वतः ही झंकृत हो उठते हैं। इनकी प्रेरणा इस काल के कवियों ने संस्कृत से तो अवश्य ग्रहण की, किन्तु परिस्थिति और वातावरण के रंग से उनमें बहुरंगी आभा स्वतः ही व्याप्त हो गई। व्यंजना तो इन सभी संकेतों का मानों प्राण ही है।

संकेतों के विषय में विशेष उल्लेखनीय बात यह भी है कि ग्रामीण नायक-नायिका के संकेत कुछ दूसरे ढंग के होते हैं, तथा नगर भाग में रहने वाले कुशल प्रेमियों के संकेत कुछ अन्य प्रकार के।

संकेतों का वर्णन संस्कृत के महाकाव्यों में किसी न किसी रूप में वर्णित है। उदाहरण के लिए रघुवंश काव्य के अन्तर्गत इन्दुमती के स्वयंवर में विभिन्न राजाओं की चेष्टाओं[२] को लिया जा सकता है।

होली

फागुन का महीना संसार की समस्त वस्तुओं में विकार उत्पन्न कर देता है। प्राणहीन वस्तुएँ भी इसमें नवजीवन से युक्त हो जाती है। प्रकृति भी किसी नव-

---

१. नैषध—सर्ग—१६, श्लोक—७५

२. रघुवंश—महाकाव्य, सर्ग—छटा

यौवना के समान अँगड़ाई लेकर मानो विलास पूर्वक मुसकराने लगती है। समस्त धरा के ऊपर विकीर्ण भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्पों की सौरभ सभी प्राणियों के हृदय में आह्लाद भर देती है। तरुण और तरुणियाँ एक दूसरे पर गुलाल और रंग की वर्षा कर अपना-अपना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। डॉ० कृष्ण दिवाकर ने होली के विषय मे अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा है कि "ऋतुराज वसन्त की आहट से प्रकृति के साथ-साथ मानव भी उल्लसित हो उठता है। फागुन के चार दिनों का यह होली-उत्सव मानो उसके आगमन की वार्ता ही दे देता है।"[1] रीतिकालीन काव्यों मे फाग के वर्णन अत्यन्त रुचि के साथ वर्णित हैं, किन्तु संस्कृत काव्यों मे ऐसे वर्णन अत्यल्प ही हैं। यदि कहीं हैं भी तो एकाध उदाहरण से अधिक नहीं हैं। रीतिकालीन कवियों में पद्माकर जैसे प्रतिनिधि कवियों ने तो इन वर्णनों को विस्तार के साथ ग्रहण किया है।

इस युग के फाल्गुनोत्सव के वर्णन की मौलिकता के विषय मे डॉ० बच्चन सिंह की प्रस्तुत पंक्तियाँ पूर्णरूप मे चरितार्थ हो जाती हैं—"फाल्गुनोत्सव का जितना जीवंत और काव्यात्मक वर्णन इस काल के कवियों ने किया उतना कदाचित् अन्यत्र नहीं मिलेगा। फाग की मस्ती, रंग गुलाल से लथपथ स्त्री-पुरुष की भावात्मक तन्मयता और भागदौड़ के घरेलू वातावरण को मूर्त रूप देने में कुछ कवियों ने अपनी विशिष्ट काव्य क्षमता का परिचय दिया है।"[2]

डॉ० बच्चन सिंह के इस कथन से होली-प्रसंग विषयक रीतिकालीन कवियों की मौलिक-भावना पूर्णरूप से लक्षित हो जाती है। अब कुछ कवियों के प्रसंगों पर यहाँ दृष्टिपात करना समीचीन होगा। अतः विशेष बात यह है कि रीतिकालीन कवियों के होली के समस्त प्रसंग पूर्णरूप से मौलिक हैं। उनके पूर्व संस्कृत काव्यों मे होली का वर्णन नहीं के बराबर ही है। यदि कहीं कोई प्रसंग मिलता भी है तो वह प्रथम तो गुलाल वर्षा का न होकर रंग वर्षा का ही है। जैसा कि दामोदर गुप्त द्वारा प्रणीत 'कुट्टनीमत' के एकाध उदाहरण से लक्षित है।[3] दूसरे उस प्रसंग मे रीतिकालीन कवियों के समान लावण्य नहीं है।

फाग के खेल का प्रारम्भ घरेलू वातावरण मे होता है, इसीलिए रीतिकालीन वर्णनों मे घरेलू फाग का चित्रण माधुर्य और स्वाभाविकता की परिधि मे लक्षित होता है। सहसा प्रिय के ऊपर रंग अथवा अबीर डालना, किसी को बहला फुसलाकर रंग मे सराबोर कर देना आदि वर्णन अधिक मार्मिकता लिए हुए हैं।

---

१ होली का साहित्यिक उपहार, राष्ट्रवाणी पत्रिका, फरवरी अंक—१९६४

२ रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह, पृ० २५४

३ कुट्टनीमत—श्लोक—८९२

गुलाल-वर्षा

बिहारी का वर्णन कितना सुन्दर है, नायिका, नायक के ऊपर जैसे ही गुलाल की मूठ मार कर जाती है कि नायक उसके वश में हो जाता है–

पीठि दिये हीं, नैकु मुरि, कर घूँघट-पटु टारि।
भरि, गुलाल की मूठि सौं, गई मूठि सी मारि॥[1]

यह चित्रण अत्यन्त ही भावपूर्ण है। पहले तो नायिका नायक की ओर अपनी पीठ करके इस प्रकार खड़ी रही कि नायक उसकी भावनाओं को जानने में असमर्थ ही रहा, किन्तु अवसर प्राप्त होते ही नायिका ने घूँघट-पट को ऊपर करके नायक के ऊपर गुलाल की मूठ चलाकर ऐसी मोहिनी डाली कि नायक का हृदय ही उसकी मूठ में आ गया।

गुलाल की मूठ मारने का यह दूसरा ही ढग है, जबकि नायक–नायिका एक दूसरे पर गुलाल डाल देते हैं तथा उनके हृदय भी गुलाल की भाँति अनुराग के रंग में निमज्जित हो जाते हैं–

छुटत मुठिनु सग ही छुटी, लोक-लाज कुल-चाल।
लगे दुहुन इक बेर ही, चल चित नैन गुलाल॥[2]

नायक–नायिका दोनों परस्पर फाग खेलना प्रारम्भ करते है। गुलाल से भरी हुई दोनों की मुट्ठियाँ एक साथ ही एक दूसरे के ऊपर छूट पड़ी, फिर क्या कहना परिणाम-स्वरूप दोनों परस्पर अनुराग के रंग में इतने निमग्न हो गये कि लोक लाज का भी भय उन्होंने छोड़ दिया और गुलाल की इस वर्षा के कारण उनके नेत्रों में ही गुलाल नहीं लगा बल्कि दोनो के चंचल-चित्त भी उसी रंग में रग गये।

कवि बिहारी के नायक-नायिका दोनो की फाग-क्रीड़ा जनित यह तीसरी स्थिति तो बहुत ही विचित्र है। होली-खेल में दोनों नायक-नायिका एक-दूसरे पर गुलाल फेंकने के लिये जैसे ही आमने-सामने होते हैं कि दोनों के हृदय में सात्विक भाव उत्पन्न होने लगते है, फलस्वरूप दोनो के हाथों से कुछ गुलाल कम्पन के द्वारा नीचे गिर जाता है और कुछ प्रस्वेद द्वारा हाथों में चिपका रहता है। अतः दोनो जैसे ही एक दूसरे पर गुलाल फेकने को मूँठें खोलते हैं कि दोनों का वार खाली जाता है, किन्तु सम्मोहन का अदृश्य मंत्र दोनो को एक दूसरे के प्रति परम-आकर्षित कर लेता है इस बात की व्यंजना इन पंक्तियों मे अनायास ही व्यञ्जित हो जाती है। यथा–

गिरै कंपि कछु, कछु रहै कर पसीजि लपटाइ।
लैयौ मूठी गुलाल भरि, छुटत झुठी ह्वै जाइ॥[3]

---

१. बिहारी–रत्नाकर, दोहा - ३५०
२. वही दोहा – ३५२
३. वही दोहा – ६३३

यहाँ कवि बिहारी ने नायक-नायिका के परस्पर एक दूसरे के ऊपर गुलाल फेंकने की तैयारी और दोनों की उसमें असफलता का चित्रण अत्यन्त सावधानी के साथ किया है, क्योंकि गुलाल फेंकने के लिये सन्नद्ध होने पर हाथों का काँपना और गुलाल का गिर जाना, कुछ का हाथ में आये प्रस्वेद से लिपट जाना, फिर भी गुलाल की मूठ का छूटना और उसका असत्य होना, ये स्थितियाँ अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ प्रकट होती हैं। इसके अतिरिक्त मूठ के झूठी होने में यह व्यंजना भी छिपी है कि गुलाल की मूठें यद्यपि झूठी हो जाती हैं किन्तु उनके खाली छूटने पर उनमें से निकली "सम्मोहन-विद्या" का अदृश्य प्रभाव दोनों के ऊपर इतना पड़ता है कि दोनों के हृदय ही अनुराग के लाल रंग में रँग जाते हैं। बिहारी के प्रथम दोहे 'मूठि सी मारि' में यही व्यंजना लक्षित हो रही है। तात्पर्य यह है कि बिहारी के गुलाल डालने के इन तीनों प्रसंगों में नायक और नायिकाओं का प्रथम प्रणय व्यंजित हो रहा है जो कि स्पर्श और आलिंगन तथा प्रत्यक्ष-दर्शन से अनुप्राणित होता है।

कवि देव ने फाग-वर्णनों में गुलाल की वर्षा का कुछ दूसरे ही ढंग से चित्र उपस्थित किया है। छैला कन्हाई भी कितने चतुर हैं, एक ही तीर से दो शिकार कर लेते हैं। अपनी दोनों प्रियतमाओं को जब एक ही स्थान पर देखते हैं तो राधिका से मिलन का अवसर कितनी चतुराई से निकाल लेते हैं? क्योंकि दूसरी प्रियतमा को भी कुपित करना नहीं चाहते। अस्तु—

> खेलत फाग खिलार खरे अनुराग भरे बड़भाग कन्हाई।
> एकहि भौन में दोउन देखि कै देव करी इक चातुरताई।
> लाल गुलाल सों लीनी मुठि भरि बाल के भाल की ओर चलाई।
> वा दृग मूँदि उतै चितयो इन भेंटी इतै वृषभान की जाई॥[1]

देव के कन्हैया अनुराग के रस में निमग्न होकर फाग का खेल खेलते हुये घूम रहे हैं, और किसी हृदयेश्वरी की तत् निमित्त खोज भी रहे हैं क्योंकि फाग खेलने के बहाने ही यदि प्रिया के साथ आलिंगन सुख की प्राप्ति हो जाय तो उससे बढ़कर कौन सा सुख होगा। किन्तु जैसे ही प्राणेश्वरी राधिका के समीप पहुँचे कि एक ही भवन में राधा सहित दूसरी प्रिया को भी वहाँ पाया। अतएव राधा से भेंट करने के लिए रसीले महाराज एक चतुराई यह खेलते हैं कि गुलाल की मूठ भरकर दूसरी प्रिया के मस्तक की ओर चला देते हैं। तब जैसे ही वह अपने नेत्रों को बन्द करती है कि छलिया कान्हा वृषभान की पुत्री से भेंट कर लेते हैं। यहाँ कृष्ण के छली-स्वरूप की व्यंजना और रसपूर्ण भावना का चित्र अतीव सुन्दर ढंग में उपस्थित हुआ है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह निस्सन्देह फाग का खेल युवक-युवतियों के मनोरथों को पूर्ण करता है।

---

1. देव-ग्रंथावली – भाव विलास – तृतीय विलास, छन्द ५८, पृष्ठ १०४

पद्माकर के चित्र तो अत्यन्त ही रमणीय हैं। कृष्ण सहित समस्त गोप फाग-क्रीड़ा करते हुये अत्यन्त ऊधम मचा रहे है। उस भीड़ में नवयौवना नायिका घिर जाती है और कृष्ण के द्वारा गुलाल लगने पर उसकी स्थिति कितनी विचित्र हो जाती है इस दशा का अतीव स्वाभाविक चित्र चित्रित किया गया है –

एरी बलबीर के अहीरन की भीरन में, समिटि समीरन अबीर को अटा भयो।
कहैं पद्माकर मनोज मन-मोजन ही, नेम के पटाते पुनि प्रेम को पटा भयो।
नेही नदलाल की गुलाल की घलाघल में, यों तन पसीजि घन घोर की घटा भयो।
चोरैं चखचोटन चलाख चित चोरयो गयो, लूटी गयी लाज कुलकानि को कटा भयो।[1]

पद्माकर की इस गोपिका ने अपनी सखी से अपनी भावना को व्यक्त किया है कि कृष्ण के द्वारा उसके चित्त का किस प्रकार चुरा लिया गया, इसी का सुन्दर निदर्शन इस अवतरण में निहित है। फाग-क्रीड़ा का दिवस है। बलबीर समस्त मित्रों के साथ होली मना रहे हैं। इस भीड़ में सभी लोग अबीर को इस प्रकार बरसा रहे हैं कि अबीर की राशि का एक अम्बार ही मानों लग जाता है। अब नवयौवना नायिका भी इस दृश्य से आकर्षित होकर वहाँ आ जाती है, लेकिन उस भीड़ में वह इस प्रकार घिर जाती है कि निकल ही नहीं पाती। वहाँ प्रिय कृष्ण का साहचर्य पाकर तो उसकी स्थिति कुछ और ही हो जाती है, परिणामस्वरूप मनोज की इच्छा के द्वारा उसके हृदय में प्रणय की भावना का उदय होता है। इसके अतिरिक्त जब स्नेही नंदलाल उसके कपोलों पर गुलाल मलते है तो शरीर अपार बादलो की घटा के समान प्रस्वेद से भीग जाता है। अतएव वह गोपिका चालाक होते हुए भी अपने चित्त को मन मोहन की दृष्टि द्वारा लुटा कर चली आयी और केवल यही तक नही बल्कि कुल-मर्यादा और लाज भी प्रिय द्वारा लूट ली गयी। कितनी सुन्दर व्यंजना है, क्योकि इस नायिका के स्वयं के हृदय में तो प्रिय मिलन के लिये गुदगुदी उत्पन्न होती है, किन्तु अपनी बात व्यक्त इस प्रकार करती है, जैसे कि बडी ही सीधी-सादी हो। जब इसका चित्त कान्ह के नयनो की चोटों द्वारा चुराया गया है तो क्या इसने कान्ह के चित्त को चुराये बिना छोड़ा होगा ? कदापि नही ! निस्संदेह "चोरैं चख-चोटन चलाख चित चोर्यो गयो" मे गम्भीर व्यजना स्वतः ही लक्षित हो रही है।

कवि पद्माकर का होली के ऊपर लिखा गया दूसरा प्रसग अत्यंत ही उत्कृष्ट कोटि का है। इसकी समानता करने वाले अन्य कवियों के होली के प्रसंग नहीं के बराबर ही है। प्रसंग का अवतरण इस प्रकार है– कृष्ण वृषभानुजा से होली खेलने जाते हैं किन्तु वहाँ उनकी गोपी के द्वारा दुर्गति भी खूब होती है–

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली – जगद्विनोद – छन्द ४०२, पृष्ठ १६७

> फाग के भीर अभीरन तें गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी ।
> भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी ।
> छीन पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मीडि कपोलन रोरी ।
> नैन नचाइ कह्यो मुसकाइ लला फिर आइयो खेलन होरी ॥[1]

गोरी ने भी कृष्ण को खूब बनाया । फाग के भीरे अभीरन तें गोरी गोविन्द को पकडकर साहस के साथ घर के अन्दर ले जाती है । वह अपने मन की सतुष्टि गोविन्द के ऊपर अबीर की झोली उलट कर करती है । गोरी को केवल इतने से ही सतोष नही होता, बल्कि लला की कमर पर पडे हुए पीताम्बर वस्त्र को भी छीन लेती है और कपोलो के ऊपर अच्छी तरह रोली भी मीड देती है । अब अपने प्रिय को इस प्रकार रोली मे रँगा देखकर गोरी को हँसी भी अनायास ही आ गयी । चाहती तो वह कुछ और भी की किन्तु नारी-सुलभ लज्जा उसके नैनो मे व्याप्त हो गयी । अत विलास के साथ केवल नेत्रो को ही नचा सकी तथा कहने के लिए केवल इतना ही कह सकी कि "लला पुनश्च होली खेलने के लिए अवश्य आना ।" इन शब्दों मे गूढ अभिव्यजना का समावेश है, क्योकि इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय तो लाल के साथ उसके मित्र आदि हैं और यदि रोकती है तो मित्रो को कुछ सन्देह भी हो सकता है । अत पुन आने का ही निमन्त्रण देकर प्रिय को बिदा करती है । पद्माकर ने इस सवैया के अतर्गत विशाल-चित्र की योजना की है । हिन्दी काव्यों मे होली के प्रसगो मे यह सवैया अत्यन्त ही श्रेष्ठ है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तो इस प्रसग के विषय मे यहाँ तक कहा है कि– "होली पर बहुतो ने लिखा है, पर इसका जोड हिन्दी मे कही नही है ।"[2]

फगुआ

रीतिकालीन काव्य मे फाग के समस्त अगो का चित्र प्राप्त होता है । अत यत्र तत्र फगुआ का भी वर्णन आ गया है । फगुआ होली का उपहार होना है । ब्रज मे यह प्रथा अब भी प्रचलित है कि जब कोई प्रिय अपनी प्रिया के साथ प्रथम बार होली खेलना है तो वह उसके बदले प्रिया को कुछ उपहार देता है, इसी को होली का उपहार अथवा फगुआ कहा जाता है । यह फगुआ देवर भी भाभी को प्रथम बार होली खेलन पर प्रदान करता है । अत एकाध उदाहरण के रूप मे पद्माकर का प्रस्तुत छन्द दर्शनीय है–

---

१ पद्माकर – ग्रथावली – छन्द ४६४, पृष्ठ १७९

२ पद्माकर – श्री डॉ० भालचन्द्रराव तेलग – पद्माकर का व्यक्तित्व
लेखक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ १२७

केसररंग रँगी सिर ओढ़नी काननि कीन्हे गुलाबकली हौ।
भाल गुलाल भर्‌यो पद्माकर अंगनि भूषित भाँति भली हौं।
औरन कौं छलती छिन में तुम जाती न औरन सों जु छली हौं।
फाग में मोहन को मन लै फगुआ में कहा अब लैन चली हौं॥[1]

पद्माकर की नायिका के सिर की ओढ़नी वसन्त के उपयुक्त केसर के रंग में रंगी है तथा उसने कानो में गुलाबकली को धारण कर रक्खा है, प्रिय की प्रीति की सूचना देता हुआ गुलाल भाल में भरा हुआ है तथा नायिका अपने अंगों के सौन्दर्य द्वारा अच्छी प्रकार सुशोभित है। इसके अतिरिक्त यह नायिका इतनी चतुर भी है कि दूसरों को क्षण भर में छल सकती है किन्तु स्वयं दूसरों के द्वारा नही छली जाती। अब उसकी सखी पूँछ ही लेती है कि उसने फाग-क्रीड़ा करते हुए मोहन का मन तो अपने वश में कर लिया किन्तु उसके प्रतिदान स्वरूप वह मोहन के पास से फगुआ के रूप में क्या लेकर आयेगी ? प्रश्न में उत्तर स्वतः ही व्यक्त हो जाता है कि नायिका मोहन का मन तो ले चुकी है तथा स्वयं भी मोहन को अपना मन दे चुकी है तभी तो मोहन के समीप जाने के लिए प्रस्तुत है। इस पद की भावात्मक कल्पना अत्यन्त ही सौन्दर्य की छटा से परिपूर्ण है।

पिचकारी द्वारा रंग की वर्षा

नायक और नायिका एक दूसरे के अनुराग मे रंगकर होली के अवसर पर एक दूसरे पर रंग फेंकने का आनन्द अच्छी तरह प्राप्त करते हैं। इसमें प्रिय और प्रिया दोनों के हृदय में ही भावात्मक उद्वेग विद्यमान रहता है। इसी का अधोलिखित चित्र कितना सराहनीय है—

या अनुराग की फाग लखौ जहँ रागती राग किसोर-किसोरी।
त्यों पद्माकर घालि घली फिरि लाल ही लाल गुलाल की झोरी।
जैसी कि तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन के रंग भीजिगो साँवरो साँवरे के रंग भीजिगी गोरी॥[2]

पद्माकर के नायक-नायिका की यह आपस की फाग-क्रीड़ा सचमुच ही दर्शनीय है जहाँ पर नायक-नायिका एक दूसरे के ऊपर गुलाल बरसाकर पुनः रंग की वर्षा करने के लिए जैसे ही केसर रंग से पिचकारी भरने का प्रयत्न करते हैं तो उनके हाथ ऐसे स्तम्भित हो जाते हैं कि पिचकारी जैसी की तैसी रह जाती है और बिना रंग डाले ही दोनों एक दूसरे के रंग में रंग जाते हैं। यही फाग-क्रीड़ा की प्रतिक्रिया है जो कि परस्पर प्रेम की उत्पादिका बनती है।

---

1. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द २३९, पृष्ठ १३२
2. वही „ „ ३३९ पृष्ठ १६७

अब होली के अवसर पर पिचकारी द्वारा रंग फेंकने के प्रसंग को संस्कृत कवि कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त के वर्णन में भी देख सकते हैं जहाँ नायिका द्वारा फेंके गये पिचकारी के जल से नायक अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली समझता है। यथा–

क्रीडन्त्या श्रमरहित शृंगकसलिलेन ताडितस्तरुण ।
सीमन्तिन्या गणयति दृष्टात्मा सुभगमात्मानम् ॥[1]

दामोदर गुप्त की नायिका परिश्रान्त हुए बिना फाग क्रीडा कर रही है और तभी अपने प्रिय नायक के ऊपर पिचकारी के जल से जो ताडन करती है उससे नायक अत्यन्त ही प्रसन्न होता है और स्वयं को अतीव सौभाग्यशाली भी समझता है। अत स्पष्ट है कि नायिका भी इस नवयुवक के प्रेम में आकृष्ट होकर जल फेंकती है और जल के स्पर्श से नायक के हृदय में भी प्रेम के अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं।

उक्त पद्माकर और दामोदर गुप्त के नायक नायिका फाग-क्रीडा से ही प्रेरित होकर प्रेम का अनुभव करते हैं किन्तु दोनों कवियों के विचार और प्रसंग सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि पद्माकर के नायक-नायिका को पिचकारी चलाने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता जबकि कवि दामोदर गुप्त की नायिका युवक नायक पर पिचकारी चला देती है। इसके अतिरिक्त पद्माकर का वर्णन अत्यन्त ही सरस है जबकि दामोदर गुप्त का वर्णन पूर्णरूप से सीधा–सादा है। पद्माकर के नायक-नायिका की पिचकारी का केसर रंग में न बोरे जाने पर जैसे का तैसा रहना और बिना रंग डाले ही "गोरी" के रंग में "साँवरे" का भीगना और "साँवरे" के रंग में गोरी का भीगना ये प्रसंग अतीव मर्मस्पर्शी हैं।

ब्रज की होली का हुड़दंग पहले से ही प्रसिद्ध है। अत पद्माकर प्रभृति कवियों ने उसके अत्यन्त ही मौलिक चित्र खींचे हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तुत वर्णन दर्शनीय है–

ऊधम ऐसो मचो ब्रज में सबै रंग तरंग उमंगनि सींचै ।
त्यों पद्माकर छज्जनि छातनि छ्वै छिति छाजती केसर कींचै ।
दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछू गुपाल गुलाल उलीचै ।
एकही संग इहाँ रपटे सखि ये भए ऊपर हौं भई नीचै ॥[2]

पद्माकर ने इस वर्णन के माध्यम से अत्यन्त विस्तृत चित्र की कल्पना की है। फाग के दिन हुड़दंग का मचना, ब्रज के समस्त लोगों की उमंगों का रंग द्वारा सींचा जाना, समस्त स्थानों पर केसर की कीचड़ का फैलना, नायिका का पिचकारी देकर भीगते हुए भागना, गोपाल का गुलाल उलीचते हुए उसके पीछे पड़ना, फिर

१ कुट्टनीमत–श्लोक ८९३, पृष्ठ १७६
२ पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद छन्द ९१, पृष्ठ ९८

दोनों का एक साथ ही रपटना, तब नायिका का नीचे और प्रिय का ऊपर हो जाना, ये समस्त वर्णन अत्यन्त विशद चित्र उपस्थित करते हैं। यहाँ कवि ने स्वतन्त्र योजना से तो कार्य किया ही है, साथ ही भाव में मार्मिकता का समावेश भी स्वतन्त्र होकर भी किया है।

अन्त में कवि रघुनाथ का वर्णन भी लक्षणीय है। प्रिय और प्रिया फाग खेल रहे हैं। प्रिया के द्वारा रंग की वर्षा पर नायिका की मुग्धता यहाँ वर्णित है। यथा–

खेलत फागु लखे पिय प्यारी यों सो सुख की समता कहाँ दीजै।
देखत ही बनि आयो समै रघुनाथ कहा है जो वारनै कीजै।
ज्यों–ज्यों छबीली कहै पिचकारी ले एक लई अरु दूसरी लीजै।
त्यों-त्यों छबीलो छकै छवि छाक सों हेरे हँसे न टरै खरो भीजै॥[1]

प्रसंग स्वतः ही स्पष्ट है। इसमे तीसरी और चौथी पक्ति में अधिक मार्मिकता का समावेश है। छबीली नायिका जैसे ही जैसे पिचकारी लेकर कहती है, एक बार रंग डाल दिया, अब दूसरी पिचकारी का रंग लीजिए, वैसे ही वैसे कृष्ण भी उसकी छवि तथा हाव–भाव पर मुग्ध होकर हँसते हैं तथा नायिका द्वारा रंग डालने पर स्थिर होकर रंग में भागते रहते हैं।

रघुनाथ का यह प्रसंग अत्यन्त ही मार्मिक है। ऐसा लगता है कि नायिका द्वारा की गई रंग की वर्षा मानो नायक को अनुराग के रंग में निमग्न किए हुए है। तभी तो नायक हँसता हुआ स्थिर खड़ा होकर नायिका द्वारा बरसाये हुए रंग में भीगता रहता है। छन्द के यों तो सम्पूर्ण भाव में ही गति विद्यमान है किन्तु "छकै", "छवि", 'छाक" इन शब्दो मे मानो भाव का तारल्य ही उमड़ने लगा है तथा एक चित्र ही मानों सहज रूप में उभर आया है।

अन्त में होली के इन कतिपय प्रसंगों पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि नर-नारियों का चारों ओर फाल्गुनोत्सव जनित हुड़दंग, नृत्य, वाद्य-वादन, अबीर उड़ाना, रंग की फुहार इत्यादि वर्णन रीतिकालीन कवियों की रुचि के द्योतक हैं। अतएव यदि कहा जाय कि रीतिकालीन कवियों ने फागुन की मस्ती का पूर्ण तृप्ति के सहित आनन्द लेकर, उसी अनुभूति को अपने काव्यों में अनुस्यूत कर युग-विशेष की रंगीनी का परिचय दिया, तो यह सत्य ही है। इसीलिए संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है कि फागुन का रसीला मौसम जैसा रीतिकालीन कविता में होली-क्रीड़ा के रूप में चित्रित हुआ, वैसा चित्रण सम्भवतया भारतीय साहित्य के अन्तर्गत किसी भी युग की कविता में नही हो सका है। यदि कहीं है भी तो इतना रुचिपूर्ण और विशद नही है।

---

१. काव्य कलाधर–कविवर रघुनाथ–पृष्ठ १६ छन्द संख्या–१२ (प्रथम संस्करण)

जल-क्रीडा

संयोगात्मक प्रवृत्ति को मधुरतम बनाने मे जल-क्रीडा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होती है। संस्कृत काव्यो के अन्तर्गत इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर विशद वातावरण और परिस्थितियो के आयोजन के फलस्वरूप अंकित किया गया है। कालिदास, माघ, भारवि आदि प्रतिनिधि कवियो की रचनाएँ तो जल-क्रीडा के अनेक चित्रो द्वारा चित्रित हैं। रीतिकाल के कवियो ने भी इन प्रसगो को स्थान-स्थान पर ग्रहण किया, किन्तु इन कवियों के वर्णन मुक्तको की सकीर्ण परिधि मे ही कैद हो गये हैं। अतएव संस्कृत काव्यो के समान विस्तृत क्षेत्र को ये अपने मुक्तको मे समेटने में प्राय असमर्थ ही रहे हैं। उदाहरणार्थ कुछ मुख्य प्रसगो को ही यहाँ ग्रहण किया जायगा।

जल-क्रीडा करते हुए नायक-नायिका के दृगो की ओर पानी उलीचता है, इसका वर्णन विहारी ने कितना सजग होकर किया है, देखिए—

> छिरके नाह नवोढ-दृग, कर-पिचकी जल-जोर।
> रोचन-रग लाली भई, बियतिय-लोचन-कोर ॥[1]

विहारी का नायक अपनी नवोढा नायिका के साथ जल-क्रीडा कर रहा है। उस समय वह अपने हाथ की पिचकारी बनाकर विलासपूर्वक अपनी प्रियतमा की आँखों की ओर जोर से पानी फेंकता है। पानी तो नायिका की आँखो मे पडा, किन्तु गोरोचन के रग की अरुणिमा का प्रादुर्भाव किसी अन्य स्त्री की आँखो मे हुआ जो वही स्नान कर रही थी। कैसी विलक्षण बात है! इससे स्पष्ट है कि दूसरी नायिका के मन मे सपत्नी ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वह नवोढा के इस सौभाग्य पर ईर्ष्या करने लगती है कि उसे प्रियतम के प्रेम का इतना सुख प्राप्त है।

माघ का नायक भी इसी प्रकार जब अपनी परम-प्रियतमा के ऊपर जल फेंकता है तो उसकी दूसरी प्रियतमा की स्थिति द्रष्टव्य है—

> आनन्द दधति मुखे करोदकेन
> श्यामाया दयिततमेन सिच्यमाने।
> ईर्ष्यन्त्या वदनमसिक्तमप्यनल्प
> स्वेदाम्बुस्नपितमजायतेतरस्या ॥[2]

स्पष्ट है कि प्रियतम के हाथो द्वारा जैसे ही नायिका के ऊपर जल फेंका जाता है, तो वह सुन्दरी अत्यन्त ही प्रसन्न हो जाती है जोकि स्वाभाविक है, किन्तु दूसरी ओर सपत्नी जैसे ही इस व्यापार को देखती है तो उसके हृदय में नायिका के सौभाग्य पर तो ईर्ष्या होती ही है साथ ही इस बात से भी दुःख होता है कि नायक उसे

---

१ विहारी-रत्नाकर-दोहा १५३

२. शिशुपालवध-आठवाँ सर्ग-श्लोक ३६

इतना प्रेम नही करता । परिणामस्वरूप उसका मुख पसीने के जल से भीगने के कारण विना सींचे ही सिक्त हो जाता है ।

विहारी और माघ दोनों के प्रसंग आपस में वहुत कुछ मिलते-जुलते है क्योंकि विहारी का नायक जव अपनी प्रिया के ऊपर जल फेंकता है तो वहाँ दूसरी अन्य स्त्री को ईर्ष्या होती है किन्तु यहाँ माघ के नायक द्वारा प्रिया के ऊपर जल फेकने पर नायक की दूसरी पत्नी को ईर्ष्या होती है । अतः दोनो के प्रसगो मे केवल इतना ही अन्तर है कि विहारी-प्रसंगान्तर्गत ईर्ष्या करने वाली कोई अन्य स्त्री है और माघ के प्रसंग में नायक की दूसरी प्रिया । पत्नी द्वारा ईर्ष्या तो स्वाभाविक वात है किन्तु अन्य स्त्री का ईर्ष्या भाव विहारी के प्रसंग को कुछ अविक ही रमणीय वना देता है । विहारी का चित्र निस्सन्देह अतीव सुन्दर है; क्योंकि "कर-पिचकी जल-जोर", तथा "वियतिय-लोचन-कोर" मे "रोचन-रग" की लाली होना, इनसे एक सुन्दर स्थूल चित्र प्रकट हो जाता है । अतः प्रसंगानुसार विहारी की शब्द-योजना और कल्पकता अत्यन्त सशक्त है ।

विहारी के नायक-नायिकाओं की यह स्थिति भी दर्शनीय है । दोनो प्रेमी स्नान कर लेने पर भी जप करने के वहाने एक दूसरे के समक्ष खड़े ही रहते है, यथा-

> चितवत जितवत हित हियँ, कियँ तिरीछे नैंन ।
> भीजै तन दोऊ कँपैं, क्यों हूँ जप निवरै न ॥[1]

प्रिय तथा प्रियतमा—दोनों शीतऋतु मे साथ-साथ स्नान करने के पश्चात् अपने तिरछे नेत्र किये हुए आमने-सामने खड़े है और सर्दी से कम्पित हो रहे हैं । किन्तु परस्पर सद्यस्नान जनित आभा को देखने के लिए दोनों जप करने का वहाना वनाये हुए हैं । इसी आकर्षण की स्थिति के कारण उनका जप समाप्त नही हो रहा है ।

आर्याकार के नायक-नायिका भी परस्पर इसी प्रकार आकर्षित हैं तभी तो उनकी जल-क्रीड़ा समाप्त नही हो पाती—

> अन्योन्यमनु स्रोतसमन्यदथान्यत्तटात्तटं भजतो ।
> उदितेऽर्केऽपि न माघस्नान प्रसमाप्यते यूनोः ॥[2]

नायक-नायिका दोनों परस्पर निभृत सम्भाषण आदि का उपयुक्त अवसर निकालना चाहते हैं तभी तो वार-वार आपस मे कहते हैं कि 'वह तट इस तट की अपेक्षा अविक प्रवाह युक्त है ।" निस्सन्देह उनका परस्पर इस प्रकार कहना एक वहाना मात्र ही है और इसी वहाने से वे वार-वार एक तट से दूसरी ओर इतनी वार जाते हैं कि सूर्योदय से पूर्व समाप्त होने वाला उनका माघ-स्नान सूर्योदय तक भी

---

१. विहारी—रत्नाकर—छन्द ५१७
२. आर्यासप्तशती—श्लोक २९

समाप्त नही हो पाता है।

बिहारी के नायक नायिका स्नान कर चुके हैं किन्तु परस्पर आकर्षित होने के कारण जप समाप्त करना नही चाहते, तथा आर्याकार के नायक-नायिका भी जल-क्रीडा समाप्त नही करना चाहते क्योंकि यदि वे स्नान करना बन्द कर देंगे तो संयोग की स्थिति समाप्त हो जायेगी। अत दोनो का बार-बार एक तट से दूसरे तट की ओर जाना उनके परस्पर आकर्षण की स्थिति का बोध कराता है। बिहारी और आर्याकार दोनो के नायक नायिका किसी प्रकार भी नदी के समीप से अलग होना नही चाहते हैं और दोनो ओर यह दशा है कि दोनो प्रेमीजन यही चाहते हैं पुनश्च परस्पर जल-क्रीडा की जाय जिसमे कि एक दूसरे का सहज संयोग प्राप्त होता रहे। आर्याकार के नायक-नायिका का बहाना यद्यपि अधिक स्वाभाविक है फिर भी सूर्योदय तक नदी मे वैसे रहना अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। समाज के भय से दोनो प्रेमी मुक्त दिखायी देते हैं। परन्तु बिहारी ने जप करने की योजना से भीगे हुए वस्त्रो से युक्त शरीर सौन्दर्य के पारस्परिक आकर्षण के प्रलोभन के साथ ही साथ समाज की सन्देहात्मक दृष्टि से बचने का उपाय भी किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्याकार के प्रसग से प्रेरणा पाकर भी बिहारी ने अपनी रुचि तथा युगबोध के प्रभाव से इस जल क्रीडा प्रसग मे परिवतन किया है।

नायक-नायिका की जल-क्रीडा के प्रसग मे कवि देव का निम्नलिखित छन्द दृष्टव्य है जहाँ पर वर-वधू दोनो ही जल-क्रीडा मे सलग्न हैं—

> सोहैं सरोवर बीच वधू वर व्याह की भेष बन्यो वर लीक सो।
> लाज गडे गुरु लोगन की पट गाँठ दै ठाडे करै इक ठीक सो।
> न्हात पखारी सो प्यारी के ओठ ते छूट्यो मजीठ निहारि नजीक सों।
> तीकी रँगी अँखियाँ अनुराग सो पी की वहै पिक बैनी की पीक सो॥[1]

प्रिय और प्रिया दोनो ही वैवाहिक सुन्दर वेष मे सरोवर के मध्य मे प्रवेश कर जल-क्रीडा करते हुए सुशोभित हो रहे हैं किन्तु उस समय दोनो के हृदय मे समीपस्थ गुरुजनो की भी लज्जा है, इसीलिये खुलकर बातें भी नही कर सकते। स्नान करने मे वधू के 'ओठ' से रेशमी वस्त्र द्वारा मजिष्ठादि का रग भी छूट जाता है। उस जल-क्रीडा मे प्रिय और प्रिया दोनो ही एक दूसरे के प्रेम रग मे रँग जाते हैं।

कवि देव की अन्तिम पक्ति का साम्य किरातार्जुनीयम् की अधोलिखित पक्ति से हो सकता है। यहाँ अपने-अपने प्रिय के समीप जल-क्रीडा करने से देव-वधुओ के हृदय मे जिन सात्त्विक भावो की सृष्टि होती है, वे दृष्टव्य हैं—

---

१ देव ग्रन्थावली—भाव विलास—प्रथम विलास, छन्द १९

"निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां
प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।"[1]

जल-क्रीड़ा के समय प्रियतमों के समीप रहने पर देवाङ्गनाओं की आँखें अर्द्ध-निमीलित तो हो गयीं एवं बार-बार प्रियतमों को विलासपूर्वक देखकर वे प्रणय जनित स्वाभाविक लज्जायुक्त थीं, किन्तु प्रिय-स्पर्श से उनके शरीर, कम्पन का अनुभव कर रहे थे ।

देव और किरातार्जुनीयम् के नायक-नायिका एक दूसरे के समीप जल-क्रीड़ा करने के कारण प्रेम की उत्कृष्टता का अनुभव तो करते ही हैं साथ ही प्रणयजनित सात्त्विक भावों का जो उन्हें अनुभव होता है, उसका पूर्ण स्पष्टीकरण भारवि के वर्णन में तो अंकित है, किन्तु देव के वर्णन में व्यंजना के रूप में ही उसका स्वरूप विद्यमान है । इसके अतिरिक्त देव के प्रसंग में आदि से अन्त तक जिस विशाल चित्र की योजना सौन्दर्य के साथ अंकित है, वह भारवि के केवल एक श्लोक में प्राप्त नहीं है । अतः देव ने भारवि से भाव तो ग्रहण किया, किन्तु उसे विशद और रमणीय बनाने में उनकी स्वयं की कल्पना शक्ति का विशेष हाथ है ।

पद्माकर की जल-क्रीड़ा की यह स्थिति कुछ और ही विचित्र है जबकि प्रियतम एक प्रिया को छोड़कर दूसरी से छलपूर्वक क्रीड़ा करता है—

जलविहार पिय प्यारि को देखति क्यों न सहेलि ।
लै चुभकी तजि एक तिय करत एक सों केलि ।।[2]

पद्माकर का नायक पहले तो अपनी प्रिया के साथ जल-क्रीड़ा करता है, तत्पश्चात् दूसरी के साथ । अतः दोनों को ही वह प्रसन्न करता है ।

किरातार्जुनीयम् का नायक भी अपनी दोनों नायिकाओं के ऊपर जल-क्रीड़ा के समय जल उड़ाता है । उसी का चित्र दर्शनीय है—

प्रियेण सिक्ता चरमं विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोष सान्त्वनैः ।।[3]

भारवि का नायक पहले तो प्रिया की सपत्नी के ऊपर जल सिंचन करता है, ततोपरान्त प्रिया के ऊपर जल का छीटा उड़ाता है । इससे प्रिया इतनी अप्रसन्न हो जाती है कि नायक द्वारा अनुनय विनय करने पर भी सन्तुष्ट नहीं होती ।

पद्माकर ने यद्यपि किरातार्जुनीयम् के इसी भाव को पकड़कर अपना प्रसंग नियोजित किया है किन्तु वर्णन मे स्वतन्त्रता का पूर्ण स्वरूप हमें तभी देखने को प्राप्त हो जाता है, जबकि नायक डुबकी लेकर एक को सन्तुष्ट करता है और पुनः उसे छोड़

---

१. किरातार्जुनीनम्–आठवाँ सर्ग–श्लोक ५३
२. पद्माकर–ग्रन्थावली–जगद्विनोद, छन्द ७७
३. किरातार्जुनीयम्–आठवाँ–सर्ग–श्लोक ५४

कर दूसरी के समीप पहुँचता है। वहाँ उसे भी तुष्टि प्रदान करता है। पद्माकर ने इस वर्णन मे बड़ी ही सतर्कता दिखाई है, तभी तो उसकी दोनो नायिकायें प्रिय द्वारा सतुष्ट हैं, वे भारवि की नायिका की तरह अधीर होती हुई नही दिखाई देतीं।

कभी-कभी विपत्तिजनक प्रसग भी वरदान सिद्ध होता है। यमुना के गम्भीर जल में तैरने वाली नायिका जब डूबने लगती है तब उसे प्रियतम गोपाल का सहारा मिल जाता है, जो उसके लिए सुखद अनुभूति है। पद्माकर की नायिका की यह स्थिति दृष्टव्य है—

जोर जगी जमुनाजलधार मे, धाइ धँसी जलकेलि की माती।
त्यो पद्माकर पैग चलै उछलै जब तु ग तरग विघाती।
टूटे हरा छरा छूटे सबै सराबोर भइ अँगिया रगराती।
को कहतो यह मेरी दसा गहतो न गुबिन्द तो मैं बहि जाती॥[1]

भारवि की नायिका भी इसी प्रकार जल-क्रीडा करती हुई अगाध जल में पहुँचती है तब डूबने के भय से भयभीत होकर प्रिय का सहारा पकडती है, इस भाव का चित्र दृष्टव्य है—

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती
पयस्यगाधे किल जातसभ्रमा।
सखीषु निर्वाच्यमधार्ष्ट्यदूषित
प्रियाङ्गसश्लेषमवाप मानिनी॥[2]

डूबते समय जब नायिका प्रिय का सहारा लेती है तो सखियाँ उसके ऊपर धृष्टता का कोई दोषारोपण नही करती क्योंकि यदि वह प्रिय का सहारा नहीं लेती तो जल मे बह सकती थी।

पद्माकर का उक्त प्रसग निस्सन्देह किरातार्जुनीयम् के प्रसग द्वारा अनुप्राणित है। किन्तु किरात मे तो वर्णन को सीधे सादे ढग मे प्रसगानुसार ग्रहण कर प्रस्तुत कर दिया गया है जबकि पद्माकर का प्रसग विशाल-परिधि को लेकर चमत्कारिक ढग से अभिव्यजित है। 'जलकेलि की माती', 'पैग चलै उछलै', 'तु ग तरग विघाती' आदि चित्र ध्वनि-सयुत हैं, तथा 'माती' और तु ग-तरग' शब्दों से भाव की उछाल भी सहज ही ध्वनित हो जाती है। अतएव पद्माकर का चित्र अतीव मार्मिक बन पडा है।

रीतिकालीन कवियो के प्रसग तैरने, पिचकारी छोडने आदि से लेकर विलास तक अनेक रगो द्वारा रजित हैं। स्थान-स्थान पर इनकी प्रेरणा अधिकतर संस्कृत

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद-सवैया ५३१
२ किरातार्जुनीयम्—आठवाँ सर्ग—श्लोक ४८

कवियों से ग्रहण की गई है जैसा कि यहाँ आये हुए उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाता है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रसंगों में छायात्मक और सीधे भाव ग्रहण के प्रेरक-तत्त्व पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यों से ही आये हैं।

निषेधात्मक-स्वीकृति

नायिका की निषेध के आवरण में छिपी हुई स्वीकृति नायक की सम्भोगाभिलाष को महती तीव्रता प्रदान करती है। लज्जावश नायिका, प्रिय के कार्य-कलापों के प्रति सहसा 'हाँ' नहीं करती, अपितु 'नहीं' के द्वारा ही अपनी 'हाँ' अर्थात् स्वीकृति प्रकट कर देती है। नारी की इस प्रवृत्ति के विषय में केलिनपॉल का कथन है कि "स्त्रियाँ किसी अशालीन कार्य को करने में उतनी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करतीं, जितनी कि उसे कहने में।"[1] डॉ० बच्चन सिंह ने भी इस विषय में अपना मत प्रतिपादित करते हुए कहा है कि "समाज ने जिस प्रेम व्यापार को बहुत गोप्य बना दिया है उसकी अभिव्यक्ति वाणी द्वारा समाज सम्मत नहीं मानी जा सकती।"[2] इससे स्पष्ट है कि प्रिय-निवेदन से नारी के हृदय में जिस अनिर्वचनीय सुख का प्रादुर्भाव होता है, उसे वाणी द्वारा तो व्यक्त नहीं करती बल्कि अपनी निषेधात्मक स्वीकृति से अनुप्राणित हाव-भाव द्वारा प्रकट कर देती है। भर्तृहरि ने भी संयोग-शृंगार की चर्चा करते हुए स्त्रियों के इस 'नाही' के पश्चात् ही अभिलाष व्यक्त करने का उल्लेख किया है।[3]

नायिका की इस निषेधात्मक-स्वीकृति पर प्रायः संस्कृत कवि बहुत रीझे है। अतः प्रसंग विशेष से हमें अनेक चित्र प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार रीतिकालीन कवि भी इस प्रवृत्ति को समझने में अत्यन्त ही कुशल रहे और उन्होंने भी अपने अनुभवों के आधार पर अनेक चित्रों की सर्जना की। बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि सभी कवियों ने निषेधात्मक स्वीकृति की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति की है।

बिहारी की नायिका नायक के समक्ष यद्यपि 'नहीं' करती है, किन्तु उस निषेध में स्वीकृति का भाव विद्यमान है, यथा—

---

1. Modest women have a much greater horrar of saying immodest thing than of doing them.

(Ellis. H., Psy. of Sex, Vol. p. 66)

२. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १८२

३. प्राङ्मामेतिमनागमानितगुणंजाताभिलापंततः।

शृंगार शतक—श्लोक २५

जदपि नाहिं नाही नही, बदन लगी जक जाति ।
तदपि भौंह हाँसी भरिनु, हाँसीयै ठहराति ॥[1]

नायक यहाँ अपने मित्र से अपनी नायिका की प्रतिक्रिया का वर्णन कर रहा है क्योकि जैसे ही वह नायिका का स्पर्श अथवा अन्य कार्य कलाप, जैसे वस्त्र खोलना आदि करता है तो प्रिया के मुख से यद्यपि सदैव 'नही' की आवाज निकलती है, किन्तु उसी अवसर पर जब नायक प्रिया की सस्मित भौहो को देखता है तो वह अपनी प्रिया की स्वीकारोक्ति को समझ लेता है कि प्रिया की 'नही' में ही 'हाँ' की व्यजना छिपी है ।

प्रिय-स्पर्श द्वारा पुलकित किन्तु निषेध करती हुई माघ की नायिका भी कितनी अच्छी लगती है—

ग्रन्थिमुद्ग्रथयितु हृदयेशे वासस स्पृशति मानधनाया ।
भ्रूयुगेण सपदि प्रतिपेदे रोमभिश्च सममेव विभेद ॥[2]

कवि माघ ने प्रस्तुत श्लोक श्रीकृष्ण की सेना के सैनिको द्वारा अपनी प्रियतमाओं के साथ विहार करने के प्रसगो के लिए चुना है । अपने प्रियतम द्वारा रति हेतु वस्त्र की ग्रन्थि खोलने और शरीर-स्पर्श किये जाने पर किसी बाला ने अपनी दोनों भौहो और रोमावली द्वारा अपनी पुलकता को नायक के समक्ष स्पष्ट कर दिया । 'मानधनाया ' शब्द से प्रतीत होता है कि नायिका ने पहले तो निषेध किया था किन्तु निषेध मे छिपी स्वीकृति को उसने अपनी भौहो और रोमावली द्वारा व्यक्त कर दिया ।

बिहारी का उक्त दोहा माघ के प्रस्तुत अवतरण से नायिका की निषेध में छिपी स्वीकृति की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य लिए हुए है, क्योकि नायक के क्रिया-कलाप पर प्रारम्भ मे बिहारी की नायिका भी निषेध करती है और माघ की नायिका भी । इसके अतिरिक्त दोनो ही नायिकाएँ पुनश्च अपने-अपने नायक को भ्रू भगिमा के द्वारा समस्त भावनाओं का परिचय प्रदान करती हैं । इतने पर भी माघ का वर्णन अभिधा द्वारा स्पष्ट हुआ है क्योकि प्रियतम द्वारा ग्रन्थि को शिथिल करने तथा उसके कार्य-कलाप में पूर्ण अभिधा विद्यमान है जबकि बिहारी के नायक के कार्य-कलाप व्यजित होते हुए प्रतीत हो रहे हैं । अत बिहारी का दोहा पढकर पाठक के हृदय में स्वत ही जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होता है, और वह कुछ और भी प्राप्त करना चाहता है जो कि कवि की उक्ति मे ध्वनित हो रहा है । अत साम्य होते हुए भी बिहारी का वर्णन माघ से अधिक रमणीय है ।

---

१ बिहारी-रत्नाकर, छन्द स० ३२४
२. शिशुपाल-वध-दसवाँ सर्ग-श्लोक ६३

विहारी के अधोलिखित दोहे के अन्तर्गत नायिका द्वारा प्रिय के निवेदन को निषेध द्वारा ही स्वीकार करने की यह अवस्था भी दृष्टव्य है--

भौंहनु त्रासति, मुँहु नटति, आँखिनु सौं लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावत करु, इँची आगैं आवति जाति ।।[1]

किसी दूसरी सखी से नायिका-विषयक कार्यों के सम्बन्ध में कोई अन्य सखी बतलाती है कि नायिका नायक को देखकर एवं उसके रति निवेदन को सुनकर भौंहों द्वारा नाराजगी व्यक्त करती है, मुँह से अस्वीकार करती जाती है, किन्तु नेत्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उनसे प्रिय का आलिङ्गन करना चाहती हो । वह नायिका यद्यपि अपना हाथ नायक के हाथों से छुड़ा लेती है किन्तु पुनः हाथ को खींचकर भी नायक के आगे चली जाती है, जिससे कि नायक उसका पुनः हाथ पकड़ ले ।

यही भाव कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में दूसरे ढंग से व्यक्त हुआ है । जिस समय राजा विक्रम मालविका के प्रति आकर्षित होता है और जब एकान्त में मुग्धा मालविका के साथ रमण की इच्छा करता है तब मालविका के निषेध का वह मन ही मन सुखानुभव करता हुआ कह रहा है--

हस्तं कम्पयते रुणद्धि रशनाव्यापारलोलाङ्गुलीः
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात् ।
पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साची करोत्याननं ।
व्याजेनाप्यभिलापपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ।।[2]

व्यक्त है कि राजा द्वारा कार्य-कलापों पर मालविका का हाथ कँपाना, करधनी खोलने पर उत्सुक अँगुलियों को रोकना, बलपूर्वक आलिङ्गनपाश में बाँधने पर दोनों हाथों से स्तनमण्डल को ढकना, मुख चुम्बन के लिए प्रस्तुत होने पर मुख को घुमा लेना आदि क्रियाओं में कालिदास ने मुग्धा नायिका की निषेधात्मक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त किया है किन्तु इस निषेध में जो स्वीकृति एवं नायिका की अभिलाषा छिपी है, उससे नायक को अपार सुख प्राप्त होता है ।

कालिदास की नायिका के समस्त कार्य कलाप विस्तार के साथ वर्णित हैं किन्तु विहारी ने अपने दोहे की सीमित परिधि में इस समस्त प्रसंग को व्यंजनात्मक रूप दे दिया है जिसे कि हम 'भौहनु त्रासति', 'मुँह नटति', 'आँखिनु सौं लपटाति' आदि शब्दों द्वारा अंकित किये गये सूक्ष्म चित्र द्वारा विस्तृत रूप में अनुभव कर सकते हैं । अतः निषेधात्मक स्वीकृति की दृष्टि दोनों कवियों के वर्णन में समानता है,

---

१. विहारी–रत्नाकर –छन्द ६८३
२. मालविकाग्निमित्रम्–चतुर्थ अंक–श्लोक १५

किन्तु लाघव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से बिहारी का वर्णन निस्सन्देह उत्कृष्ट है। क्योंकि 'भौंहनि त्रासति' में तो नायिका का नायक के ऊपर कृत्रिम क्रोध, 'मुँह नटति' में निषेध के भीतर छिपी हुई स्वीकृति—ये वर्णन सभी पाठक और श्रोताओं को एक सुखद अनुभूति प्रदान करते हैं।

मतिराम का यह चित्र भी दर्शनीय है जबकि अकेली नायिका को देखकर नायक पहुँचता है और नायिका का हाथ पकड़कर कुछ इच्छा करता है—

सोने की-सी बेली अति सुन्दर नवेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ,
मतिराम' आँखिन सुधा की बरखा-सी भई,
गई जब दीठि वाके मुखचन्द पहियाँ।
नेकु नीरे जाय करि बातनि लगाय करि,
कछु मन पाय हरि वाकी गही बहियाँ,
चैनन चरचि लई सैनन थकित भई,
नैनन में चाह करैं बैनन में नहियाँ ॥[1]

स्वर्ण लतिका के समान नायिका को द्वार के मध्य में खड़ी हुई देखकर नायक अत्यन्त ही प्रसन्न हो जाता है। वह पहले तो नायिका के समीप जाता है और पुन उसे बातों में लगाता है और जब अपने मन में नायिका का आकर्षण अच्छी तरह समझ लेता है तो फिर मौके से नहीं चूकता और बाँह पकड़ कर रति निवेदन करता है, नायिका भी उस अपार सुख का अनुभव अपने हृदय ही हृदय में कर प्रसन्न तो होती है किन्तु अपने नेत्रों में इच्छा करते हुए भी वाणी द्वारा प्राय निषेध ही करती है।

नैषधकार श्रीहर्ष का नायक भी अपनी प्रिया की इस प्रवृत्ति पर अत्यन्त ही मुग्ध है तभी तो वह अपनी प्रिया दमयन्ती से कहता है—

आत्म नेति रतयाचित न चेन्मामतोऽनुमतवत्यसि स्फुटम्।
इत्यमु तदपिलापनोत्सुक धूनितेन शिरसा निरास सा ॥[2]

यहाँ कवि ने नायक के माध्यम से ही निवेदन जनित निषेधात्मक स्वीकृति का वर्णन किया है। जब नायक नल अपनी प्रियतमा से सुरत की अभिलाषा व्यक्त करता है तो नायिका 'नहीं' द्वारा उत्तर देती है, इससे प्रियतम अपनी प्रियतमा की मौन स्वीकृति प्राप्त कर लेता है। नायक की इस बातचीत पर भी नायिका सिर हिलाकर निषेध करती है किन्तु उस निषेध के अन्तर्गत ही स्वीकृति का सुख छिपा हुआ है।

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज छन्द ३६९
२ नैषध—सर्ग १८, श्लोक

नैषध और मतिराम के प्रसंग नायक द्वारा रति-निवेदन के अनुसार तो समानता लिए हुए हैं किन्तु वर्णन की दृष्टि से भिन्न हैं; क्योंकि नैषधकार का नायक तो स्पष्ट रति का कथन कर रति-निवेदन करता है, और नायिका सिर हिलाकर निषेध के माध्यम से अपनी स्वीकृति प्रदान करती है। मतिराम का नायक "रति" की इच्छा तो करता है किन्तु हाथ पकड़कर ही; शब्दों द्वारा नहीं; अपितु मौन-वाणी द्वारा कहता है; तब नायिका भी नयनों द्वारा इच्छा तो करती है किन्तु अपनी वाणी द्वारा निषेध ही करती है। अतः इस कथन में अत्यन्त ही आकर्षण भरा हुआ है। इसके अतिरिक्त मतिराम के इस वर्णन मे "सोने की सी अलवेली वाल" का "द्वार महियाँ" खड़े होना, "वाके मुखचन्द पहियाँ" दीठि जाने पर "आँखिन" में "सुधा" की वरखा सी होना"--आदि कथानक अत्यन्त भावुक स्थिति का तो वोध कराते हैं, साथ ही चित्र की रेखाओं को और भी गहन कर देते हैं।

प्रिया की निषेध के आँचल में छिपी हुई स्वीकृति देव के कवित्त मे और भी स्वतन्त्र होकर व्यक्त है--

छतिया छुवत छवि औरै होति आनन की
चन्दन मिलाये मनो केसरि ढरति है।
मुख की रुखाई पै रुखाई कछु वैनन की
नैनन की चिकनाई चौगुनि घरति है।
नासिका मरोरि मुख मोरि नैकु नाही करि
चाहि चित प्रीतम की वांही पकरति है।
देव सुखसागर में वूड़ति सी ताते तिया।
उससि सुजानहि भुजान में भरति है॥[1]

देव का नायक जैसे ही नायिका की छाती का स्पर्श करता है तो उसके आनन की छवि ऐसी हो जाती है कि चन्दन से मिलकर मानो केसर ही ढल गया हो अर्थात् नायिका के मुख का रंग अत्यन्त ही सौन्दर्यपूर्ण दिखाई देने लगता है किन्तु प्रकट में मुख की रूक्षता के साथ ही नायिका के नेत्रों में जो स्पर्शजन्य स्निग्धता उत्पन्न हुई, उससे उसके कथन की रूक्षता छिप जाती है। नायक के क्रिया-कलाप पर नायिका यद्यपि दिखावटी रूप से निषेध, किन्तु प्रिय की वाँह पकड़कर अपने चित्त में स्थित अपनी मनोभिलाषा को व्यक्त कर देती है। प्रियतम के कार्य से प्रिया, सुख के समुद्र मे इतनी निमग्न हो जाती है कि प्रिय को भुज-पाश मे वांधने की वार-वार कामना करती है। देव का यह वर्णन मतिराम के वर्णन के समान ही सुन्दर है किन्तु इन्होंने प्रसंग को कवित्त में लेकर और भी अधिक विस्तृत कर दिया है।

---

१. देव ग्रन्थावली--रस विलास--सातवाँ विलास--कवित्त १९

नैषधकार श्रीहर्ष की नायिका का आलिङ्गन कुछ दूसरे ही ढग का है। अत प्रिय द्वारा स्तनो पर हाथ रखने पर नायिका कितनी शीघ्रता से हाथ हटाती है—

यद्विधूय दयितार्पित कर दोर्द्वयेन पिदधेकुचौ दृढम्।
पार्श्वग प्रियमपास्य सा ह्रिया त हृदि स्थितमिवालिलिङ्गतत् ॥[1]

नायक जैसे ही अपनी प्रिया के स्तनो पर हाथ रखता है तो वह नारी-सुलभ लज्जा से अभिभूत होने के कारण प्रिय का हाथ हटा देती है और अपने स्तनों के ऊपर भी आवरण ढक लेती है। नायिका के इस लज्जापूर्ण कार्य से कवि ने यह कल्पना की है कि उसने समीपस्थ प्रिय को तो लज्जा द्वारा हटाकर अलग कर दिया, लेकिन हृदय मे स्थित प्रिय के आलिङ्गन का सुख प्राप्त कर लिया।

उक्त प्रसग मे वर्णित देव की नायिका के समान ही श्रीहर्ष की नायिका अपने प्रिय द्वारा वक्ष-प्रदेश के स्पर्शजन्य अपार सुख का अनुभव करती हुई प्रतीत होती है। श्रीहर्ष का वर्णन बहुत ही सीधा है किन्तु जब देव के प्रसग पर सम्यक दृष्टिपात किया जाता है तो अनायास ही इस मनोरम-स्थल का ज्ञान हो जाता है। अत प्रिय द्वारा प्रियतमा की छाती छूने से आनन की छवि मे अधिक वैशिष्ट्य का आना, मुख पर रूक्षता का भाव होते हुए भी नयनो मे अधिक स्निग्धता का आना, नासिका और मुख को मोडकर किंचित "नही" कहकर भी लालायित होकर प्रियतम की बाँह पकडना ये सभी कथन चित्रात्मक दृष्टि से तो सुन्दर हैं ही, साथ ही माधुर्य-पूर्ण आनन्द की धारा प्रवाहित करने की दृष्टि से भी अद्वितीय हैं। अस्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को भाव-ग्रहण की प्रेरणा तो नैषध से प्राप्त हुई किन्तु कल्पनाशक्ति और भाव-धारा कवि की अपनी रही है।

इसी प्रकार पद्माकर का यह प्रसग भी लक्षणीय है—

"आई जु चाल गुपाल घरै ब्रजबाल बिसाल मृणाल सी बाँही।
त्यो पद्माकर सूरति मे रति छ्वै न सकै कितहूँ परछाँही।
सोभित सभु मनो उर ऊपर मौज मनोभव की मन माँहीं।
लाज बिराज रही अँखियान में प्रान मे कान्ह जुबान मे नाँही ॥"[2]

गोपाल के घर चलकर पद्माकर की यह नायिका आयी जिसकी भुजायें मृणाल के समान है और "सूरति" इतनी अच्छी है कि रति भी समानता नही कर सकती है। उसके ऊपर आया हुआ यौवन निहारकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो शिव के ऊपर कामदेव की कृपा हो गयी है। गोपाल के द्वारा कार्य-कलापो के प्रति यद्यपि यह निषेधात्मक प्रवृत्ति के अनुसार प्रकट रूप मे तो निषेध करती है अर्थात्

---

१ नैषधचरितम्–सर्ग १८ श्लोक ५८
२ पद्माकर–ग्रन्थावली–जगद्विनोद, छन्द ५३

इसकी जिह्वा में तो "नहीं" विद्यमान है किन्तु प्राणो में प्रिय की छवि का समावेश है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रिय के कार्य-कलापों को बाह्य रूप में नहीं बल्कि आन्तरिक रूप में स्वीकार करती है।

इसी प्रवृत्ति की तुलना में श्रीहर्ष की नल के माध्यम से कही गई उक्ति पूर्णरूप से सरल और सीधी है--

या शिरोविधुतिराह नेति तेसा मया न किमिय समाकलि ।
तन्निषेधसमङ्खयता विधि व्यक्तमेव तव वक्ति वाछितम् ॥[1]

प्रस्तुत श्लोक नैषध के नायक नल की उक्ति का स्वरूप है, जबकि दमयन्ती रति-क्रीड़ा के लिए सिर हिलाकर निषेध करती है, किन्तु नायक इसी से ही अपनी प्रियतमा की स्वीकृति का अनुमान कर लेता है कि प्रिया ने दो बार सिर हिलाकर अपनी अभिलाषा को व्यक्त कर दिया।

श्रीहर्ष का वर्णन पद्माकर के वर्णन की अपेक्षा बहुत ही सीधा है, इसमें कोई विशेष चमत्कार का समावेश नही है। इससे साम्य रखता हुआ भी पद्माकर का वर्णन उक्ति-सौन्दर्य की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य लिए हुए है, क्योंकि सर्व-प्रथम "मृणाल सी बाँह", "मूरति में रति छ्वै न सकै कित ँ परछाहीं", "संभु मनो उर ऊपर मौज मनोभव" आदि योजनायें अत्यन्त ही मार्मिक हैं। अतएव कुछ अल्प साम्य होते हुए भी पद्माकर का वर्णन मौलिक और स्वतन्त्र है जिसमे भावों का उठान तीव्र हिलोरें लेता हुआ प्रतीत होता है।

उपर्युक्त परीक्षण से ज्ञात होता है कि रीतिकालीन कवियों की नायिका सम्बन्धी अनेक निषेधात्मक स्वीकृति की उक्तियाँ नवीन-नवीन ढग के साथ व्यक्त हुई हैं। इनके प्रेरणा-स्रोत तो संस्कृत के काव्य रहे, किन्तु कवियों ने अपनी कल्पना और भावना का सरस अमृत मिलाकर उन्हे भावों की ऐसी रम्य भूमि पर प्रतिष्ठा-पित किया है, जहाँ से आनन्द की स्रोतस्विनी निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। सभी पाठकों के हृदय में ये वर्णन पियूषमयी धारा को सचरित करते हैं।

सुरति-केलि

नायक और नायिका की जब प्रेम-सम्बन्धी समस्त क्रियायें समाप्त हो जाती है तो प्रणय की सर्वस्व अथवा प्रणय को पूर्णता प्रदान करने वाली सुरति-क्रीड़ा का प्रारम्भ होता है। प्रिय और प्रिया की यह क्रीड़ा उन्हें लौकिक जीवन की रमणीय एवं आनन्दमयी भूमि पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ होती है। कामशास्त्र द्वारा अनु-मोदित यह क्रिया विपरीत और सीधी दो प्रकार की होती है। इसका वर्णन संस्कृत और हिन्दी दोनों काव्यो के अन्तर्गत खूब विशद ढंग से किया गया है। भर्तृहरि ने

---

१. नैषधचरितम्–सर्ग १८, श्लोक ७६

काम-पूजन की स्थिति आलस्य भरी नेत्र वाली स्त्री को काम से तृप्ति करने में ही स्वीकार की है।[1]

सुरति-केलि की परम्परा का जहाँ तक प्रश्न है, वह वेद-साहित्य से ही दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद के चौदहवें सूक्त-दूसरे अध्याय के छत्तीसवें श्लोक को लिया जा सकता है। किन्तु वहाँ सुरति-केलि केवल धार्मिकता में ही आबद्ध है। आगे चलकर तो इसका स्वरूप संस्कृत के लगभग सभी ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। कालिदास जैसे कवियों के काव्यों में तो यह और भी अधिक विस्तार से अभिव्यक्त हुई है, तथा इन समस्त कवियों ने कामसूत्र का सहारा लिया है। तभी तो इनके काव्यों में अति-रसिक प्रवृत्ति का पूर्ण योग है। शृंगार के अन्य वर्णनों के साथ रीतिकालीन कवियों ने यदि परिस्थिति और वातावरण से प्रभावित होकर सुरति का वर्णन किया है तो उनका कोई दोष नहीं है। अब यहाँ पर संस्कृत कवियों से तुलनात्मक रूप में सुरति के कतिपय प्रसंगों को यथा-सम्भव दिया जायगा।

सर्वप्रथम बिहारी का यह दोहा दृष्टव्य है जिसमें कवि ने श्रेष्ठ रति की क्रियाओं को ही वास्तविक मुक्ति का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहि रति सो रति मुकुति, और मुकुति अति हानि॥[2]

रति-क्रीडा के समय किये जाने वाले व्यापारों के निमित्त माघ का भी प्रस्तुत वर्णन लक्षणीय है। कृष्ण के सैनिक अपनी-अपनी प्रियतमा के साथ इसी प्रकार की क्रियायें कर उनके शरीर में स्थित कामदेव को जगाकर ही सुरति प्रारम्भ करते हैं—

बाहुपीडनकचग्रहणाभ्यामाहतेन नखदन्तनिपातैः।
बोधितस्तनुशयस्तरुणीनामुन्मिमील विशदं विषमेषु॥[3]

कहने का तात्पर्य यह है कि रति-क्रीडा के समय अथवा रति-जागरण के हेतु, बाहुपीडन, निर्दय आलिङ्गन, केशग्रहण, नखक्षत, दन्तदशन आदि व्यापारों का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। इन प्रतिक्रियाओं के द्वारा रमणियों के शरीर में सुप्त कामदेव शीघ्र ही जाग्रत हो जाता है।

यद्यपि बिहारी और माघ के वर्णन बहुत ही साम्य लिए हुए हैं क्योंकि काम व्यापार के लिए बिहारी ने जिन क्रियाओं का वर्णन किया है, उन्हीं का वर्णन शिशु-

---

१ आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविदं कुरुते।
मिथुनैर्मिथोवधारितमवितथमिदमेव कामनिर्वहणम्॥

शृंगार शतक—श्लोक २७

२ बिहारी रत्नाकर—छन्द ७६

३ शिशुपालवध—दसवाँ सर्ग—श्लोक ७२

पाल वध में भी है। अतः विहारी पर शिशुपाल वध की छाप स्पष्ट लक्षित है किन्तु विहारी ने जो "जिहिं रति सो रति मुकुति, और मुकुति रति हानि" इसे जोड़कर रति-आनन्द को अलौकिक आनन्द की भूमि पर स्थिर करने की चेष्टा की है, जोकि सुन्दर कल्पना-जन्य है।

रति-क्रीड़ा के लिए नायक अपनी नायिका के वस्त्रों को हटाता है; उसका चित्र विहारी ने कितना सुन्दर खीचा है—

दीप उजेरैं हूँ पतिहिं, हरत वसनु रति-काज।
रही लपटि छवि की छटनु, नैकौ छुटी न लाज॥[1]

कोई सखी किसी अन्य सखी से कहती है कि नायक ने रति करने के निमित्त दीपक के प्रकाश में जैसे ही नायिका के वस्त्र को हटाया तो उसकी दृष्टि नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य को देख चकाचौंध होकर इस प्रकार भटक गई कि वह सहसा नायिका को नग्नावस्था में न देख सका, इसीलिए नायिका की स्त्री-सुलभ लज्जा की रक्षा हो गई।

कवि माघ का वर्णन भी इसी प्रकार का है। कोई नवयुवक अपने हाथों द्वारा अपनी रमणी का वस्त्र हटाकर रमण प्रारम्भ करना चाहता है, उस समय का यह दृश्य दर्शनीय है—

कान्तया सपदि कोऽप्युपगूढः प्रौढपाणिरपनेतुमियेष।
संहतस्तनतिरस्कृतदृष्टिर्भ्रष्टमेव न दुकूलमपश्यत्॥[2]

जब कोई युवक अपनी कान्ता द्वारा आलिङ्गित किया जाता है तो वह तुरन्त ही अपने चंचल हाथों द्वारा रमणी की साटिका को उसके अंगों पर से हटाकर रमण प्रारम्भ करना चाहता है, किन्तु कामिनी के अत्यन्त सुन्दर अविरल स्तनो में ही उसकी दृष्टि इस प्रकार उलझ गई कि नायिका की जो साटिका पूर्व ही खिसक गई थी, उसे देखने में प्रायः असमर्थ ही रहा।

विहारी का उक्त वर्णन और शिशुपाल वध का प्रस्तुत वर्णन ये दोनो ही आपस में अत्यन्त समानता लिए हुए है, क्योंकि जिस प्रकार रति के हेतु विहारी का नायक वस्त्र हटाता है, उसी प्रकार माघ का नायक भी रमण के हेतु अपनी प्रिया की साटिका हटाना चाहता है, और जिस प्रकार विहारी के नायक की आँखे नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य पर उलझती हैं, उसी प्रकार माघ के नायक के नेत्र नायिका के सौन्दर्यपूर्ण स्तनों पर ही उलझ जाते हैं—इस दृष्टि से विहारी और शिशुपालो वध के प्रसंग समान हैं; किन्तु दोनों में अन्तर इतना है कि विहारी का नायक त

---

१. विहारी रत्नाकर—छन्द ४६३
२. शिशुपाल वध—दसवाँ सर्ग—श्लोक ७२

वस्त्र हटाता है, क्योकि नायिका ने वस्त्र पहन रखा है और माघ का नायक साडी को हटाना चाहता है जबकि साडी पहले से ही हटी हुई है। इन बातो से प्रतीत हो जाता है कि बिहारी की नायिका अभी मुग्धा है, अत उसमे लज्जा का भाव विद्यमान है, जबकि माघ की नायिका रति मे पूण निपुण जान पडती है तभी तो उसका वस्त्र प्रिय-आलिङ्गन पर पूव से ही खिसका हुआ है। बिहारी का वर्णन यद्यपि माघ के इस वर्णन से अनुप्राणित है किन्तु बिहारी की योजना सर्वथा स्वतन्त्र है, क्योकि "दीप उजेरैं" और "नैकौ छुटी न लाज"—इनमे कवि ने स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के साथ-साथ सरसता का भी परिचय दिया है।

बिहारी का यह सुरति-वणन भी दृष्टव्य है। जिसमे नायक-नायिका दोनो विपरीत रति के मैदान मे डटे है। इसको कवि ने एक सखी के दूसरी सखी से किए गए वार्तालाप के माध्यम से स्पष्ट किया है—

परयौ जोर, विपरीत रति, रुपी सुरत-रन-धीर।
करत कुलाहल किकिनी, गह्यौ मौनु मजीर॥[1]

स्पष्ट है कि नायक नायिका के मध्य मे विपरीत रति का युद्ध छिडा हुआ है, जिसमे नायिका भी धैय पूवक डटी है। उसकी किंकिणियाँ शब्द रूपी कोलाहल कर रही हैं। इस प्रकार विपरीत रति मे नायिका को अधिक श्रम करना पड़ रहा है क्योंकि "परयौ जोर" से यह स्पष्ट हो जाता है।

गीत गोविन्दकार की नायिका भी अपने प्रिय के साथ विपरीत रति मे धैर्य पूर्वक डटकर थक जाती है—यथा—

माराङ्के रतिकेलिसङ्कुलरणारम्भे तया साहस-
प्राय कान्तजयाय किंचिदुपरि प्रारम्भि यत्सम्भ्रमात।
निष्पन्दाजघनस्थली शिथिलिता दोर्वल्लिरुत्कम्पित॥[2]

तात्पय यह है कि राधा और कृष्ण का रति केलि का युद्ध प्रारम्भ हुआ। राधा प्रियतम पर विजय प्राप्त करने के लिए कुछ समय के लिए कृष्ण के वक्षस्थल पर आकर सम्भ्रमपूर्वक रति प्रारम्भ करती है, किन्तु शीघ्र ही उसकी जांघ स्तब्ध हो जाती हैं, और बाहे शिथिल हो जाती हैं।

बिहारी ने गीत गोविन्द के इतने बडे काय-कलाप को अपने उक्त वणन की प्रथम पक्ति मे ही समेट लिया है क्योकि 'परयो जोरु, विपरीत रति" मे तो राधा की रति जन्य थकान का और "रुपी सुरत रनधीर" मे कृष्ण के और राधा के रति-युद्ध और प्रियतमा द्वारा विजय पाने की इच्छा की स्पष्ट झाँकी विद्यमान है। अब

---

१ बिहारी रत्नाकर—छन्द २९

२ गीत-गोविन्द—सर्ग १२ श्लोक ३

विहारी के प्रसंग की दूसरी पंक्ति को जिसमें "किंकनी के बजने का उल्लेख है शिशु-पाल वध की इस उक्ति से मिलाया जा सकता है—'कक्ष्यया च वलयैश्च शिशिञ्जे"[1] अर्थात् प्रियतम के कार्य-कलाप पर किसी रमणी की करधनी तथा कंकण बज उठते है।

किन्तु विहारी के कथन में अधिक कौशल जुड़ा हुआ है क्योंकि उसने किंकिनी के "कुलाहल" पर "गह्यो मौनु मंजीर" अर्थात् मंजीरों ने भी मौन ग्रहण कर लिया, कहकर वर्णन में अधिक मादकता को समेटा है जोकि सर्वथा माधुर्यपूर्ण है।

मतिराम ने भी प्रस्तुत छन्द में नायक के साथ की गई नायिका के सुरत-जन्य आनन्द को व्यक्त किया है—

> किंकिनि नेवर की झनकारनि चारुपसार महारस जालहि,
> काम कलोलनि मैं मतिराम कलानि निहाल कियो नँदलालहि।
> स्वेदके बूँद लसैं तन मैं, रति अंतर ही, लपटाय गुपालहि।
> मानो फली मुकता फल पुजन, हेमलता लपटानी तमालहि॥[2]

मतिराम का यह वर्णन नायक और नायिका की सरस रति का सुन्दर उदा-हरण प्रस्तुत करता है। अतः नायक और नायिका की रति-क्रीड़ा में बजते हुए 'किंकिनि नेवर' से निकलने वाली झंकार अत्यधिक रस का सुन्दर विस्तार कर रही है तथा उसने काम की कलोलों द्वारा नन्दलाल को निहाल कर दिया। नायिका के शरीर मे इस रति-क्रीड़ा से प्रस्वेद की बूँदें जो उत्पन्न होती हैं, वे अत्यन्त ही सुशो-भित होती हैं तथा आनन्द विभोर होकर नायिका प्रिय से इस प्रकार लिपटी है कि कवि उसकी तुलना तमाल-वृक्ष से लिपटी स्वर्णलता से करता है, एवं नायिका के प्रस्वेद विन्दुओं की तुलना उस स्वर्णलता में उगे हुए मुक्ता-फलों से की है।

मतिराम के इस प्रसग की प्रथम पक्ति कवि देव के इस वर्णन से मिलती जुलती है—

> कंकन झनित अगनित रव किंकिनी के
> नूपुर रनित मिले मनित सुहात है॥[3]

तात्पर्य यह है प्रिय और प्रियतमा रति-क्रीड़ा कर रहे हैं। उसमें नायिका के हाथ में कंकण झंकृत होते हैं, एवं किंकिनी से स्वर लहरी निकलती है। ये सभी स्वर नूपुरों के स्वरों से मिलकर तो अत्यन्त ही सुशोभित होते हैं।

पद्माकर की नायिका के भी विपरीत सुरति में बजने वाले आभूषणों की

---

१. शिशुपाल वध—दसवाँ सर्ग—श्लोक ६२
२. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ३१९
३. देव ग्रन्थावली—भावविलास—तृतीय वि० छन्द १८

झकार इसी प्रकार होती है--

> प्रीति बस दोऊ विपरीत मे रमे हैं जहाँ
> पाइ परि घुंघरू सु मौन मुख लै रही।
> कहै पद्माकर त्यों करत कुलाहल न
> किंकिन कतार कामदुदंभि सी दै रही है ॥[1]

नायक-नायिका "प्रीति" के वशीभूत होकर विपरीत रति मे रम गये हैं जिसमें नायिका पैरो के घुंघरुओ का मौन होकर अनुभव कर रही है और उसकी किंकिणी की झकार काम की दुन्दुभी के समान हो रही है।

कवि माघ का वर्णन भी अब दृष्टव्य है जबकि रति-क्रीडा के समय कवि की नायिका के नूपुर और किंकनी की झकार हो रही है--

> उद्धतैर्निभृतमेकमनेकैश्छेदवन्मृगदृशामविरामैः ।
> श्रूयते स्म भणितं कलकाञ्चीनूपुरध्वनिभिरक्षतमेव ॥[2]

रति-क्रीडा के समय माघ की सुन्दरियो के कण्ठरव तो सुनाई पडते ही हैं तथा करधनी और नूपुरो के उद्धृत स्वर भी अनेक ध्वनियो के सहित सुनाई पडते हैं।

मतिराम, देव, पद्माकर के उक्त प्रसग माघ के इस वर्णन से नूपुरो की झकार होने की दृष्टि से यद्यपि साम्य भाव रखते है एव ऐसा प्रतीत होता है जैसे इसकी प्रेरणा स्वरूप ही ये प्रसग निर्मित हुए हैं किन्तु भावनाओं की जो कोमलता रीति-कालीन कवियो के वर्णन मे निहित है, वह माघ के वर्णन मे नहीं है। मतिराम के वर्णन मे किंकिनि नेवर की झकार का चारु प्रसार महारस के जाल के साथ होना, देव के प्रसग मे ककणो की झकार, का किंकिणी के तथा नूपुरों के रणित होने के साथ होना, पद्माकर की नायिका के पैरो मे पडे घुंघरुओ का बजना तथा किंकिनि-कतार का कामदेव की दुन्दुभी के समान आवाज देना, आदि वर्णन मृदुल-कल्पनाओ और हृदय के अनेक उद्वेगो सहित नियोजित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त मतिराम के प्रसग की नायिका के शरीर पर लसित बूँदों की उपमा मोतियो से और नायिका की स्वर्णलता से उपमा देना यह कल्पना अत्यन्त ही सजीव है जोकि कवि की स्वतन्त्र सूझ की द्योतक है।

देव काव्य की नायिका के रति-क्रीडा के समय कुण्डलो के आन्दोलित होने पर यह स्थिति भी दृष्टव्य है--

> कुण्डल हलत मुखमण्डल झलमलात,
> झूलत दुकूल भुजमूल महरात है।

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली-प्रकीर्णक-छन्द ४८

२ शिशुपाल वध-दसवा सर्ग-श्लोक ७६

करत विहार कवि देव वार बार बार
छूटि छूटि जात हार टूटि टूटि जात है ॥[1]

अब विल्हण कवि कृत चौरपंचाशिका की नायिका की सुरत भी दर्शनीय है–

अद्यापि तत्कनककुण्डलघृष्टगण्डमास्यं स्मरामि विपरीतरताभियोगे ॥[2]

स्पष्ट है कि विल्हण की नायिका के स्वर्ण-निर्मित कुण्डल भी विपरीत सुरति के अभियोग में गण्डलों से घर्षण करते हुए झूलते हुए दृष्टिगत हो रहे हैं।

इसी प्रकार नैषध के नायक-नायिका भी दर्शनीय हैं, जो कि सुरत में इतने संलग्न हैं कि उनमें से एक का हार भी टूट जाता है–

"मौक्तिकावलिविच्छिन्नहारवितती तदा तयोः ॥"[3]

विल्हण और नैषध दोनों के वर्णन क्रमशः देव की उपर्युक्त प्रसंग की प्रथम दो पंक्ति और अंतिम दो पंक्तियों से मेल खाते हैं क्योंकि देव की नायिका के कानों के कुण्डल जिस प्रकार झूलते हैं उसी प्रकार सुरति में विल्हण की नायिका के कुण्डल भी झूलते हुए दृष्टिगत होते हैं। नैषध के किसी एक नायक अथवा नायिका का हार जिस प्रकार टूट जाता है उसी प्रकार देव के भी किसी एक नायक अथवा नायिका का हार भी टूट जाता है। इन दोनों दृष्टियों से कवि देव का उक्त प्रसंग विल्हण और नैषध दोनों के प्रसंगों से पूर्ण रूप से साम्य स्थापित किए हुए है। अतः स्पष्ट है कि देव ने इन दोनों से प्रेरणा लेकर अपनी चमत्कारपूर्ण शैली में इस प्रसंग का नियोजन किया है; क्योंकि "दुकूल भुजमूल महरात है" तथा हार का बार-बार छूटना और टूटना–ये प्रतिक्रियायें बड़ी संयमित शैली द्वारा उपस्थित हुई हैं।

रति-क्रीड़ा के निम्न प्रसंग में नायिका की लज्जापूर्ण रति का अवलोकन भी अनिवार्य है। वह गुरुजनों के समीप होने पर रति के निमित्त किस प्रकार निषेध करती है, इसका चित्र देव ने अत्यन्त सजग होकर अंकित किया है–

"कूजत हैं कल हंस कपोत सुकी सुक सोर करैं सुनि ताहू।
नैकहू क्यों न लला सकुचौ जिय जागत हैं, गुरु लोग लजाहू।
हाथ गहौ न कहौ न कछू कवि देव जू मौन में देखौ दियाहू।
हाहा रहौ हरि हाथ छुऔ जिनि बोलत बात ललात न काहू ॥"[4]

देव का नायक जैसे ही नायिका को रति के लिए प्रेरित करता है कि लज्जा के साथ नायिका संकेत करती है कि समीप ही भवन में गुरुजन जाग रहे हैं, दीपक

---

१. देव ग्रन्थावली–भावविलास–तृतीय विलास छन्द १८
२. श्री विल्हणकृतचौरपञ्चाशिका–सम्पादक : अनु० एस० एन० ताडपत्रीकर
३. नैषध–सर्ग १८–श्लोक १०९
४. देव ग्रन्थावली–भाव–विलास–चतुर्थ विलास–छन्द २९

जल रहा है, इसलिए ऐसे समय न तो हाथ ही ग्रहण करना उचित है और न बात करना ही ठीक है। नायिका के कथन में यह अभिप्राय छिपा है कि रति करने के पहले तो गुरुजनों का सो जाना अनिवार्य है और साथ ही दीपक बुझा देना अति ही आवश्यक है।

कुट्टनीमतकार ने भी अपनी लज्जाशीला और कुलवन्ती नायिका की रति को इसी प्रकार व्यक्त किया है क्योंकि नारी कभी यह नहीं चाहती कि समीपस्थ लोगों को उसकी रति सम्बन्धी थोड़ी सी बात भी ज्ञात हो सके–

हा हा किमुद्धतत्वं श्रोष्यति कश्चिद्गलत्रप स्वैरम्।
निकटे परिवारजनो विस्मृत एव स्मरातुरस्य तव॥[1]

प्रकट है कि नायक रति करने को प्रेरित है तब नायिका उसके खींचने झपटने एवं मसकने को लज्जापूर्वक धीरे-धीरे करने को कहती है। क्योंकि बरजोरी करने से कोई सुन सकता है तथा समीप ही पारिवारिक जन उपस्थित हैं, उन्हें भी किसी कार्य कलाप के विषय में विदित नहीं होना चाहिए।

देव और कुट्टनीमतकार इन दोनों की नायिकाओं के हृदय में लज्जा विद्यमान है तभी तो ये दोनों अपने-अपने नायक से धीरे-धीरे रति प्रारम्भ करने का संकेत करती हैं। दोनों कवियों की नायिकायें समीप में स्थित गुरुजनों से भयभीत हैं क्योंकि वे नहीं चाहतीं कि गुरुजन उनके और प्रियतमों के मध्य सम्पादित वार्तालाप को किसी भी प्रकार सुन सकें। देव के वर्णन पर यद्यपि कुट्टनीमत के इस वर्णन का सीधा प्रभाव लक्षित हो रहा है किन्तु वातावरण के निर्माण की दृष्टि दोनों कवियों की सर्वथा भिन्न है। कुट्टनीमतकार का वर्णन बहुत ही सीधा है, उसमें वर्णन का दृष्टिकोण है, ऐसी नारी की रति जो प्राय कुलवन्ती हो। देव ने तो रमणीय मौसम के अन्तर्गत कल-हंस, कपोत, शुक शुकी के कूजन का वर्णन कर पुन नायिका के अंग अंग ग्रहण करने पर उसकी गुरुजनों के समीप लज्जा के साथ ही दीपक जलने की चर्चा चलाकर वर्णन में गति उत्पन्न कर दी है।

कवि पद्माकर द्वारा वर्णित सुरति की यह स्थिति अत्यन्त ही रमणीय है, जबकि नायिका प्रिय के साथ सुरति क्रीड़ा करते हुए परिश्रान्त हो जाती है–

उछलि उछाहन सो ऊधम अनोखो नाँधि
बरसी अनन्द मन भावते के मन पर।
कहै पद्माकर कपोलन पै आए ढरि
छाए कन स्वेद के सुहाए उरजन पर।
हार मानि प्यारी बिपरीत के बिहार लगि
सिथिल सरीर रही साँवरे के तन पर।

---

१ कुट्टनीमत–श्लोक ४४३

मानहु सकेलि केलि केतकौ कला की करि
थाकी है चलाकी चंचला की घोर घन पर ॥[1]

पद्माकर की यह नायिका बड़ी ही तीव्रता के साथ उमङ्ग सहित आनन्दित होकर मनभावते के मन पर बरस जाती है। विपरीत रति के कारण उसके कपोलों और उरोजों पर प्रस्वेद के कण छा जाते हैं। प्रिय के साथ घमासान रति का युद्ध वह इस प्रकार करती है कि अन्त में थक जाती है। परिश्रान्त होकर अपने शिथिल शरीर को अपने प्रिय साँवरे के शरीर पर ही डाल देती है। उसकी यह दशा देखकर कवि ने यह कल्पना की है कि कितनी ही कलायें प्रकट करते हुए वह उसी प्रकार थक जाती है जैसे कि कोई विजली वादलों के समक्ष अपनी समस्त चतुराई भूल जाती है।

विपरीत सुरति में संलग्न भर्तृहरि की नायिका भी अब दर्शनीय है–

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकाना।
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ॥
सुरतजनितखेदस्वार्द्रगण्डस्थलीनाम्–।[2]

भर्तृहरि ने विपरीत सुरति में संलग्न नायिका का चित्र स्वाभाविक ढंग से उपस्थित किया है। विपरीत रति में नायिका का छाती पर लेटना स्वाभाविक ही है। सुरति मे परिश्रान्त हो जाने के कारण नायिका के सुगन्वित केश पाशा अस्त व्यस्त हो जाते हैं, अलसाने के कारण नेत्रो में अर्घ निमीलनि की अवस्था व्याप्त हो गयी है और कपोलों पर प्रस्वेद विन्दु झलक आते हैं।

भर्तृहरि के इस वर्णन की अपेक्षा पद्माकर का उक्त वर्णन अधिक सजीव जान पड़ता है; क्योंकि भर्तृहरि ने विपरीत सुरति करती हुई नायिका का उर निपात, सुगन्वित केशों का विखरना, प्रस्वेद विन्दुओं का झलकना ही वर्णन करके प्रसंग आगे वढ़ा दिया है जबकि पद्माकर ने इनका वर्णन करने के लिये नायिका द्वारा तेजी से की जाने वाली विपरीत सुरति का वर्णन तमक के सहित उपस्थित किया है; अतएव रतिश्रान्त-जनित प्रस्वेद आदि की पृष्ठभूमि के निमित्त नायिका की तीव्र-गति से की गई रति का वर्णन उपस्थित कर प्रसंग को ललित वना दिया है। अन्त मे "सकेलि केलि कला की करि" के द्वारा "घोर घन पर" "चंचला की चलाकी थाकी" की वात कर लावण्यमयी भूमि का चित्रण कर अपनी कुशलता प्रकट की है। अत: यह कहा जा सकता है कि पद्माकर की यह उक्ति, भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से गतिशील और अत्यन्त ही रमणीय वन गयी है।

---

१. पद्माकर-ग्रन्थावली–प्रकीर्णक–छन्द ५०, पृष्ठ ३१७
२ भर्तृहरिविरचितम्–शृंगार शतक–श्लोक २६

अन्ततोगत्वा यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियो के "केलि" प्रसग हृदय की भावनात्मक दृष्टियो को सहज ही यथेष्ठ रूप मे इस प्रकार समाहित किए हुए हैं कि पाठक भावो में अनायास ही निमग्न हो सौन्दर्य की सीमा का स्पर्श कर अति आनन्दित हो जाता है। इस युग के इन प्रसगो में कोई भी प्रसग ऐसा नहीं, जिसकी प्रेरणा संस्कृत काव्यो से न प्राप्त हुई हो। इन कवियों ने कही-कहीं एक ही पद में सस्कृत काव्यो की कई उक्तियो को सँजोकर और उनमे अपनी कवित्त्व शैली का गहरा रग भरकर उन्हें अधिक से अधिक उभार कर अपने काव्यों में प्रश्रय प्रदान किया। अत एक ही छन्द मे कई काव्यों से ग्रहण किए गये प्रेरक तत्त्वों को अनुस्यूत कर कवियो ने अपनी विचित्र प्रतिभा-शक्ति का परिचय दिया। भावुक प्रवृत्ति के आधार पर सभी ने काव्यो पर अपने-अपने व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट परिलक्षित है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये प्रसग अश्लील हैं? इसका उत्तर यही है, इन कवियो ने सामन्तीय वातावरण मे पनपती हुई राजाओ की विलासी प्रवृत्ति के साथ ही अपनी कुठाओ को अति शृगार के रूप मे सुरति-केलि के माध्यम से व्यक्त कर दिया है। अत इस दृष्टि से इनमे अतिशयता का योग अवश्य आ गया है।

सुरतान्त

सस्कृत काव्यो मे जिस प्रकार रति क्रीडा अनेक वर्णनो मे प्रकट हुई है, उसी प्रकार सुरतोपरान्त स्थिति के भी उनम बहुत से चित्र प्राप्त हो जाते हैं। रीतिकालीन कवियो मे भी प्रसग विशेष के साथ इन चित्रो मे गहरा रग देकर इनकी रेखाओ को और भी अधिक उभारने का प्रयत्न किया। अतएव प्रसगानुसार इस स्थिति के कुछ उदाहरणो को यहाँ ग्रहण किया जा रहा है।

बिहारी की नायिका की विपरीत सुरति की कलई कितनी सरलता के साथ खुल जाती है—

मेरे बूझत बात तू कत, बहरावति, बाल।
जग जानी विपरीत रति, लखि बिंदुली पिय-भाल॥[1]

नायिका की सखी नायिका को बतलाती है कि नायिका के मस्तक की बिन्दी गायब है और बिन्दी के स्थान पर केवल बिन्दी का चिह्न ही शेष है, इससे सभी ने यह अनुमान कर लिया कि नायिका ने प्रिय के साथ विपरीत सुरति की होगी क्योंकि तभी तो उसकी बिन्दी छूटकर नायक के ऊपर गिर गई होगी।

आर्यासप्तशतीकार की नायिका की रति को सभी लोग इसी प्रकार पहचान लेते हैं—

---

१ बिहारी रत्नाकर—छन्द १२७

उपसि परिवर्तयन्त्या मुक्तादामोपवीततां नीतम् ।
पुरुपायित वैदग्ध्यं व्रीडावति कैर्न कलितं ते ॥[1]

यहाँ भी नायिका की सखी नायिका को सम्वोधित करती है कि नायिका ने रात्रि के समय रति-क्रीड़ा करते समय मोतियों की जिस माला को उपवीत रूप में डाल लिया था, उसे प्रातः सुलझाते समय सभी लोग उसकी विपरीत रति का अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि उपवीत रूप में वनी माला ने नायिका का सव भेद खोलकर रख दिया।

विहारी और आर्याकार गोवर्धनाचार्य के दोनों वर्णन आपस में समानता लिए हुए हैं। एक ओर विहारी की नायिका को विन्दी के चिह्न द्वारा पहचाना जाता है तो दूसरी ओर आर्याकार की नायिका को सभी लोग उसकी उपवीत रूप वनी मोतियों की माला सुलझाने से पहचानते हैं; तथा प्रथम वार पूँछने पर सखी के समक्ष दोनों नायिकायें निपेध करती हैं, तव दोनों की सखियाँ दोनों की कलई खोलती हैं। अतः स्पष्ट लक्षित हो रहा है कि विहारी ने अपना भाव यहीं से लेकर अपनी भावुक शक्ति द्वारा उसे दूसरे ढंग से व्यक्त कर दिया।

रात्रि में सुरति के कारण जागरण करते रहने पर विहारी की नायिका की स्थिति दृष्टव्य है—

रँगी सुरत-रँग, पिय-हियैं, लगी जगी सव राति।
पैंड़ पैंड़ पर ठिठुकि कै, ऐंड़-भरी ऐंड़ाति ॥[2]

नायिका की सुरतान्त मुद्रा का कवि ने वर्णन किया है कि सुरति के विलास में नायिका पूर्णतः इस प्रकार अनुरक्त हो गई कि उसने समस्त रात्रि प्रियतम के कण्ठ से लगकर विता दी। यही कारण है कि दिन होने पर वह आलस्य से पग-पग पर ठिठुक जाती है और वार-वार अँगडाई लेती है। इस प्रकार अँगड़ाई लेने से नायिका का अभिमान प्रदर्शित हो जाता है।

कुट्टनीमतकार की नायिका अपने प्रिय से रातभर सुरति-क्रीड़ा करती है और प्रातः काल में उसके नेत्र भी इसी आलस्य से युक्त हैं :—

मोहनविमर्दे खिन्ना विजृम्भमाणा स्खलदगतिर्मंदम् ।
निद्राकपायिताक्षी हारलता वासवेश्मनो निरगात् ॥[3]

दामोदर गुप्त की नायिका प्रियतम के साथ रात्रि भर सुरति में संलग्न रह कर सुरति के मर्दन से खिन्न हो जाती है, नींद के अभाव में उसकी आँखें लाल हो

---

१. आर्यासप्तशती—श्लोक १२१
२. विहारी—रत्नाकर—छन्द ८३
३. कुट्टनीमत—श्लोक ३९०

जाती हैं तथा जँभाई लेकर गिरती पड़ती धीरे-धीरे रति-गेह से बाहर निकलती है।

विहारी के उक्त प्रसग पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विहारी का भाव कुट्टनीमत के इस भाव से अनुप्राणित है। जिस प्रकार विहारी की नायिका अँगड़ाई लेकर धीरे-धीरे ठिठक-ठिठक कर चलती है उसी प्रकार दामोदर गुप्त की नायिका भी जँभाई लेती हुई धीरे-धीरे रति-गेह से निकलती है। अत सुरति के मदन मे अलसाने की दृष्टि से दोनो वर्णनो मे प्राय समानता स्पष्ट झलक रही है। अब विहारी के भी समूचे प्रसग को देखा जाय तो विहारी की भाव प्रदर्शन की शैली अतीव सुन्दर है क्योंकि "रँगी सुरत-रँग, पिय हियँ" से उसने प्रसग का पूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया है। अत कुट्टनीमतकार के प्रसग से समानता होते हुए भी विहारी के प्रसग की अपनी स्वय की विशेषता है।

सुरतान्त की प्रस्तुत स्थिति म नायिका के मुख पर प्रिय द्वारा अंकित रति-चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अत कोई सखी नायिका से कहती है—

प्रभा तरोना लाल की परी कपोलन आनि।
कहा छपावत चतुर तिय कत-दत-छत जानि॥[1]

मतिराम की नायिका अपने दत क्षत को इस प्रकार कहकर छिपाना चाहती है कि "कपोलो के ऊपर कर्णफूल के लाल की कान्ति आ गई है" किन्तु सखी पहचान लेती है और वह प्रकट कर देती है कि यह प्रियतम द्वारा किये गये दन्तक्षत का चिह्न है।

कालिदास की नायिका के ओठो पर भी प्रिय द्वारा वनाये हुए दन्तक्षत दर्शनीय हैं—

"गाढदन्तपरिताडिताधरम्"।[2]

तात्पर्य यह है कि पार्वती के ओठो के ऊपर रति-क्रीडा के समय प्रिय द्वारा वनाये गये दाँतो के घाव भरे पड़े थे।

रति के समय दन्तक्षत होता ही है अत इस दृष्टि से तो दोनो प्रसग समान हैं किन्तु "कत-दन-छत" के अतिरिक्त मतिराम ने जो प्रसग-योजना की है, वह उनकी सर्वथा मौलिक सूझ प्रतीत होती है।

मतिराम के प्रसग की दूसरी नायिका की दशा भी रति के उपरान्त अत्यन्त खिन्न होती है। यथा—

कवि "मतिराम" आलस जँभाई मुख
ऐसी मन भावती की छवि सरसति है।[3]

---

१ मतिराम-ग्रन्थावली—रसराज—छन्द २९७

२ कुमार सम्भव—आठवाँ सर्ग—श्लोक ८८

३. मतिराम-ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ३४०

मतिराम की नायिका की ऐसी मन भावती छवि अत्यन्त ही सरस लगती है जो कि पति के साथ रति के उपरान्त आलस के साथ बार-बार जँमाई लेती है।

इसी से मिलती जुलती गीत गोविन्द की राधा की दशा भी अवलोकन करने योग्य है-

"सुरतान्ते सा नितान्त खिन्नाङ्गी।"[1]

प्रियतम कान्ह के साथ रति-क्रीड़ा के पश्चात् नायिका अत्यन्त खिन्न अंगों वाली हो जाती है।

मतिराम की नायिका भी पति के साथ रति-क्रीड़ा करने के पश्चात् गीत गोविन्द की राधा के समान ही प्रतीत होती है। अतः मतिराम और गीत गोविन्द के ये रति-उपरान्त के प्रसग बहुत कुछ समान हैं। "मन भावती की छवि सरसति है" इसके द्वारा मतिराम ने अपने प्रसंग को कुछ अधिक रमणीय बना दिया है।

सुरतान्त की अवस्था में कवि देव की नायिका का चित्र भी लक्षणीय है-

"रँगरावटी तें उतरी परभातही भावती प्यारे के प्रेम पगी।
अलसाति जम्हाति सु देव सुहाति रदच्छद मैं रदपाँति लगी।[2]"

देव की यह प्रिय के प्रेम में पगी नायिका प्रभात काल में 'रदच्छद' दाँतों की पंक्ति के साथ रति के उपरान्त आलस्य के साथ जँभाई लेती हुई अत्यन्त ही सुशोभित होती है।

माघ की नायिका भी प्रिय द्वारा किए गये नखक्षतों से अत्यन्त सुशोभित है-

'योषितामतितरां नखलनं गात्रमुज्ज्वलतया नखलनम्।'[3]

स्पष्ट है कि रति-क्रीड़ा में बनाये गये रमणियों के उज्ज्वल शरीर पर नखक्षत सुशोभित हो रहे थे। माघ का यह प्रसंग यदुवंशी कृष्ण की सेना के विलास प्रसंग से अवतरित है।

देव के उक्त प्रसंग और माघ की इस प्रसंग विषयक तुलनात्मक दृष्टि द्वारा परखने पर पता चल जाता है कि इसका माघ के वर्णन से साम्य तो है किन्तु माघ के वर्णन में देव के समान सरसता नहीं आ सकी। देव के प्रसंग में 'रँगरावटी तें उतरी परभातही', 'अलसाति जम्हाति' ये कल्पनायें सुन्दर चित्र को निर्मित कर रही हैं जिनसे प्रसंग में एक चमत्कार आ गया है। अतः भावों के संचरण की दृष्टि से यह प्रसंग अतीव मधुर है।

पद्माकर की यह नायिका भी दर्शनीय है। सुरति के समय अस्त-व्यस्त

---

१. गीत गोविन्द—सर्ग १२-श्लोक ८
२. देव ग्रन्थावली—छन्द ३४०
३. शिशुपालवध—सर्ग १० – श्लोक ९०

उसकी केश राशि सुरति के पश्चात् लहराती हुई अत्यन्त ही सुशोभित हो रही है। उसकी आँखो मे 'रति राज रही' है एव अग मे शिथिलता व्याप्त हो गई है–

आजु लखी मृगनैनी मनोहर बेनी छुटी लहरै छबि छाई।
राजि रही रति आँखिन मे मन मै धौं कहा तन मे सिथिलाई।[1]

अब तुलनात्मक रूप मे माघ की सुरतान्त परिश्रान्त नायिकाओ का सौन्दर्य भी दर्शनीय है–

प्राप्य मन्मथरमादतिभूमि दुर्वहस्तनभरा सुरतस्य।
शश्रमु श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्य ॥[2]

स्पष्ट है माघ के नायको की रमणियाँ दुर्वह विशाल स्तनों के भार से युक्त हैं। लम्बी केशराशि से युक्त इनकी शोभा सुरति-क्रीडा मे चरमसीमा को पहुँच गई, और रतिश्रम से पसीना आने से उनकी केशराशि पसीने से भीग कर उनके मस्तक से चिपक जाती है और रति क्रीडा से अत्यन्त थक गई हैं।

उक्त पद्माकर और माघ दोनो की नायिकायें रति क्रीडा मे श्रान्त हैं तथा बिखरी अलको से सुशोभित हैं–अत इस दृष्टि से दोनो के वर्णन समान भाव से युक्त हैं। किन्तु पद्माकर का वर्णन कुछ अधिक उत्कर्ष को प्राप्त है क्योकि आँखो मे रति राजने की कल्पना माधुर्य पूर्ण बन पडी है। अत पद्माकर का वर्णन माघ के वर्णन की अपेक्षा रमणीय और मधुर शैली मे अभिव्यक्त हुआ है। अन्त मे सुरतान्त के प्रसग की दृष्टि से कवि 'नृपशम्भु' का भी एक वर्णन दृष्टव्य है, जो कि समस्त प्रकार से अतीव रमणीय है। यथा–

अलसात जम्हात अटा पर तें, उतरे निशि मे करि केलि बडी।
इहि भाँतिहि रावरो रूपलखे उर आनन्द रासि हिए उमडी॥
नृप शम्भु जु केसरिया दुपटा, सुतौ माँगति है अगना मे अडी।
इतै हाँसी जेठानी लला सो करै, उतै लाडली लाजन जात गडी॥[3]

नायक नायिका दोनो रात भर केलि करके प्रात काल अट्टालिका से उतरे हैं। नायक ने नायिका का जो केसरिया दुपट्टा रात्रि के समय ले लिया था, उसे नायिका आँगन मे अडी हुई माँग रही है। इधर नायिका की जेठानी नायक से हँसी कर रही है, उधर इसे सुनकर नायिका लज्जा से गडती जा रही है। कवि ने इस छन्द मे मध्यम परिवार का बडा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। इसके अन्तगत

---

१ पद्माकर–ग्रन्थावली जगद्विनोद छन्द ४८०

२ शिशुपालवध-सर्ग १०, श्लोक ८०

३ मनरजन सग्रह–सम्पादक गौरीशकर भट्ट-छन्द स० ३५, पृष्ठ १४५ (प्रथम सस्करण)

विनोद की अभिव्यक्ति बड़ी रमणीयता के साथ अभिव्यक्त है ।

संस्कृत कवि माघ का नायक भी प्रिया के वस्त्र को रात्रि के समय छीन लेता है, वह चित्र भी दर्शनीय है–

सरभसपरिरम्भारम्भसंरम्भभाजा
यदधिनिशमपास्तं वल्लभेनाङ्गनायाः ।
वसनमपि निशान्ते नेष्यते तत्प्रदातुं
रथचरणविशालश्रोणिलोलेक्षणेन ॥[1]

आशय यह है कि रात्रि के समय शीघ्रतापूर्वक आलिङ्गन करने के प्रबल इच्छुक प्रियतम, रमणी का जो वस्त्र छीन लेता है, उसे प्रातःकाल हो जाने पर भी रथ के चक्र के समान विशाल सुन्दरी के नितम्बस्थल को देखने के लोभ से नहीं लौटा रहा है ।

उपर्युक्त दोनों कवियों के प्रसंगों पर दृष्टिपात करने से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि सम्भवतया नृपशम्भु ने भाव की प्रेरणा तो यहीं से ग्रहण की, किन्तु उसे अपनी प्रखर कल्पना द्वारा अधिक प्रभावोत्पादक तथा रमणीय बना दिया । नायक द्वारा नायिका का वस्त्र छीनने की तो कल्पना नृपशम्भु ने माघ से ली, किन्तु दोनों का जँभाई लेते हुए 'अट्टा' पर से उतरना, प्रिया का प्रिय से रात्रि में छीने गये वस्त्र की माँग करना, जेठानी का नायिका से उपहास तथा नायिका का लज्जायुक्त होना ये समस्त अवस्थायें बड़ी स्वतन्त्र तथा मनोहर हैं । माघ के वर्णन मे वासना की गन्ध है, जबकि नृपशम्भु का उदाहरण सुरतान्त का होते हुए बड़ी ही स्वच्छता के साथ उभरकर आया है । शब्द चयन में भी कवि की दृष्टि बड़ी ही तीव्र है, जिससे अड़ी, लाड़ली, गड़ी इत्यादि शब्द, ध्वनि के साथ अंकित हैं ।

इस प्रकार संस्कृत कवियों से प्रेरणा प्राप्त कर रीतिकालीन कवियों ने अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर सुरतान्त के अनेक चित्रों का निर्माण किया । ये सभी चित्र युग और परिस्थिति के अनुसार विविध भावनाओं के चित्रों में रँगे हुए हैं । इसके अतिरिक्त इनकी व्यंजना निस्सन्देह संस्कृत ग्रंथों के अनुकरण पर ही हुई, क्योंकि संस्कृत काव्य की जिस समय रचना हुई उस समय की परिस्थितियाँ बहुत कुछ वैसी ही थी, जैसी कि हिन्दी के रीतिकालीन काव्यों की रचना के समय की परिस्थितियाँ रही ।

निष्कर्ष

संयोग विषयक विवेचित प्रसंगों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् स्पष्ट होता है कि संस्कृत काव्यों के अन्तर्गत संयोग विषयक जिन मानदण्डों को ग्रहण किया

---

१. शिशुपालवध-सर्ग ११–श्लोक २३

गया, उन्हें रीतिकालीन कवियो ने युगीन-परिस्थिति से प्रभावित होकर यत्र तत्र मौलिक कल्पना का रग देकर ही स्वीकार किया। परस्पर-दर्शन से लेकर सुरतान्त तक के सयोग के ये कतिपय प्रसग इसी बात को व्यजित करते हैं कि रीतिकालीन कवियो ने सयोग-पक्ष को उभारने के लिए भाव अथवा छाया के रूप मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कितनी बातें ग्रहण की और कितनी छोड दीं।

परस्पर दर्शन मे प्रथम प्रणय की उत्पत्ति को रीतिकालीन और सस्कृत के कवियो ने अपनी-अपनी भावना और कल्पना के अनुसार अनेक रमणीय चित्रो की परिकल्पना करते हुए अकित किया एव इसमे प्रेमी और प्रेमिका के हृदयस्थित उन सूक्ष्म भावो को पकडकर अकित किया गया, जो दोनो को अनिर्वचनीय सुख की परिधि मे बाँध देते है। लज्जा जैसे मनोभाव के अन्तर्गत प्रेमियो के आपस मे नयनो का क्षणभर मिलना और पुन हट जाना आदि का सस्कृत कवियो और रीतिकालीन कवियो के काव्यो मे बडी सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन किया गया है। परस्पर दर्शन मे कुछ वर्णन तो ऐसे हैं जो सस्कृत काव्यो के अनुकरण मात्र से ही रीतिकालीन कवियो ने अकित किये और कुछ पूर्ण स्वतन्त्र कल्पना के साथ अकित किए गये हैं।

स्पर्शालिङ्गन के चित्रो मे भी परस्पर दर्शन के समान ही सात्त्विक भावों की उत्पत्ति मे शारीरिक अगों मे प्रस्वेद, कपन इत्यादि का प्रादुर्भाव होता है। इनमें भी अधिकतर वर्णन ऐसे हैं जो कि सस्कृत कवियो का किसी न किसी रूप मे अनुकरण कर अकित किये गये हैं। रीतिकाल के नायक और नायिका एक दूसरे का स्पर्श सुख प्राप्त करने के लिए कही न कही अवसर की खोज मे रहते हैं और जैसे ही थोडा भी एकान्त प्राप्त किया कि आलिङ्गन अथवा स्पर्श करने मे चूक नहीं करते। इसके अतिरिक्त परिणय के बन्धन मे बँधे हुए नायक-नायिकाओ की तो बात ही दूसरी है। उन्हें अवसर खोजने की आवश्यकता नही पडती बल्कि उन्हें तो स्वत ही अवसर प्राप्त हो जाता है। अत सस्कृत काव्यो मे कुछ नायक-नायिकाओं को छोडकर अधिकतर ऐसे हैं जो कि विवाहित हैं किन्तु रीतिकाल मे अधिकतर ऐसे हैं जो अविवाहित हैं और स्वतन्त्र प्रेम से प्रेरित होकर मिलन की आकाक्षा करते हैं।

सकेतो की स्थिति भी प्रणय को अधिक रमणीय बनाने मे समर्थ होती है। सस्कृत काव्यो मे बहुत पूर्वकाल से ही इसका उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए कालिदास के रघुवश को लिया जा सकता है। वहाँ इन्दुमती स्वयवर मे आये हुए अनेक राजाओ की चेष्टाएँ, उनके सकेतो द्वारा ही अभिव्यजित होती हैं। नैषध मे तो सकेतो का विस्तृत रूप आता है और उसके पश्चात् के सस्कृत काव्यो मे तो सकेतो के अनेक प्रसग प्राप्त होते हैं। अत सस्कृत काव्य की इस परम्परा को देखते हुए कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियो ने सकेतो का वर्णन करते हुए निस्सन्देह सस्कृत काव्यो पर दृष्टिपात किया होगा और उनसे प्रेरित होकर अनेक

वर्णन अपने काव्यों में सुन्दर ढंग से अनुस्यूत कर दिए। अतएव कुछ वर्णन तो ऐसे बने जो इनसे पूर्ण स्वतन्त्र रहे किन्तु कुछ ऐसे अवश्य है जिन पर संस्कृत काव्यों का किसी न किसी रूप में प्रभाव अंकित है।

होली के प्रसंगों के विषय में अध्याय के वर्णन के समय भी निवेदन किया जा चुका है कि ये समस्त चित्र रीतिकालीन कवियों के अपने मौलिक-चित्र है। कुट्टनीमतकार का एक होली का उदाहरण केवल इसलिए अंकित किया गया है, जिससे यह पता चल जाय कि होली का त्योहार भारतीय संस्कृति के अनुसार बहुत समय से मनाया जाता रहा है तथा इसमें रसिकों की भावनाये भी रंगीली ही होती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन संस्कृत काव्यो मे होली के चित्र अधिक रूप में प्राप्त नहीं होते हैं। अत: ये समस्त चित्र मौलिक ही है।

जल क्रीड़ा के प्रसंग तो पूर्णरूपेण संस्कृत कवियों के अनुकरण पर ही अंकित किए गये है तथा कहीं-कही तो ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत कवियों का पूर्ण अनुकरण किया है। अतएव माघ ने शिशुपालवध और भारवि ने किरातार्जुनीयम् के अन्तर्गत जलक्रीड़ा के जो प्रसंग ग्रहण किए, उनमें से अधिकतर ऐसे हैं जो रीतिकालीन कवियों के काव्यों में अनायास ही अनुस्यूत हो गये है। इतनी बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है कि रीतिकाल मे ये प्रसंग ज्यों के त्यों अंकित न होकर स्वतन्त्र शैलियों के माध्यम से कुछ भिन्न रूप में प्रकट हुए है किन्तु छाया रूप में अनुकरण की झलक लगभग सभी मे मिलती है।

विलास-क्रीड़ाओं के अन्तर्गत नायिका द्वारा निषेध में स्वीकृति का जो भाव छिपा रहता है, वह प्रेमी के हृदय को अनिर्वचनीय सुख का दाता होता है। इस भावना की वर्णन-परम्परा का विकास संस्कृत ग्रंथों से ही होता है। निषेधात्मक-स्वीकृति के रीतिकाल के अधिकतर वर्णन ऐसे है जिन पर किसी न किसी प्रकार उनके पूर्व-कालिक संस्कृत ग्रन्थो की छाया वर्तमान हैं क्योकि कालिदास, माघ, भारवि इत्यादि कवियों के वर्णनों का बहुत कुछ प्रभाव रीतिकालीन कवियों के ऐसे प्रसंगों को देखने पर स्पष्ट रूप में झलकने लगता है।

सुरति और सुरतान्त के प्रसंगो के विषय में तो कहा जा सकता है कि वहाँ तो अधिकतर संस्कृत क प्रभाव से ही प्रसंगों का चयन किया गया है। संस्कृत कवियों ने सुरति और सुरतान्त के चित्रो को अधिकतर अपने पूर्वकालिक कामशास्त्रीय ग्रन्थ जैसे वात्स्यायन इत्यादि से प्रभावित होकर अंकित किया। रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत कवियों की भाँति ही कामशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुकरण किया और साथ ही इन चित्रों में पूर्वकालिक संस्कृत ग्रंथो के वर्णनों का प्रभाव भी अनायास ही आ गया, इससे इस युग के कवियों ने संस्कृत कवियो की भांति सुरति के अन्तर्गत विप-

रीत रति का भी वर्णन कर अनेक अश्लील चित्रो का निर्माण कर अपने-अपने आश्रय दाताओं की रुचि को खूब तृप्ति प्रदान की।

अन्ततोगत्वा सयोग शृगार के इन समस्त वर्णनो के विषय मे यही बात कही जा सकती है कि रीतिकालीन कवियो के प्रेरणा स्रोत निस्सन्देह पूर्ववर्ती संस्कृत के ग्रन्थ रहे फिर भी इन कवियो की वर्णन-पद्धति अपनी रही। उन्होने युगीन परि-स्थितियो के सन्दर्भ मे प्रसगो के मूल भावो अथवा कल्पनाओ में परिवर्तन अथवा परिवर्धन कर एक विशिष्ट परम्परा का प्रचलन किया।

---

३ | विप्रलम्भ-श्रृंगार

संयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका के हृदय में जिस प्रकार सुख की अनुभूति व्याप्त रहती है, उसी प्रकार विप्रलम्भ की अवस्था में उनके हृदय में दुःखात्मक भावनाओं का आवेग रहता है। किन्तु वियोग की अग्नि मे तपकर प्रेम कभी मलीन नहीं पड़ता अपितु उसमें कंचन के तुल्य निर्मलता आ जाती है। यहाँ प्रेमी की प्रिय के प्रति एकनिष्ठ साधना होती है, उसका ध्यान संसार की ओर न रह कर निरन्तर प्रिय के प्रति आकर्षित रहता है। प्रेमी की समस्त सहृदयता लोक-सम्बद्ध हो जाती है। अतः सांसारिक जड़ और चेतन प्राणियो के प्रति उसके हृदय में सहज सहानुभूति का प्रादुर्भाव होता है। सयोग की अपेक्षा वियोग की अवस्था मे प्रेम अधिक पुष्ट होता है।

मेघदूत के अन्तर्गत कालिदास ने वियोग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वियोग में प्रेम का उपयोग न होने के कारण वह राशीभूत हो जाता है।[1] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विप्रलम्भ-श्रृगार की व्याख्या करते हुए कहा है कि "विप्रलम्भ वह श्रृंगार है जिसमें नायकनायिका का परस्परानुराग तो प्रगाढ़ हुआ करता है, किन्तु परस्पर मिलन नही होने पाता।"[2] भोज ने इनसे पूर्व विप्रलम्भ की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि –

'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगो पुष्टिमश्नुते"[3]

अर्थात् "विप्रलम्भ के विना सम्भोग की पुष्टि नहीं हो सकती।" अतः इन समस्त बातों से विप्रलम्भ श्रृंगार की महत्ता का पूर्ण रूप से पता चल जाता है।

---

१. स्नेहानाहुः किमपि विरहण्यापदस्ते ह्यभोग्या।
दृष्टे वस्तुन्युपूचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति॥
मेघदूत–उत्तरार्धम्–श्लोक ५२

२. यत्र तु रति प्रकृष्टनाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।
साहित्य-दर्पण–अनु० डॉ० सत्यव्रत सिंह–३।१८७

३. भोजकृत श्रृंगार प्रकाश–पाँचवाँ प्रकाश–लक्षण–५२

संस्कृत मे विप्रलम्भ शृगार के भेदो को आचार्य विश्वनाथ ने चार रूपों में स्वीकार किया है– (१) पूर्वानुराग, (२) मान, (३) प्रवास, (४) करुण ।[1] परन्तु हिन्दी के रीतिकालीन काव्य मे प्रमुखता पूर्वराग, मान और प्रवास का ही अधिक प्रचलन रहा, जिसकी पुष्टि निम्नलिखित पंक्तियों से सहज ही हो जाती है –

सोहि तीन प्रकार को, इक पूरबानुराग
दूजी मान प्रवास ये, तीनो भेद अराग ॥[2]

पूर्वराग

प्रिय के गुण श्रवण और दर्शनादि से प्रेमी का हृदय आकंपित हो जाता है। तब उसके हृदय मे प्रिय से मिलन की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, जिससे हृदय मे निरन्तर एक प्रकार की छटपटाहट और आतुरता का प्रादुर्भाव होता है। आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने "पूर्वराग" के विषय मे गम्भीरतापूर्वक विचार कर तथ्य प्रकट किया है–"प्रिय का संयोग होने के पूर्व उसके गुण-श्रवण, दर्शन आदि के कारण जो तड़प या वेदना होती है वही पूर्वराग है। अभिलाष की प्रधानता होने के कारण ही इसे "अभिलाषा-हेतुक" कहा गया है।"[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि "पूर्वराग" के अन्तर्गत अभिलाषा की तीव्रता प्रमुख रूप से आती है। इसके अन्तर्गत वेदना की तीव्रता न रहकर मिलन के लिये प्रेमियो क हृदय मे छटपटाहट रहती है। पूर्वराग के अतर्गत ही परस्पर दर्शनादि की स्थिति विद्यमान रहती है। पिछले अध्याय मे जैसा कि दर्शनो के भेद मे स्पष्टरूप से चार प्रकार के दर्शनो–श्रवण, स्वप्न, चित्र तथा प्रत्यक्ष का उल्लेख किया जा चुका है कि इनकी स्थिति विप्रलम्भ शृगार मे ही विशदता धारण किए रहती है। रीति कवियों ने तद्विपयक अनेक माधुयपूर्ण प्रसगो की उद्भावना की है।

श्रवण-दर्शन

श्रवण-दर्शन का उल्लेख संस्कृत के श्रीहर्षादि कवियो के काव्यों मे बड़ी ही रुचि के साथ प्राप्त होता है। हिन्दी कवियो मे श्रवण-दर्शन का प्रारम्भ आदि काल के मुख्य ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो के अतगत "पद्मावती-समय" मे विद्यमान है। तोता पृथ्वीराज के सम्मुख पद्मावती का रूप सौन्दर्य का वर्णन कर पृथ्वीराज चौहान का ध्यान आकर्षित करता है। भक्तिकालीन कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने महाकाव्य पद्मावत् के अन्तर्गत राजा रत्नसेन के सम्मुख हीरामन तोते के माध्यम से

---

१ स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकचतुर्धा स्यात् ॥
साहित्य-दर्पण--३।१८७

२. शृगार-सुधाकर–सम्पा मन्नालाल द्विज–(प्रथम संस्करण) पृ० ३६८

३ बिहारी–प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र–(प०स०) पृ० १२१

पद्मावती के रूप सौन्दर्य की गाथा सुनाकर और रत्नसेन के हृदय में पूर्वराग को जन्म देकर श्रवण-दर्शन परम्परा को एक विशद एवं शिष्ट रूप प्रदान किया। रीति-कालीन हिन्दी काव्यों में कवियों ने नायक-नायिका के वर्णन में शास्त्रीय-दृष्टिकोण के अनुसार और स्वतन्त्र रूप में भी श्रवण-दर्शन को अन्य दर्शनों के साथ ही ग्रहण किया है। सर्वप्रथम विहारी के प्रस्तुत वर्णन को लिया जा सकता है। नायिका अपने मनोनुकूल नायक का जैसे ही नाम सुनती है तो उसके शरीर और मन में परिवर्तन किस प्रकार होता है–

नाऊँ सुनत ही ह्वै गयौ तनु औरै मनु और।
दवै नहि चित चढ़ि रह्यौ अबै चढ़ाएँ त्यौर ॥[1]

भाव स्वतः ही स्पष्ट है कि जिस प्रिय का नाम सुनते ही नायिका का शरीर और मन कुछ दूसरे प्रकार का हो जाता है, वह प्रिय चित्त पर इस प्रकार चढ गया है कि त्यौर चढाने से भी दव नहीं सकता। अर्थात् नायिका सखी को भले ही डाँटे किन्तु मनभावन प्रिय का प्रेम नायिका के हाव भाव द्वारा व्यक्त हो ही जाता है।

कवि श्रीहर्प ने प्रिय विपयक वार्ता सुनने के लिये पूर्वराग जन्य अभिलाषा का चित्र वड़ी ही मनोरम भाव-भूमि में अंकित किया है। अस्तु, प्रिय के विषय में कुछ सुनने की अभिलाषिणी नैपध की नायिका दमयन्ती की उत्सुकता भी दर्शनीय है–

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते
दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सुतेपु प्रतिभूपतीनलं
विनिद्ररोमाजनि श्रृण्वती नलम् ॥[2]

दमयन्ती के पिता की सेवा के लिये जो भी वन्दीजन आते हैं, उन्ही से दमयन्ती दूसरे राजाओं की स्तुति के साथ-साथ नल का वर्णन सुनकर प्रसन्न होती है, तथा इससे वह अत्यन्त रोमांचित भी होती है। तात्पर्य यह है कि नल के प्रति उसके हृदय में अनुराग उत्पन्न हो गया है, तभी तो वह नल विपयक वातो से प्रसन्न होती है।

उक्त विहारी और श्रीहर्प–दोनों कवियों के वर्णन पूर्वानुराग के अन्तर्गत नायक विपयक वार्ता से नायिका के प्रसन्न होने की दृष्टि से समान हैं। विहारी की नायिका भी अपने प्रिय का नाम सुनकर प्रसन्न होती है क्योंकि कवि ने "तनु औरै मनु और" से इसी वात की व्यन्जना प्रकट की है कि प्रिय का नाम सुनने से नायिका पुलकित

१. विहारी–रत्नाकर–(चौथा संस्करण) दोहा–५९९
२. नैपध–सर्ग–प्रथम, श्लोक–३४

तो होती ही है, साथ ही उसके शरीर और मन दोनो में सात्त्विक भावों की सर्जना भी होती है। इसी प्रकार नैषधकार की नायिका भी अपने प्रिय का नाम सुनकर हृदय मे गुदगुदी का अनुभव करती है। दोनो कवियो के वर्णनों द्वारा यह बात स्वत ही सिद्ध हो जाती है कि दोनो नायिकाओं के हृदय में अपने-अपने प्रिय के प्रति मानसिक प्रेम विद्यमान है। इतना साम्य होने हुये भी स्थलो के सन्दभ की दृष्टि से दोनो प्रसग भिन्न हैं तथा विहारी का वर्णन श्रीहर्ष की अपेक्षा अधिक लालित्य लिये हुये है क्योंकि उसने नायिका के 'त्यौर" चढाने की बात कहकर नायिका द्वारा हृदय ही हृदय मे प्रेम का अनुपम स्वाद ली जाने वाली मनोवृत्ति का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया है।

स्वप्न-दर्शन

विरह मे व्याकुल नायक नायिका अपने "प्रिय" के समीप जाना चाहते हैं। जब प्रत्यक्ष रूप मे यह बात सम्भव नही होती तब वे स्वप्न-दर्शन की इच्छा करते रहते हैं। परन्तु निद्रा यह सुख अधिक देर तक कहाँ लेने देती ? विहारी की एक नायिका की स्थिति दृष्टव्य है–

सोवत सपनैं स्याम घनु मिलिहिलि हरत वियोगु।
तब ही हरि कितु हूँ गई, नीदौ नीदनु जोगु॥[1]

यहाँ नायिका के कथन से स्पष्ट है कि नीद की इच्छा उसे प्रिय-मिलन के कारण ही है किन्तु प्रिय-मिलन न होने पर और आँख खुल जाने पर उसका निद्रा को दोष देना उचित ही है। इसी प्रकार प्रिया-वियोग मे दुखित कालिदास के नायक यक्ष का कथन भी कितना सुन्दर है–

मामाकाशप्रणिहितभुज निर्दयाश्लेषहेतो-
–र्लब्धायास्ते कथमपि मयास्वप्नसदर्शनेषु॥[2]

इससे स्पष्ट है कि स्वप्न मे आलिङ्गन की स्थिति दोनो कवियो में ही है और दोनो के आलिङ्गन, निद्रा भग होने के कारण व्यथ ही रहते हैं। उस दृष्टि से दोनों कवियो के प्रसग पूर्णरूप से मेल खाते हैं। दोनो में केवल इतना ही अन्तर है कि विहारी की तो नायिका प्रिय का आलिङ्गन करना चाहती है और मेघदूत का नायक अपनी प्रिया का स्वप्न में आलिङ्गन करने की इच्छा करता है। एक विशेष बात यह भी है कि विहारी ने नीद के टलने और उसकी निन्दा करने की बात कहकर प्रसग को अधिक से अधिक स्पष्ट कर दिया है जब कि मेघदूत में नींद के खुलने की व्यञ्जनामात्र ही स्पष्ट होती है। अत विहारी ने यह भाव तो मेघदूत से ग्रहण किया, किन्तु

---

१ विहारी–रत्नाकर–दोहा ११६
२. मेघदूत–उत्तरमेघ–श्लोक ४९

उसे अपनी कल्पना-शक्ति तथा शैली के द्वारा माधुर्यपूर्ण बना दिया है। पूर्वानुराग की दृष्टि से कवि देव के इस स्वप्न-दर्शन के प्रसंग पर भी मेघदूत के उक्त प्रसंग का अल्प प्रभाव है। इस हेतु देव का यह वर्णन भी दृष्टव्य है—

अब धाइ कै अंक मे सोइ निसंक है पंकज सी अँखियानि झकाझकी।
त्यों सपने में लखे अपने प्रिय प्रेमपने छवि ही की छकाछकी।
ठाढे ही ठाढ़े भरी भुज गाढ़े सु बाढ़ी दुहू के हिये में सकासकी।
देवजगी रतियाहू गई न तियाकी गई छतिया की धकाधकी॥[1]

नायिका स्वप्न में अपने प्रियतम को देखकर और उसकी छवि का पान कर तृप्त होकर उसके अंक में दौड़कर निश्चिन्त होकर सोती है। पुनः परस्पर एक-दूसरे को प्रगाढ़-आलिङ्गन में लेने पर स्वप्न में ही दोनों के हृदय में "सकासकी" बढ़ जाती है किन्तु नायिका की अचानक ही आँखे खुल जाती हैं, फलस्वरूप जागरण में ही समस्त रात्रि समाप्त हो जाती है और प्रिय-आलिङ्गन से उत्पन्न छाती की धड़कन सहज ही समाप्त नहीं होती।

यहाँ भी देव ने स्वप्न-दर्शन की स्थिति, मेघदूत के प्रसंगान्तर्गत नायक के माध्यम से स्पष्ट न करते हुये बिहारी के समान नायिका के माध्यम से ही स्पष्ट की है। देव के प्रसंग की विशेषता यह भी है कि उसकी नायिका अपने नायक से स्वप्न में प्रगाढ़ आलिङ्गन का आनन्द लेती है तथा इसी से "सकासकी" की स्थिति का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु मेघदूत के नायक यक्ष के समान यहाँ भी नायिका की अचानक आँखें खुल जाती हैं, और आलिङ्गन की स्थिति मेघदूत के वर्णन के अनुसार निरर्थक ही रह जाती है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि कवि देव के इस प्रसंग पर मेघदूत का बहुत ही कम प्रभाव है। इसके अतिरिक्त देव ने शब्दों की योजना प्रसंगानुसार कर स्थिति को अधिक से अधिक स्पष्ट किया है क्योकि "सकासकी" और "धकाधकी" शब्दों से अनायास ही वर्णन के अनुरूप ध्वनि-योजना का प्रमाण भी प्राप्त होता है। कवि देव का प्रस्तुत वर्णन परिस्थिति और वातावरण तथा वर्ण्य-विषय की पूर्ण अभिव्यक्ति कर रसिक जनों को अपार आनन्द में निमज्जित करने में पूर्ण समर्थ है। कवि की वर्णन शैली यहाँ निस्सदेह कौशल-पूर्ण है।

चित्र-दर्शन

नायक के गुणों को श्रवण करने के पश्चात् नायिका के मस्तिष्क में प्रिय के रूप-दर्शन की लालसा अनायास ही बढ़ जाती है। दूती अथवा सखी के माध्यम से चित्र-दर्शन द्वारा उसकी मानसिक गति में और भी अधिक तीव्रता आ जाती है। उसे ऐसा लगता है कि मानो चित्र में प्रिय का ही साक्षात् दर्शन हो गया हो।

---

१. देव ग्रन्थावली—रस विलास—आठवाँ विलास, छन्द ८५

नैषधकार कवि श्रीहर्ष ने नैषध के प्रथम सर्ग के अन्तर्गत जहाँ दमयन्ती के पूर्वराग का चित्रण किया है, वहीं चित्रकार द्वारा दमयन्ती को नल का चित्र बनवाने की जिज्ञासा से पूर्ण अंकित किया है। इस प्रकार चित्र-दर्शन की परम्परा सुदीर्घ-परम्परा है। रसमंजरीकार की नायिका चित्रांकित प्रिय को ही देखकर रति-क्रीड़ा के भय का परित्याग नहीं कर पाती–

नीवीं हरेदुरसिज विलिखेन्नखेन
दन्तच्छद न दशनेन दशेदकस्मात्।
इत्थ पटे विलिखित दयित विलोक्य
बाला पुरेव न जहार विहारशङ्काम्॥[1]

इसी प्रकार रीतिकालीन काव्यों में अनेक चित्र अंकित किये गये हैं। किन्तु ये चित्र अधिकतर ऐसे हैं कि चित्र-वर्णन की दृष्टि से तो परम्परागत हैं, किन्तु प्रणय की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति तथा भाव और भाषा की दृष्टि से सर्वथा मौलिक ही हैं। उदाहरणार्थ यहाँ एक चित्र द्रष्टव्य है–

न्यौते गई वृषभानलली ललिता के जहाँ पति प्रीति पढी है।
भीत मे पीतमै देखि लिखै नवला के हिये नवलाज बढी है।
आँखिन भीजी सी अगपसीजी सी छीमन छीजी सी मोह मढी है।
चौकी चकी ससकी न सकी चितै मित्र की मूरति चित्त चढी है॥[2]

आशय स्वत ही स्पष्ट है। वृषभान लली सखी ललिता के यहाँ निमंत्रण में जाती है। वहाँ दीवार मे प्रिय की तस्वीर देखकर अनुराग तथा समीप की सखियों को देखकर लज्जा में निमज्जित हो जाती है। तभी तो उसकी आँखें भीग जाती हैं तथा शरीर पसीज जाता है। छन्द के अन्तर्गत अनुभावों का विधान इस प्रकार हुआ है कि इसके अन्तर्गत स्वत ही सजीवता आ गई है। अतिशय अनुराग का पर्यवसान लज्जा के अन्तर्गत बड़ी ही सावधानी के साथ अंकित किया गया है। अत मन-स्थिति का बड़ा ही सुन्दर निरूपण है जिससे कवि की मौलिकता स्वत ही व्यंजित हो जाती है। निस्सन्देह रीतिकालीन कवियों के ऐसे छन्द भाव, भाषा तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्युत्कृष्ट हैं।

प्रत्यक्ष-दर्शन

संस्कृत-काव्यों मे प्रत्यक्ष दर्शन जनित प्रेम निरूपण के अनेक चित्रों की परिकल्पना की गई है। वहाँ महाकाव्यों से लेकर मुक्तक काव्यों तक मे प्रेमियों के प्रत्यक्ष दर्शन मे ही परस्पर नयन-बाण द्वारा घायल होने के अनेक चित्र विद्यमान हैं। हिन्दी

---

१ रसमंजरी–'सुषमा' हिन्दी व्याख्या सहित–(द्वि० स०), श्लोक १३५

२ सुन्दरी सर्वस्व–सम्पा० मन्नालाल द्विज–पृ० १८९

के भक्त-कवि तुलसी आदि तक ने प्रत्यक्ष दर्शन को बड़ी ही सजीवता के साथ अंकित किया है। इसी प्रकार रीतिकालीन कवियों ने भी जो चित्र कल्पित किये, वे बड़े ही सजीव बन पड़े हैं। यद्यपि रीतिकालीन कवियों ने परम्परा को ही ग्रहण किया है फिर भी चित्रों में अपनी मौलिकता संयोजन करने में वे किसी भी प्रकार कम नहीं रहे।

प्रिय का प्रथम दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् मतिराम की नायिका की अवस्था कितनी दयनीय हो जाती है। वह निरन्तर प्रिय के ध्यान में ही किस प्रकार डूबी रहती है, यह दृष्टव्य है–

जा दिन तैं छवि सौं मुसक्यात कहूँ निरखे नन्दलाल विलासी;
ता दिन तैं मन-ही-मन मैं "मतिराम" पियै मुसक्यानि सुधा-सी।
नैंकु निमेष न लागत नैंन चकी चितवै तिय देव-तिया-सी;
चन्द्रमुखी न हलै, न चलै, निरवात निवास मैं दीप-सिखा-सी ॥[1]

नायिका एकदिन विलासी नन्दलाल की मुसकान की छवि को देख आती है; बस उसी दिन से प्रिय की वही प्रतिमा उसके मन में बैठ जाती है। यही कारण है कि क्षण भर के लिए भी उसकी आँखें नहीं लगती हैं और चकित होकर निरन्तर देव-वधुओं के समान ही प्रिय की प्रतीक्षा करती है; इस क्रिया के अनुसार वह चन्द्रमुखी नायिका उसी प्रकार जड़ बनकर स्थिर हो जाती है जिस प्रकार वायु से रहित स्थान में दीप शिखा स्थिर रहती है।

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त की नायिका हारलता जब अपने नायक सुन्दर-सेन को देखती है तो वह भी वियोग की इसी पीड़ा की अनुभूति करती है–

यस्मिन्नेव मुहूर्तेयदमवि दृष्टोऽसि मे सख्या।
तत एवारभ्य गता विधेयतां दग्धमदनस्य ॥[2]

नायक सुन्दर सेन के प्रेम में पगी नायिका हारलता की स्थिति का वर्णन उसकी सखी सुन्दरसेन के समक्ष करती है कि उसके प्रथम बार दृष्टि में आने मात्र से ही हारलता कामदेव के संकेत पर चलने लगी अर्थात् प्रणयजनित वियोग की ज्वाला में दग्ध होनी प्रारम्भ हो गई।

स्पष्ट है कि उक्त मतिराम के वर्णन पर कुट्टनीमत के प्रस्तुत प्रसंग का प्रभाव है। मतिराम की नायिका भी प्रथम बार प्रिय को निहारकर प्रणय का अनुभव करती है, उसी प्रकार कुट्टनीमतकार की नायिका भी प्रिय को निहारकर प्रणय-जनित विरह का अनुभव करती है। प्रथम दृष्टि द्वारा प्रणय-व्यथा की दृष्टि

---

१. मतिराम–ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ३३७, पृ० ३२७
२. कुट्टनीमत–सम्पा० : नर्मदेश्वर चतुर्वेदी–श्लोक २८७

से इन प्रसंगों में समानता है, किन्तु मतिराम ने प्रसंग को केवल प्रेमोत्पत्ति तक ही सीमित नही रखा, अपितु निमेष भर उसके नयनों का न लगना और चकित होकर देवस्त्री के समान चकित होकर देखते रहना, वायुहीन स्थान मे उसका दीप शिखा के समान स्थिर रहना—इत्यादि कल्पनायें कर प्रसंग को अधिक से अधिक सजीव बनाने का प्रयास किया है। अतएव मतिराम ने संस्कृत काव्य कुट्टनीमत से भाव तो ग्रहण किया, किन्तु उसे ज्यों का त्यों अंकित न कर उसमे सजीवता समाविष्ट कर दी।

पद्माकर ने भी प्रथम प्रणय-जनित नायिका की व्यथा का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। प्रिय तो नायिका का साथ छोड मोह तोडकर चला ही गया किन्तु उसका मन, जिसे हर समय नायिका के साथ ही रहना चाहिए, वह भी तो प्रिय से ही जा मिला। अतएव नायिका विह्वल हो जाती है और अपनी व्यथा को सखी के समक्ष बतलाती है—

> मोहिं तजि मोहनैं मिल्यो है मन मेरौ दौरि
>
> नैनहू मिले हैं देखि देखि साँवरो सरीर।
>
> कहै पद्माकर त्यों तानमय कान भए
>
> हौं सौ रही जकि थकि भूली सी भ्रमी सी बीर।
>
> एतो निरदई दई इनको दया न दई
>
> ऐसी दसा भई मेरी कैसे तन धारौं धीर।
>
> होवै मनहू के मन नैनन के नैन जो पै
>
> कानन के कान तौ ये जानते पराई पीर॥[1]

कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल की नायिका की भी यही अवस्था बन जाती है। वह भी अपने प्रिय के वियोग में व्यथित होकर शंका कुशंकाओं में डूबकर कहती है—

> तव न जाने हृदय मम पुन कामोदिवाऽपि रात्रिमपि।
>
> निर्घृण ! तपति बालियस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि॥[2]

जब शकुन्तला दुष्यन्त को प्रथम बार निहारती है तो वह उसी के प्रेम में निमग्न हो जाती है। वह विरह की पीडा को सहन करने मे असमर्थ हो जाती है, तब अपने नखों से अपनी सखियों की उपस्थिति मे प्रिय के प्रति पत्र-रचना करती है और तत्पश्चात् पत्र के अक्षरों का स्पष्टीकरण देती है कि वह निष्ठुर प्रिय दुष्यन्त

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली—सम्पा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (प्र० सं०)
जगद्विनोद—छन्द ६२९

२ अभिज्ञानशाकुन्तल—अंक—३, श्लोक १४

के हृदय को तो नहीं जानती किन्तु प्रिया शकुन्तला ने प्रथम बार अवलोकन मात्र से ही अपनी समस्त अभिलाषायें उसी को समर्पित कर दी हैं। यही कारण है कि प्रिय के बिना कामदेव उसके सम्पूर्ण अंगों को दिन रात जलाता रहता है।

पद्माकर और कालिदास दोनो कवियों की नायिकायें अपने-अपने प्रिय के वियोग में अत्यन्त ही व्यथित हैं। उनकी यह अवस्था प्रियतमों का एक बार अवलोकन करने के पश्चात् हुई है क्योंकि दोनों के प्रियतम केवल एक बार नेत्रपथ में आने के पश्चात् पुनः दृष्टिगत नहीं होते हैं। यही कारण है कि दोनों नायिकाओं को प्रथम दृष्टिजन्य प्रणयानुभूति होती है। अतएव कालिदास की नायिका ने जिस प्रकार अपनी समस्त अभिलाषायें प्रियतम को समर्पित कर दी हैं उसी प्रकार पद्माकर की नायिका ने भी; क्योंकि उसके मन का मोहन के मन से मिलना और नयनों का सांवरे से मिलना आदि स्थितियाँ प्रणय की गहन अनुभूति को ही अभिव्यंजित करती हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पद्माकर का प्रसंग कालिदास के प्रसंग की प्रेरणा से अंकित किया गया है किन्तु उसकी विभिन्न कल्पनायें कवि की स्वयं की रहीं जो कि अतीव रमणीय हैं। अतएव नायिका के माध्यम से व्यक्त किये गये "तानमय कान भए", "हौं तो रही जकि थकि भूली सी भ्रमी सी", "होवैं मनहू के मन नैन जो पैं कानन के कान तौ ये जानते पराई पीर"—ये कथन अतीव सुन्दर और माधुर्य पूर्ण हैं। पद्माकर के उद्गारों में भाव का उन्मेष ही इस कवित्व की अपनी विशेषता है।

रीतिकालीन कवियों ने पूर्वानुराग की अभिव्यक्ति अनेक रूपों मे की है। प्रिय विषयक बातों के सुनने में औत्सुक्य, प्रिय का स्वप्न अथवा प्रत्यक्ष रूप में दर्शन आदि स्थितियों के चित्र अत्यन्त ही मनोरम हैं तथा इन सभी के द्वारा इन कवियों की प्रेमानुभूति में गहरी पैठ का आभास स्वतः ही हो जाता है। रीतिकालीन कवियों के कछ चित्र तो स्वतन्त्र हैं, किन्तु कुछ संस्कृत काव्यों से अनुप्राणित होकर ही अंकित किये गये हैं। इनमें कवियों की बहुरंगी प्रतिभा, कल्पना तथा अनुभूति का संयोग इस प्रकार हुआ है कि इनमें अनायास ही सजीवता परिलक्षित होने लगती है।

मान

प्रेम की रेखाओं को अधिक से अधिक उभारने में प्रेमी और प्रेमिका के मध्य में मान की अत्यन्त ही आवश्यकता होती है। मान की स्थिति का प्रादुर्भाव दोनों के समीप होने पर ही होता है। एक से रूठने पर दूसरे के द्वारा मनुहार करने में जिस आनन्द की उत्पत्ति होती है, वह निस्सन्देह अवर्णनीय और अनिवर्चनीय है। इसके अतिरिक्त सपत्नी ईर्ष्या से मान की उत्पत्ति और भी अधिक माधुर्यपूर्ण बन जाती है, क्योंकि कोई भी नायिका यह सहन नहीं कर सकती कि उसके प्रिय से अन्य नारी का प्रेम हो और जब उसे विदित होता है कि उसका प्रिय किसी दूसरे के समीप

रमकर आया है तो वह सर्पिणी के समान फुफकार उठती है। यह स्थिति नायिका के अनन्य प्रेम की द्योतक होती है।

मान की यह परम्परा प्राय संस्कृत के ग्रथो मे खूब दिखाई देती है। कालिदास ने रघुवश के उन्नीसवें सर्ग मे जहाँ अग्निवर्ण की कामुकता का चित्रण किया है, वही मान के अनेक चित्रो की व्यजना विद्यमान है। जहाँ तहाँ अग्निवर्ण सपत्नी-ईर्ष्या से दुखित मानवती की मनहार करता हुआ दिखाई देता है। बाद के ग्रथो में तो खण्डितादि नायिकाओं का विशद चित्रण मिलता है। रीतिकाल मे मानवती नायिकाओ के चित्र परम्परा के भुक्त ही हैं। आचार्यों के अनुसार मान के दो भेद स्वीकार किये जाते हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान।[1] प्रणयमान का तात्पर्य है अकारण, कोप, क्योंकि प्रेम की गति कुटिल होती है, इसीलिए दोनो का क्रोध ही अकारण होना है। प्रणयमान के सम्बन्ध मे एक बात ध्यान रखने योग्य है कि इसमे विप्रलम्भ के सूत्र उतने नही रहते जितने कि होने चाहिये क्योंकि इसमे शीघ्र ही प्रेमी और प्रेमिका, मिलन सुख का अनुभव करते हैं। ईर्ष्यामान को पूर्णरूपेण विप्रलम्भ शृगार की कोटि मे ही स्वीकार किया जा सकता है। ईर्ष्यामान की उत्पत्ति सपत्नी ईर्ष्या के कारण होती है।

प्रणयमान की सूचना देने वाला बिहारी का यह वर्णन दर्शनीय है जहाँ पर रूप सौन्दर्य के गर्व मे नायक और नायिका दोना मान किए हुए हैं—

दोऊ अधिकाई-भरे एकैं गौं गहराइ।
कौनु मनावै, को मनै, माने मन ठहराइ ॥[2]

नायक और नायिका—दोनो एक दूसरे के प्रति इस प्रकार मान किए हुए हैं कि उनमे से प्रत्येक यही चाहता है कि दूसरा ही पहले बोले तो मान भग हो। अब ऐसे नायक-नायिका को कौन मना सकता है और कौन समझाने मे समर्थ हो सकता है? यही एक विचित्र समस्या उत्पन्न हो जाती है।

अमरुशतक के नायक-नायिका भी इसी प्रकार मान की स्थिति मे हैं। वे भी समीप शयन करते हुए भी मान की दशा मे विद्यमान हैं —

एकस्मिन्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तर ताम्यतो—
रन्योन्य हृदयस्थितेप्यनुनये सरक्षतोर्गौरवम्।[3]

---

१ मान कोप सतु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भव।
साहित्य-दर्पण, पृ० २३९

२ बिहारी-रत्नाकर-दोहा ५५९

३ अमरुशतकम्—अनु० प्रद्युम्न पाण्डेय—पृ० ४० (सन् १९६६)

दोनों यद्यपि एक ही शय्या पर पड़े हैं, फिर भी चुपचाप एक दूसरे की ओर पीठ करके लेटे हैं। इस स्थिति में दोनों ही खिन्न हैं क्योंकि हृदय में उठने वाली प्रणय की हिलोरें उन्हें परस्पर इस स्थिति में नहीं देखना चाहतीं, इसलिए दोनों एक दूसरे को मनाना भी चाहते हैं; किन्तु इतने पर भी अपने-अपने गौरव-रक्षा की भावना भी उनमें प्रबल है।

बिहारी के उक्त दोहे पर अमरु के इस श्लोक की झलक पूर्णरूप से आभासित हो रही है। दोनों वर्णनों में प्रत्येक प्रेमी यही चाहता है कि दूसरा उससे बोले तब ही मान का निराकरण हो किन्तु दोनों स्थानों के नायक-नायिका अपने-अपने मान की रक्षा में लगे हुए हैं। अमरु के श्लोक में तो दोनों में एक दूसरे को मनाने की भावना है किन्तु बिहारी के दोहे में यह भावना परिलक्षित नहीं होती बल्कि वहाँ तो पूर्ण रूप से नायक और नायिका दोनों इस प्रकार रूठे हैं कि दोनों ही यह चाहते हैं कि दूसरा ही पहले बोले तो ठीक है अन्यथा मान की स्थिति इसी प्रकार बनी रह सकती है। अतः बिहारी का वर्णन अमरुशतक के वर्णन से अधिक आगे निकल गया है, जहाँ स्पृहा है और प्रेम की निष्ठा का परिचय भी स्वतः ही ध्वनित हो रहा है। बिहारी के दोहे में 'गहराइ' और 'ठहराइ'—ये दोनों शब्द स्थिति को बड़ी ही सरलता के साथ अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं।

प्रातःकाल अन्य स्थान पर रमके आये हुए नायक से नायिका की व्यंग्य से पूर्ण उक्ति भी दर्शनीय है—

पलनु पीक अंजनु अधर धरे महावरु भाल।
आजु मिले सु भली करी भले बने हौ लाल ॥[1]

प्रातःकाल के समय नायक उपनायिका से मिलकर आता है। नायिका उसके शरीर पर लगे रति-चिह्नों को देखकर पहचान जाती है। नायक के पलकों पर लगी हुई पान की पीक द्योतित करती है कि नायक के नेत्रों का दूसरी नायिका ने चुम्बन किया है और नायक के अधरों पर लगे अंजन से अन्य नायिका के नेत्र-चुम्बन का आभास मानवती नायिका को होता है; तथा नायक के भाल में लगी महावर से नायिका यह भी पता कर लेती है कि अन्य नायिका के पैरों पर भी नायक ने अपना मस्तक टिकाया है। तभी तो वह लाल को भले बनने की संज्ञा देती है, जिसमे व्यंगात्मकता गहन रूप में छिपी हुई है।

देव की मानवती नायिका भी रात्रि में अन्य स्त्री के साथ रमके आये हुए नायक के नेत्र, भाल तथा अधर पर रति-चिह्नों को देखकर कहती है—

अंजन अधर पीक पलक कपोल लीक
सेंदुर झलक सीक भाल भरमीले से।

---

१. बिहारी रत्नाकर—दोहा १२

एहो बलबीर बलि गई बलबीर की सौं
 बोलत बिचल बोल सांचे सकुचीले से ।
देव हित बधनि पढाइ पर बधनि
 सुगधनि बसाई प्रेम बधन तें ढीले से ।
ढीले ढरे पेंचनि छबीले छकि छाके लाल
 लोइन लजौंहे ए रसीले रस गीले से ॥[1]

नायक कहीं बाहर रमके आया है जिसमे अन्य स्त्री के नेत्रो पर चुम्बन अंकित करने के कारण उसके अधरो पर अजन लगा है, पलको और कपोलो पर दूसरी स्त्री के चुम्बन से पान की पीक लगी है, भाल पर सिन्दूर की रेखा की झलक है, बोल मे कुछ विचलता है, तथा 'सदय' नायक को सकुचाने की अवस्था से व्यक्त हो रहा है। दूसरी नायिका के प्रेम-बन्धन से लाल का ढीलापन एव तृप्ति, आँखो मे लजीलापन एव गीला रस भरा हुआ दृष्टिगत हो रहा है। इन समस्त कार्यों को भांपकर नायिका की व्यग्य भरी उक्ति "एहो बलबीर बलि गई बलबीर की सौं"--इस कथन से प्रकट हो जाती है।

अमरुशतक की भी मानिनी नायिका जब अपने प्रिय के अगो मे पर स्त्री के सभोग-चिह्नों को देखती है तो उसे भी व्यथा तो होती है किन्तु अपने भाव का गोपन बड़ी चतुराई से करती है। यथा--

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभित केयूर मुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपर ।
दृष्ट्वा कोपविधायिमण्डनमिद प्रातश्चिर प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृश श्वासा समाप्ति गता ॥[2]

प्रात जब अमरुक का नायक आता है तो नायिका देखती है कि उसके ललाट पर चारो ओर महावर का रग लगा हुआ है जिससे यह प्रतीति हो जाती है, कि नायक अवश्य ही नायिका के चरणो पर गिरा है, गले मे लगी केयूर की छाप आलिङ्गन की सूचना देती है, नयनों पर लगी पान की पीक दूसरी नायिका द्वारा नेत्र-चुम्बन का भान कराती है। इससे नायिका को अत्यन्त ही व्यथा होती है, तब वह अपने कोपोत्पादक ईर्ष्याजन्य विकारो को छिपाने के लिए लीला कमल को सूँघने के लिए मुख के समीप लगाती है, जिससे क्रोध के भाव सूचित न हो सकें।

अमरु के प्रस्तुत श्लोक की छाप बिहारी और देव के उक्त प्रसगो पर पड़ी है क्योंकि अन्य नायिका के साथ सहवास करने से जिन रति चिह्नों की परिकल्पना

---

१ देव ग्रन्थावली--सुमिल विनोद--पष्ठम विनोद--छन्द ४५

२. अमरुशतकम्--श्लोक ६०

अमरु ने की है; उनका वैसा ही वर्णन विहारी और देव के प्रसंगों में भी दृष्टिगत हो रहा हैं; तथा जिस प्रकार अमरु की नायिका को ईर्ष्या होती है, उसी प्रकार विहारी और देव की नायिकाओं को भी प्रियतम के इस आचरण पर अत्यन्त ही व्यथा होती है। अमरु की नायिका कुछ बोल नहीं पाती और लीला कमल से अपनी ईर्ष्या छिपाकर अपने क्रोध को छिपाने का प्रयास करती है; किन्तु इस दृष्टि से विहारी और देव की नायिकायें कुछ अधिक प्रगल्भ हैं। वे नायक को यों ही नहीं छोड़ देना चाहतीं। अतः विहारी की नायिका के द्वारा प्रयुक्त "भले वने हो लाल" यह उक्ति नायक के प्रति कटु व्यंग्यवाण की द्योतक ही है, जिसे सुनकर कोई लज्जाशील व्यक्ति पुनः ऐसा कृत्य करने का विचार छोड़ सकता है। देव की नायिका की उक्तियाँ भी उसी व्यंग्य की सूचना दे रही हैं। यह स्पष्ट हो जाता है कि देव और विहारी ने अमरु से भाव लेकर उसे ज्यों का त्यो न रखकर अपनी कल्पना शक्ति द्वारा उसे आगे बढ़ाकर उसमें रमणीयता का प्रादुर्भाव किया, जिससे दोनों कवियों के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट झलकती है।

इसी प्रकार मतिराम की मानवती नायिका अपने मान को सहसा तव प्रकट करती है जबकि प्रियतम अन्य रमणी का नाम ले बैठता है—

> दोऊ अनंद सों आँगन माँझ विराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई,
> प्यारी को बूझत और तिया को अचानक नाँऊ लियो रसिकाई।
> आयौ उनै मुँहु मैं हँसि, कोपि प्रिया सुर-चाप-सी भौंह चढ़ाई,
> आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाई॥[1]

प्रिय और प्रियतमा दोनों आँगन के मध्य में आनन्द के साथ बैठे हैं। वरसात के दिन हैं इसलिए आषाढ़ की संध्या अत्यन्त ही सुहावनी लग रही है। तभी प्यारी से वात करते हुए सहसा नायक ने अपनी दूसरी प्रेयसी का नाम ले लिया, तव तो सपत्नी ईर्ष्या से प्रेरित नायिका अत्यन्त ही कुपित हो गई तथा इन्द्र-धनुष के तुल्य अपनी भौहों को चढ़ा लेती है। व्यथा के कारण उसकी आँखों से आंसू की बूँदें गिरने लगीं तथा उसका सुहास उसी प्रकार गायव हो गया जैसे कि हंस उड़ जाता है।

अमरुशतक का नायक भी यही अपराध कर बैठता है और वह भी अपनी प्रेयसी के समक्ष दूसरी का नाम ले बैठता है; इस कारण नायिका का ईर्ष्यामान दर्शनीय है—

> एकस्मिञ्शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
> सद्यः कोपपराङ्मुखं ग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि॥[2]

---

१. मतिराम-ग्रन्थावली-रसराज-छन्द ३९०

२. अमरुशतकम्—श्लोक २२

नायक-नायिका एक ही शय्या पर सो रहे हैं, तब नायक ने किसी अन्य रमणी का नाम ले लिया, जिसके कारण नायिका अत्यन्त दुखित होकर उन्मन हो जाती है और अपना मुख प्रिय की ओर से घुमाकर दूसरी ओर कर लेती है। प्रिय द्वारा चाटुकारी करने पर प्रिय को अपमानित कर देती है।

मतिराम के उक्त वर्णन पर यद्यपि अमरुशतक के प्रस्तुत भाव का प्रभाव है। जिस प्रकार अमरु की नायिका प्रिय-मुख से किसी अन्य रमणी का नाम सुनकर व्यथित होती है उसी प्रकार मतिराम की नायिका के हृदय में भी, पति द्वारा दूसरी का नाम लेने पर व्यथा की उत्पत्ति होती है। मतिराम ने इस भाव को लिया तो सही किन्तु अपने विचारों का सम्मिश्रण कर उसे अधिक उत्कर्षात्मक स्थिति को पहुँचा दिया है।

पद्माकर की मानवती नायिका को सखी मान का परित्याग करने के लिए समझाती है, क्योंकि नायिका ने नायक के किसी अपराध से चिढ़कर मान किया है। अस्तु नायिका की सखी की उक्ति दर्शनीय है—

ग्रीपम कलह कहा मान के महल बैठी
चन्दन चहल थल पलन मचाइ लैं।
कहै पद्माकर घने रे घनसार घोर
चीर चोराबोर कै गुलाब छिरकाइ लैं।
पंकज की पाँखुरी बिछाइ परजंक पर
फरस फुहारन की फैल सरसाइ लैं।
कीजिए उताली ह्वै है अनँदवहालीवन-
माली सौं लिपट आली लपट बराइ लैं ॥[1]

गीत-गोविन्दकार ने भी नायिका की सखी द्वारा मनाने का भाव बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। यथा—

हरिरभिसरति वहति मधुपवने।
किमपर मधिक सुख सखि भवते
माधवे मा कुरु मानिनी मानमये ॥
+ + +
मृदुनलिनीदलशीतलशयने।
हरिमवलोकय सफलय नयने ॥[2]

सखी मानिनी राधा को समझाती हुई कहती कि उसे माधव के प्रति मान

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली—प्रकीर्णक—छन्द ७९

२ गीत-गोविन्द व्याख्याकार—पं० श्री केदारनाथ शर्मा—नवम सर्ग, पृष्ठ ४७

का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि वसन्त की सुखदायक हवा प्रवाहित हो रही है, कृष्ण भी आये हुये हैं, इससे अधिक क्या ? घर पर क्या आनन्द प्राप्त हो सकता है ? पुन: सखी समझाती है कि मृदुल कमलिनी के पत्तों की शीतल शय्या पर कृष्ण को देखकर राधा को अपने नेत्र सफल करने चाहिये ।

पद्माकर ने अपने उक्त कवित्त के अन्तर्गत गीत-गोविन्द के इसी भाव की छाया को ग्रहण किया है। जिस प्रकार पद्माकर की नायिका को मान समाप्त करने के निमित्त सखी समझाती है, उसी प्रकार गीत-गोविन्दकार जयदेव की नायिका को भी उसकी सखी ही मान परित्याग करने का उपदेश देती है । दोनों कवियों के वर्णन में सखियाँ ही नायिकाओं को ऋतुओं के विषय में भी सकेत देती हैं । पद्माकर की नायिका को मान परित्याग करने के लिए ग्रीष्म-ऋतु में सखी द्वारा संदेश दिया जाता है तो गीत-गोविन्द की नायिका को वसन्तऋतु में । दूसरी बात यह है कि सखी द्वारा पद्माकर की नायिका को आदेश दिया जाता है कि वह प्रिय के समागम हेतु पलँग पर पंकजों की पाँखुरी बिछाकर सेज तैयार करे जबकि गीत-गोविन्दकार ने नलिनी-दल की शीतल शय्या पर कृष्ण को पूर्व से ही प्रतिष्ठापित कर दिया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पद्माकर ने गीत गोविन्द से इस भाव को उठाकर अपने सरस कवित्त की रचना तो की; तथापि उसमें भावों, विचारों के गुम्फन में पद्माकर की कवित्व-शैली का विशेष हाथ रहा । अत: ग्रीष्म में क्रीड़ा हेतु भूमि के निमित्त "घनेरे घनसार को घोरकर" उसमें "चीर को चोरा बोर कर गुलाब का छिड़कना"--ये कल्पनायें कवि ने कुछ अधिक स्वतन्त्र होकर की, तभी तो कवित्त के अन्तर्गत इतना सौन्दर्य भरा जा सका । काव्य सौष्ठव की दृष्टि से यह कवि का अतीव मनोहर कवित्त है ।

विवेचन से स्पष्ट होता है विरह की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति 'मान' के चित्र कवियों ने अत्यन्त सहृदयता के सहित अंकित किये हैं । अत: इन समस्त वर्णनों के विषय में कहा जा सकता है कि इन कवियों ने भाव की उर्वर भूमि में अपनी कल्पनाओं के बीज बखेरकर मान सम्बन्धी कवित्तो की जिस लहलहाती फसल का उत्पादन किया; उसकी शीतल हरीतिमा से पाठक और श्रोताओं के मन और मस्तिष्क आनन्द के साथ झूम उठते हैं । विरह-मान की अनेक स्थितियाँ इन रीतिकालीन वर्णनों में स्वाभाविकता के साथ उभरती हुई चली आई जो संस्कृत काव्यों से प्रभावित होते हुए भी विभिन्न कवियों की प्रतिभा की किरणों के द्वारा अधिक रमणीय दीखने लगी ।

प्रवास

विप्रलम्भ-शृंगार के अन्तर्गत 'प्रवास' अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि प्रवास में नायक और नायिका की दूरी होने के कारण दूसरे के प्रति जो 'ललक'

विद्यमान रहती है, उससे प्रणय के बन्धन अधिक से अधिक शक्तिशाली बन जाते हैं। वस्तुत प्रवासजन्य विरह मे प्रेम जितना गहन होता है उतना अन्य किसी स्थिति मे नही होता।

प्रवासजन्य वियोग मे प्रेमी को जड-चेतन मे कोई भेद नही लगता। उसे समस्त ससार स्वय के समान बोलता हुआ प्रतीत होता है तभी तो 'रामचरितमानस' मे विरह से व्याकुल राम सीता के विषय मे लता-तरुओ तथा खग, मृग और मधुकरो से पूछते हैं। अत सम्प्रति यह स्वत ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रवासजन्य विरह की पीडा असहनीय होती है और इसी कारण इसमे प्रेम की वल्लरी अधिक से अधिक उत्कर्ष प्राप्त करती है।

प्रवास जन्य वियोग मे ही विरह की वास्तविकता ज्ञात होती है क्योंकि पूर्वानुराग और मान मे प्रेमीजन एक दूसरे का प्रत्यक्ष दर्शन भी कर लेते हैं किन्तु प्रवास मे तो एक दूसरे से अवधि के समाप्त होने तक परस्पर वियुक्त रहने के कारण बडी ही बेचैनी का अनुभव करते हैं। कालिदास का मेघदूत प्रवासजन्य वियोग पर लिखा हुआ बडा ही उत्कृष्ट काव्य है। बाद के कवियो ने भी वियोग के अनेक चित्र उपस्थित किए जिनमे बडी ही मार्मिकता आ गई है। रीतिकालीन हिन्दी काव्यो मे प्राप्त वियोग के चित्र भी बडे करुणा पूर्ण एव प्रभावोत्पादक हैं।

प्रवासी नायक के वियोग मे बिहारी की नायिका की अत्यन्त ही हीन अवस्था हो गई है। उसकी विरह जनित ज्वाला किसी भी प्रकार शान्त नही होती—

> याकै उर औरै कछु, लगी विरह की लाइ।
> पजरै नीर गुलाब कै, पियकी बात बुझाइ॥[1]

विरहिणी नायिका के विषय मे सखियाँ आपस मे चर्चा करती हैं कि नायिका के शरीर मे जो विरह की ज्वाला प्रज्ज्वलित हो रही है, वह कुछ विचित्र प्रकार की है क्योंकि उस ज्वाला का शमन करने के लिए शीतलोपचार के रूप मे गुलाबजल छिडका जाता है तो वह अधिक प्रज्ज्वलित होती है, जबकि शीतलोपचार से तो अग्नि-शमन होनी चाहिए, किन्तु जब प्रियतम की वार्ता रूपी वायु चलाई जाती है तो वह शान्त होती है। अर्थात यहाँ पूर्ण रूप मे विपरीत बात का आभास हो रहा है क्योंकि शीतलोपचार मे अग्नि का प्रज्ज्वलित होना और वायु से शान्त होना—ये दोनो बातें पूर्ण रूप से विरोधाभास का ज्ञान कराती हैं।

मतिराम ने विरहिणी नायिका के इसी भाव को कुछ अपने ढग से लिया है—

> सखिन करनि उपचार अति परति विपति उत रोज
> सुरसत ओज मनोज के, परसि उरोज सरोज॥[2]

---

१ बिहारी रत्नाकर–दोहा ४८, पृष्ठ २६

२. मतिराम ग्रन्थावली–सम्पा० कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ ४८४

नायक के विरह में नायिका की दशा अत्यन्त दयनीय बन गई है । विरहिणी नायिका की विरहाग्नि का शमन करने के लिए सखियाँ नित्य ही शीतलोपचार करती हैं किन्तु उधर नित्य विपत्ति पड़ती जाती है क्योंकि नायिका के उरोजो का स्पर्श करते ही मनोज के ओज से कमल भी झुलस जाते हैं । मतिराम ने इस वर्णन को यद्यपि ऊहात्मक ढंग से स्पष्ट किया है किन्तु इससे तात्पर्य यह निकलता है कि नायिका के शरीर में तीव्र विरह की ज्वाला समाविष्ट हो गई है ।

अब आर्यासप्तशती की भी नायिका भी दृष्टव्य है । शीतोपचार उसे भी पीड़ा दायक बना हुआ है । यथा—

सा श्यामा तन्वङ्गी दहता शीतोपचारतीव्रेण ।
विरहेण पाण्डिमानं नीता तुहिनेन दूर्वेण ।।[1]

नायिका की विरहजन्य अपार पीड़ा को आर्याकार गोवर्धनाचार्य ने स्पष्ट करने के निमित्त "हिम की दूब" का उदाहरण लेकर स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार हिम द्वारा श्याम वर्ण की पतली दूब पीत वर्ण की बना दी जाती है उसी प्रकार षोडश वर्ष की कृशाङ्गी नायिका शीतोपचार तथा तीव्र दाहकारक विरह के द्वारा पीली बना दी गई है अर्थात् उसके अंग प्रत्यंग इतने झुलस गये है कि उनमे रक्त की लालिमा का लेश भी नही है ।

यद्यपि तीनों कवियो के वर्णन विरह की तीव्रता को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते है, किन्तु शीतोपचार, तीनो की नायिकाओ को व्यथित बनाये हुए है । अतः इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो बिहारी और मतिराम दोनो कवियो ने आर्याकार से प्रेरणा लेकर अपने-अपने विचारो को स्वयं की कल्पनानुसार अभिव्यक्त कर दिया है । आर्याकार ने अपना वर्णन उपमा के माध्यम से सीधे सादे ढंग मे प्रस्तुत किया है; किन्तु बिहारी और मतिराम ने प्रेरणा तो यहाँ से ग्रहण की, लेकिन वर्णन को अपनी-अपनी अभिव्यक्ति प्रदान की । ये सभी वर्णन ऊहात्मक होते हुए भी विरह की तीव्रता का सहज ही बोध करा देते है । उक्ति वैचित्र्य तो मानो इन वर्णनो का प्राण ही है, जो सहज ही आ गया है ।

विरह-व्यथा से प्रेमिका का शरीर दुर्बल एवं कांतिहीन भले ही बनता होगा परन्तु हृदयस्थ प्रिय का प्रेमपाश अधिक दृढ़ होता जाता है । बिहारी ने इसी तथ्य को एक समर्थक उपमान के द्वारा किस प्रकार प्रकट किया है, देखिए—

बिरह सुकाई देह, नेहु कियौ अति डहडहौ ।
जैसें बरसैं मेह, जरैं जवासौ जौ जमैं ।।[2]

---

१. आर्यासप्तशती—व्याख्याकार पं० रमाकान्त त्रिपाठी—पृष्ठ ३३६

२. बिहारी रत्नाकर—पृष्ठ १३७

जिस प्रकार पानी की जब वर्षा होती है तब जवासे के फूल पत्ते तो गिर जाते हैं किन्तु जल के, मूल द्वारा ग्रहण किए जाने पर वह और भी अधिक हराभरा दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार विरह मे प्रिया के अग तो दुर्बल हो जाते हैं किन्तु प्रेम अधिक हराभरा हो जाता है ।

विरह मे प्रणय के रस द्वारा सिंचित होने के कारण कालिदास की शकुन्तला भी सुदर दृष्टिगत होती है–

शोच्याच प्रियदर्शना मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते ।
पत्राणामिव शोषणेन मरुतास्पृष्टालता माधवी ॥[1]

स्पष्ट है कि अपने प्रिय दुष्यन्त के विरह मे शकुन्तला उसी प्रकार मुरझाई हुई है जिस प्रकार हवा के लगने से माधवीलता मुरझा जाती है, किन्तु मुरझाने पर भी जैसे माधवीलता सुन्दर लगती है उसी प्रकार इस समय प्रिय के प्रति प्रगाढ प्रेम होने के कारण वह सुन्दर दिखाई पडती है ।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि बिहारी के वर्णन पर कालिदास के प्रस्तुत श्लोक का प्रभाव है, क्योंकि विरह की अग्नि मे जिस प्रकार शकुन्तला झुलसकर भी सुन्दर दृष्टिगत होती है उसी प्रकार बिहारी की नायिका भी विरह के कारण दौर्बल्य को प्राप्त होते हुए भी विरह के अन्तर्गत पनपने वाले स्नेह से हरी भरी दिखाई देती है । प्रेम की नवीनता के लिए एक ओर कालिदास ने तो माधवील्ता को लिया है और बिहारी ने "जवासा" नामक वृक्ष को । अत रीति-कालीन कवि बिहारी और कालिदास के प्रसग बहुत कुछ समानता की भूमि पर स्थिर हैं । बिहारी के प्रसग मे "डहू डही" और "जवासो" इन दोनो शब्दो का अत्यन्त सार्थक प्रयोग हुआ है ।

मतिराम ने विरहिणी का चित्रण पावस मेघो से उत्पन्न व्यथा के सहित सजग होकर अकित किया है । वर्षा ऋतु में लटकती हुई मेघावलियाँ तथा उनका दौडना मानो कामदेव की ऊँची ध्वजा का स्वरूप हैं । आकाश मे पृथ्वी का स्पर्श करती हुई बिजली की शोभा दीखने लगी है । ऐसे रमणीय समय मे प्रियतम के विदेश होने पर विरहिणी का कम्पित होना स्वाभाविक है । इसके अतिरिक्त यदि उसे प्रिय का सन्देश प्राप्त न हो और बादलो की घटायें गर्जन-तर्जन करें तो उसका भय स्वाभाविक रूप मे अधिक-से-अधिक बढता ही जायेगा । मतिराम का यह चित्र निम्नलिखित सवैये में पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है–यथा–

धुरवानि की धावनि मानो अनग की तुग धुजा फहरान लगी ।
नभ मडल ह्वै छितिमडल छ्वै, छनदा की छटा छहरान लगी ।

---

1 अभिज्ञानशाकुन्तल–तृतीय अक–श्लोक ८

"मतिराम" समीर लगै लतिका विरही वनिता थहरान लगी।
परदेस मैं पीव, संदेस न पायो, पयोद-घटा घहरान लगी॥[१]

पावस की घटायें विरही प्रेमी जनों के मन को निस्संदेह अत्यन्त ही व्यथित बना देती हैं। भर्तृहरि ने इस तथ्य को निम्नलिखित उक्ति के माध्यम से स्पष्ट किया है–

अंसूची संसारे तमसि नभसि प्रौढ़जलद।
ध्वनिप्राप्ते तस्मिन् पवति दृपदा नीर निचये।
इदं सौदामिन्या: कनक कमनीय विलसितं
मुदं च ग्लानिं च प्रथयति पथिष्वेव सुदृशम्॥[२]

स्पष्ट हो जाता है कि आषाढ़ अथवा श्रावण के महीने मे जब सूची के प्रवेश न करने योग्य अर्थात् सघन अन्धकार छा जाता है, बड़े-बड़े मेघ शब्द करते हुए जलवृष्टि करने लगते हैं, बिजली बार-बार चमकने लगती हैं तब अपने-अपने बटोही प्रियतमों की प्रतीक्षा करती हुई स्त्रियाँ सुख और दुख दोनो की स्थिति में विद्यमान रहती हैं। अर्थात् प्रिय का आगमन तो सुख और न आना दुख उत्पन्न करता है।

एक ओर मतिराम ने "लटकती हुई मेघमालाओं और उनके मध्य चमकती बिजली, पुन: बादलों का गर्जन-तर्जन एवं इनसे विरहिणी का पति के अभाव में व्यथित होना, इन समस्त अवस्थाओं को एक ही स्थान पर बड़ी ही कुशलता के साथ अनुस्यूत किया है। तो दूसरी ओर भर्तृहरि ने बरसात में सघन अंधकार सहित बादलों का घिरना, बरसना, बिछली का बार-बार चमकना इन वर्णनो मे नायिकाओं की सुख और दुख दोनों की दशाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने सुख का उल्लेख कर अपने प्रसंग को मतिराम से अधिक मनोरम किया है।

प्रिय के समीप न रहने पर वसन्त की रमणीय सुषमा भी विषम बन जाती है, इस तथ्य को कवि देव ने विरहिणी नायिका के माध्यम से उद्घटित किया है। यथा–

देव कहै बिन कन्त बसन्त न जाहु कहूँ घर बैठि रहौरी।
हूक हिये पिक कूक सुने विष पुंज निकुंजनि गुंजति भौंरी।
नूतन नूतन के बन बेपन देखन जाति तौ हौं दुरि दौरी।
बीर बुरो मति मानो बलाइ ल्यो हौंहुँगी बौर निहारत बौरी॥[३]

---

१. मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ३९६–पृष्ठ ३३८
२. शृङ्गार-शतक–श्लोक ४५ (भर्तृहरिशतक, प्रकाशक : किशनलाल, द्वारिकाप्रसाद, बम्बई, भूषण प्रेस मथुरा, सन् १९४०)
३. देव–ग्रन्थावली भाव विलास–तृतीय विलास–छन्द ७३, पृष्ठ ९२

समस्त स्थानों पर वसन्त की छटा व्याप्त हो रही है फिर भी प्रियतम के विरह के कारण वह घर में ही बैठना अधिक उचित समझती है। कोयल की कूक सुनने से उसके हृदय में हूक उठने लगेगी कुंजों में गुंजार करती हुई अलियों की कुमारियाँ विषदायक प्रतीत होंगी। अतः इन कारणों को प्रकट कर विरहिणी नायिका अन्त में यह भी प्रकट कर देती है कि आम का बौर देखकर तो वह और भी अधिक पागल बन जावेगी।

कवि भर्तृहरि ने भी आम्र-बौर और कोकिलादि को वसन्त के समय विषम ही कहा है। यथा—

पान्थस्त्रीविरहानलाहुतिकथामातन्वती मञ्जरी ।
माकन्देषु पिकाङ्गनाभिरधुनासोत्कण्ठमालोक्यते ॥[1]

भर्तृहरि की इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि विरहिणी स्त्रियों की विरहाग्नि को प्रज्वलित करने के लिये आम्र के बौर और कोयल की कूक पर्याप्त होती है। इसीलिये कवि ने विरहिणी स्त्रियों को कोकिल के द्वारा अभिलाष-पूर्वक देखने की उक्ति जो व्यक्त की है, वह सार्थक ही है।

देव के उक्त कथन पर भर्तृहरि की इस उक्ति का प्रभाव पूर्णरूप से लक्षित हो रहा है। "शृंगार शतक" में जिस कथन को उक्ति के माध्यम से व्यक्त किया गया है, उसी की सार्थकता देव की नायिका के ऊपर घटित होती हुई प्रतीत होती है। देव ने इसे विरहिणी के हृदय में प्रवेश करा कर सुन्दर शब्दों में स्पष्ट किया है। तभी तो कन्त के बिना देव की नायिका वसन्त की सुषमा देखने के लिये बाहर नहीं निकलना चाहती। वसन्त ऋतु में फलित होने वाले ये समस्त उपकरण नायिका की विरह व्यथा को अत्यधिक वृद्धि प्रदान करने में विशेष हाथ रखते हैं। यहाँ वातावरण के अनुकूल देव ने जिस लालित्य-पूर्ण शैली का उपयोग किया है उससे कथन सशक्त एवं मार्मिक बन गया है।

विरही जनों के लिये पावस के मेघ अत्यन्त दुखदायी होते हैं इस उक्ति को पद्माकर ने अपनी प्रिय प्रवास-जन्य विरहिणी नायिका के कथन द्वारा स्पष्ट किया है। *यथा—*

अंगन अंगन माँहि अनंग के तुंग तरंग उमाहत आवैं।
त्यों पद्माकर आसहू पास जवासन के वन दाहत आवैं।
मानवतीन के प्रानन में जुगुमान के गुंमज ढाहत आवैं।
बान सी बुंदन के चदरा बदरा विरहीन पै बाहत आवैं ॥[2]

---

१ शृंगार-शतक—श्लोक ३६
२ पद्माकर ग्रन्थावली—प्रकीर्णक—सवैया ७७, पृष्ठ ३२४

कालिदास ने इसी उक्ति को "ऋतुसंहार" के अन्तर्गत कुछ दूसरे ही ढंग से लिया है । यथा–

"वलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दला: सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम् ।
सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकैस्तुदन्ति चेत. प्रसभ प्रवासिनाम् ।।"[१]

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मृदग के तुल्य शब्दायमान, चचला की प्रत्यंचा से युक्त सप्तरंगी इन्द्र का धनुष चढ़ाकर और अपनी तीक्ष्ण धारा के पैने वाणों की वृष्टि करके वादल प्रवासियो के चित्त को अत्यन्त दुखित कर देते है ।

यद्यपि पद्माकर के उक्त प्रसग पर कालिदास के श्लोक की छाप तो स्पष्ट लक्षित होती है, किन्तु पद्माकर का वर्णन भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय वन पड़ा है । "अनग की तु ग तरगो" के समान उमगित होना, "जवासे के वन को दग्ध करना", "मानवतियो के प्राण मे पनपते हुए गर्व को समाप्त करना", "अपनी वाण जैसी बूँदो से विरहिणियों को दुखित वनाना"—वादल विषयक ये कल्पनाये अत्यन्त ही रमणीयता के साथ उमड़ती हुई चली आई है । अत: यह कहना असंगत न होगा कि पद्माकर ने भर्तृहरि के "श्रृंगार-शतक" से भाव और कल्पना लेकर अपनी कवित्व-शक्ति द्वारा उसे ललित वना दिया है ।

इस प्रकार रीतिकालीन आलोच्य कवियो ने प्रवास जन्य वियोग के ऋतु विशेष और परिस्थिति तथा वातावरण के आधार पर वहुत से चित्र खीचे । इनमें से अधिकतर ऐसे रहे, जिनके ऊपर संस्कृत के काव्यो से स्थान-स्थान से भावों को उसी प्रकार चुनकर प्रसंगों को सजाया गया, जिस प्रकार कोई माली उद्यान से अलग-अलग फूलो को चुनकर किसी गुलदस्ते का निर्माण करता है ।

विरह की दशायें

वियोग की दयनीय स्थितियों का क्रमश: वर्णन करने के निमित्त आचार्यो ने वियोग के "प्रकारो" के साथ ही वियोग जन्य "अवस्थाओ" का भी निरूपण किया है । ये अवस्थायें इस प्रकार की मानी गई है–"अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति या मरण । कुछ विद्वान "मरण" की दशा को स्वीकार नही करते इसलिए विरह की केवल नौ दशायें मानते हैं तो कुछ विद्वान मूर्च्छा को भी मिलाकर एकादश कामदशाये स्वीकार करते है । इन अवस्थाओं पर दृष्टिपात करते हुए यह कहा जा सकता है कि वियोग का आधिक्य व्यथा के दस सोपानो के मध्य द्रुत गति के साथ दौड़ता है । आचार्यों ने इन सोपानों को ही दस अवस्थाओ की सज्ञा दी है । वस्तुत: मूर्च्छा को एकादश अवस्था का रूप न देकर उसे जड़ता में ही समाहित किया जा सकता है । सच वात तो यह है कि

---

१. ऋतुसंहारम्–द्वितीय : सर्ग:–प्रावृड्–वर्णन–श्लोक–४

मरण तो दिखा ही नहीं सकते क्योंकि मरण की स्थिति प्रकट करने से रस भंग होने की सम्भावना हो जाती है। अत 'मरण' को मरण तुल्य अवस्था में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जडता की अवस्था ही मूर्च्छा की स्थिति को जन्म देती है। अत यहाँ मूर्च्छा का उल्लेख, जडता से अलग न लेकर उसके साथ ही किया जायगा।

अभिलाषा

जब किसी भी प्रकार बिछुडे हुए प्रिय के प्रति मिलन प्राप्ति करने की प्रबल इच्छा बनी रहती है, वही वियोग की दशा अभिलाषा नामक अवस्था का स्वरूप ग्रहण करती है। रीतिकालीन कवियों ने स्थान-स्थान पर इस दशा को ग्रहण किया है।

बिहारी सतसई के अन्तर्गत नायिका की अभिलाषा का चित्र अत्यन्त मर्म-स्पर्शी बन गया है। उसका 'वाम अंग फडक रहा है जिससे वह अपने पति के आगमन का अनुमान कर रही है—

वाम बाँह, फरकति, मिलैं जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तोही सौं भेटि हौं राखि दाहिनी दूरि ॥[1]

बिहारी की विरहिणी नायिका का पति परदेश से लौट रहा है, जिसकी सूचना उसका वाम-अंग फडक कर दे देता है, अत वह हर्षित होकर अपने वाम-अंग को सम्बोधित करती है कि यदि उसका नायक वाम-अंग के फडकने पर मिल जायेगा तो वह उसे केवल उसी अंग से आलिंगन करेगी और दायिने को दूर ही रखेगी क्योंकि वाम-अंग के स्फुरण से ही तो उसे अपने जीवनाधार प्रिय की प्राप्ति होगी।

आर्याकार गोवर्धन की नायिका भी अपने इस वामाङ्ग को स्फुरित होता देख कितनी प्रसन्न होती है क्योंकि इसके स्फुरण होने से ही उसके उर में अपने प्रियागमन की आशा जाग्रत होती है—

प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः।
प्रियसङ्गाय स्फुरिता वियोगिनी वामबाहुलताम् ॥[2]

प्रिय-संगम की सूचना देने वाले स्फुरणशील वाम-बाहुलता को वियोगिनी नायिका कभी तो प्रणाम करती है, तत्पश्चात् अभिलाषा पूर्वक उसे देखती है, प्रेम के कारण कभी उसका चुम्बन भी करती है और यहाँ तक कि रोमांचित होकर उसका आलिङ्गन भी करती है। यहाँ नायिका की प्रिय के प्रति अति उत्कृष्ट अभिलाषा को व्यञ्जित किया है जिसमें जिज्ञासा और मधुर स्पृहा का समावेश है।

---

१ बिहारी-रत्नाकर-छन्द ५७२

२ आर्यासप्तशती-श्लोक-३४७

विहारी और आर्याकार के प्रसंगों पर जब सम्यक दृष्टिपात किया जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि विहारी ने प्रेरणा आर्याकार के इसी श्लोक से ली और अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से उसे स्वयं की शैली द्वारा प्रस्तुत कर दिया। आर्याकार ने वाम बाहुलता के स्फुरण से नायिका के हर्ष का वर्णन किया है, परन्तु विहारी की नायिका अपने वाम-अङ्ग के स्फुरण से न केवल हर्षित ही होती है अपितु उसे सम्बोधित कर वह इतना भी कह देती है कि–"तोही सौ भेंटिहौं राखि दाहिनी दूरि" अर्थात् केवल वाम-अङ्ग, से ही प्रिय से भेंट करने की कल्पना सर्वथा नवीनता की द्योतक है।

प्रिय के प्रति अभिलाषा जन्य वियोग को सहन करती हुई कवि देव की नायिका की उत्कंठा भी दर्शनीय है। अपने प्रिय को निहारकर उसे किंचित मात्र भी चैन नही मिलता। यथा–

> कान्ह कढ़े वृषभान के द्वार ह्वै खेलन खोरि पिछावरि घाकी।
> भीतर भौन तैं सामुहे लाल की, वाल विलोकि विलोकनि वाँकी।।
> हेरी न देव सुयेरी घने दुख चेरी ह्वै जाती चितौतहि याकी।
> पौरि लौ जाइ फिरी अकुलाइ अटा चढ़ि धाइ झरोखा ह्वै झाँकी।।[1]

प्रिय के दर्शन यदि हम करना चाहते है तो हमारे सामने लोक भय एवं गुरु-जनो का प्रतिबन्ध बाधक बन जाता है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी आर्या-कार गोवर्धनाचार्य की नायिका किसी न किसी प्रकार उपाय निकाल ही लेती है। प्रासाद पर चढ़कर झरोखे में प्रिय को देखती है और प्रिय भी उसे देखकर स्वयं को किसी भी प्रकार काबू में नहीं रख पाता। अतः प्रस्तुत चित्र भी दर्शनीय है–

> सौध गवाक्षि गतापि हि दृष्टिस्तं स्थितिकृत प्रयत्नमपि।
> हिमगिरि शिखरस्खलिता गङ्गे-वैरावतं हरति।।[2]

यह स्पष्ट है कि प्रासाद के झरोखे से नायिका की दृष्टि धैर्यशाली नायक के ऊपर पड़कर उसी प्रकार मुग्ध बना देती है जैसे कि ऐरावत गज गंगा को देखकर मुग्ध हो जाता है।

देव के उपर्युक्त वर्णन पर यद्यपि आर्याकार की प्रस्तुत आर्या का प्रभाव लक्षित है, किन्तु आर्याकार ने तो भाव को थोड़े ही रूप मे व्यक्त करके नायक-नायिका की मुग्ध अवस्था का चित्रण कर दिया। जबकि देव दोनों की देखा-देखी से उत्पन्न न केवल आकर्षण का ही चित्रण कर सका बल्कि चित्र के लिए उसे कृष्ण की क्रीड़ा का भी आश्रय ग्रहण करना पड़ा। अस्तु, कृष्ण के द्वारा घर के पीछे क्रीड़ा कराना,

---

१. देव ग्रन्थावली–रस विलास–सातवाँ विलास, श्लोक ३७

२. आर्यासप्तशती–श्लोक ६७२

भवन से नायिका के देखने पर नायक का भी देखना, दोनो का एक दूसरे के प्रति आकर्षण व्यंजित होना, नायिका का व्याकुल होकर अटारी पर चढ मुग्ध भाव द्वारा झरोखे से प्रिय को देखना—ये समस्त स्थितियाँ एक विशाल चित्र का आयोजन करती हुई प्रतीत होती हैं। अतएव कहा जा सकता है कि देव ने आर्याकार से जिस भाव को ग्रहण किया, अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा उसे अधिक से अधिक विस्तृत बना दिया। प्रसग को पढते-पढ़ते भावनाएँ स्वत ही अपार आनन्द की अनुभूति मे निमग्न हो जाती हैं।

प्रिय के प्रति उत्कठित देव की दूसरी नायिका की अभिलाषा भी दृष्टव्य है। उसके चित्त मे प्रिय की मूर्ति इस प्रकार बैठ जाती है कि कुछ अच्छा नही लगता। अपने दरवाजे पर बार-बार आकर प्रिय को ही देखने की इच्छा करती है। यथा—

मोहन रूप चढयो चित्त मे हित भोजन भूषण भाँति न भावनि।
देखन को खिन ही, खीन छिन सखीन सो देव न जी की जनावति।
भूलि गयी गुडियान को खेल झरोखनि झाँकति धौस गँवावति।
बाल गनै न अबार सबार कि बारक बार किवार लौं आवति॥[1]

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त की नायिका भी प्रिय को देखने के लिये उत्कठित होकर दरवाजे पर खडी रहती है—

त्वयि मार्गनिकटवर्तिन्यविचिन्तितखेदया तया सुभग।
प्रत्यासन्नगृहेष्वपि कृत प्रसह्य स्मरातुरो लोक॥[2]

यद्यपि प्रियाभिलाषिणी इस नायिका को देखकर अन्य लोग कामातुर हो जाते हैं। किन्तु नायिका किसी की चिन्ता न करते हुये अपने प्रिय को ही देखने के लिए खडी रहती है।

कुट्टनीमतकार और देव के उक्त वर्णन पर दृष्टिपात करने से पता चल जाता है कि देव ने अपनी नायिका का वर्णन कुछ अन्य उपकरणो के साथ प्रस्तुत किया है। कुट्टनीमतकार का वर्णन लोगो के कामातुर होने से यह व्यंजित कर देता है कि वहाँ नायिका की स्थिति का चित्रण केवल वासनात्मक दृष्टि से अकित किया गया है, जब कि देव की नायिका के हृदय मे प्रिय के प्रति अपार प्रेम की निष्ठा ध्वनित होती है। तभी तो मोहन का रूप हृदय पर चढने पर उसे न तो भोजन ही अच्छा लगता है न भूषण ही। क्षण-क्षण मे अत्यन्त कमजोर हो जाती है। विरह की व्यथा अकथनीय होने के कारण सखियो से भी कुछ नही कहती। गुडियो के खेल को भी भूलकर बार-बार दरवाजे पर आकर अपनी प्रेमाभिलाषा का परिचय देती है। हाँ इस दृष्टि से दोनो मे समानता अवश्य है कि जिस प्रकार कुट्टनीमतकार की नायिका

१. देव ग्रन्थावली—रसविलास—पृ० २२३
२. कुट्टनीमतकाव्यम्—श्लोक ८७३

दरवाजे पर खड़ी होकर प्रिय के प्रति अपनी अभिलाषा का परिचय देती है उसी प्रकार देव की नायिका भी दरवाजे पर आवागमन से प्रेमपूर्ण स्थिति को प्रकट करती है। लेकिन इतनी सी भाव की समानता से यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि देव के इस प्रसंग पर कुट्टनीमत का प्रभाव है। वल्कि सच वात तो यह है कि देन का यह पद अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

पद्माकर की मानवती नायिका की अभिलाषा भी अवकोकनीन है। यथा-

पियआगम तें अगमनहि करि वैठी तिय मान।
कव धौं आइ मनाइ है यहै रही धरि ध्यान ॥[1]

प्रियतम जैसे ही घर में आया कि नायिका मान कर वैठी। लेकिन जव उपेक्षित होकर प्रिय चला गया तो वह नायिका वार-वार उसका स्मरण करती है और चाहती है कि प्रिय आकर उसे मनाएँ, तव वह सहज ही अपना मान त्याग कर सकती है।

अमरुशतक का नायक भी प्रिया के द्वारा जब उपेक्षित होकर चला जाता है तो वहाँ भी नायिका इसी प्रकार पश्चाताप करती है–

चरणपतनप्रत्याख्यान प्रसाद पराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्ते रूपा परुषी कृते।
व्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनार्पित हस्तया
नयन सलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निपातिता ॥[2]

नायक प्रिया के पास आया और उसने नायिका की मनुहार करने के लिए जैसे ही नायिका के चरणों की ओर झुकना चाहा कि प्रिया ने रोक दिया तथा नायक के आने पर प्रसन्न भी नहीं हुई और उसे धूर्त कहकर अपमानित भी किया, परिणामस्वरूप क्रोध से जव नायक चला गया तव नायिका की उसासें चलने लगीं उसने अपना हाथ स्तनों पर रख लिया, आँसू से भरी हुई दृष्टि सखियां पर डालकर यह भाव प्रकट किया कि अव किसी भी प्रकार प्रिय आ जाएगा तो अव वह उसका तिरस्कार नहीं करेगी। वल्कि अभिलाषापूर्वक प्रिय की मनुहार को स्वीकार कर लेगी।

पद्माकर की उक्त-उक्ति पर निःसन्देह अमरुशतक का प्रभाव है क्योंकि जिस प्रकार अमरुशतक का नायक प्रिया की क्रोधपूर्ण वातों से क्षुव्ध होकर चला जाता है, उसी प्रकार पद्माकर का नायक भी अपनी प्रिया के द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर पुनः वाहर को ही लौट जाता है। अमरुशतक ने नायिका के क्रोध की समस्त वातों

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द ६५५
२. अमरुशतक–श्लोक २०

को कथन द्वारा स्पष्ट कर दिया है और नायिका की अभिलाषा को भी अन्त में व्य-जना से प्रकट किया है। पद्माकर ने यद्यपि कथन के माध्यम से नायिका की उक्तियों को प्रस्तुत नहीं किया किन्तु वे सभी उक्तियाँ स्वत ही प्रिय के आगमन और प्रिय के मान द्वारा ही ध्वनित हो जाती हैं। योजना की दृष्टि से दोनो ही कवियो के वर्णन सुन्दर भावो से पूर्ण हैं।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि इस युग के कवियो की दृष्टि मानव मन के उन सूक्ष्म तन्तुओ पर केन्द्रित हुई जिनका अपार सौन्दर्य हृदय की अतल गहराई मे छिपा हुआ है। अत अभिलाषा का चित्रण इसी रूप मे हुआ। तभी तो हृदय की ललक का चित्रण अभिलाषा के वर्णनो में अतीव रुचि के सहित किया गया। नायक-नायिका की एक दूसरे के प्रेम रग मे निमग्न होने पर मिलन की उत्कट आकांक्षा, एक बार मिलन के पश्चात् पुन मिलन की ईप्सा, प्रवासी प्रिय की प्रतीक्षा में सम्मि-लित हृदय की अभिलाषा इत्यादि वर्णनो को अत्यन्त गम्भीरता के साथ प्रस्तुत करना ही इन कवियो की मुख्य विशेषता है। इनमे कुछ वर्णन तो ऐसे हैं जिन पर संस्कृत काव्यो का पूर्ण प्रभाव है किन्तु कुछ ऐसे हैं जो संस्कृत काव्यो से प्रभावित न होते हुए भी उनकी एकाग्र उक्ति संस्कृत-काव्यो से समानता लिए हुए है।

चिन्ता

जब हृदय मे प्रिय-दर्शन अथवा प्रिय-प्राप्ति की इच्छा सदैव विद्यमान होती है, वहाँ चिन्ता भाव का जन्म होता है। अथवा दूसरे शब्दों मे यह भी कहा जा सकता है कि जब हित अप्राप्यावस्था मे रहता है, उस समय प्रिय का ध्यान उसी की प्राप्ति के लिए केन्द्रित रहता है वही भाव चिन्ता का है। चिन्ता का प्रादुर्भाव पूर्वराग में दर्शन तथा प्रवास मे अभिलाषा आदि के द्वारा होता है। संस्कृत कवियों ने जिस प्रकार चिन्ता को अनेक रूपो मे अभिव्यक्त किया उसी प्रकार रीतिकालीन कवियो ने भी चिन्ता भाव को अत्यन्त सुरुचि के साथ ग्रहण किया है।

बिहारी की नायिका का प्रिय परदेश जाना चाहता है, नायिका को इससे अत्यन्त दु ख है, क्योंकि प्रिय के जाने के पश्चात् उसके प्राणों का रहना असम्भव ही है। नायिका इसी बात को अपनी सखी से कहती है—

रहिहैं चचल प्रान ए, कहि कौन की अगोट
ललन चलन की चितधरी, कल न पलनु की ओट ॥[1]

अमरुशतक मे इसी भाव को दूसरे ढग से व्यक्त किया है, वहाँ नायिका प्रिय के समक्ष स्वय अपनी मनोदशा को व्यक्त कर देती है। यथा—

याता किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते।
नो कार्या नितरा कृशासि कथयत्येव सबाष्पे मयि।

---

१ बिहारी-रत्नाकर-दोहा ३९५

लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्टवा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥[1]

प्रियतम परदेश जाने वाला है। अतः अपनी नायिका की चिन्तित अवस्था देखकर कहता है कि "हे सुन्दरी परदेश जाने वाले लोग क्या अपने स्वजनों से मिलते नहीं हैं ? इसलिए तुम मेरी चिन्ता मत करो।" किन्तु प्रिय जब चला जायेगा तो उसे समझाने वाला भी तो कोई नहीं है तथा प्रिय के विना उसका रहेगा भी कौन ? अतः इन सभी बातों को सोचकर नायिका ने अपने उमड़ते हुए आँसुओं को तो किसी प्रकार आँखों में रोक कर ही पी लिया किन्तु नैराश्यपूर्ण दृष्टि से नायक की ओर निहारकर तथा उन्मन हँसी हँसकर प्रिय के समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी कि उसके विना वह जीवित नही रह सकती।

विहारी और अमरु दोनों कवियों की नायिकायें अपने-अपने प्रियतम के परदेश-गमन पर अत्यन्त व्यथित हैं। भाव की दृष्टि से अमरुशतक और विहारी सतसई के ये प्रसंग साम्य लिए हुए हैं, किन्तु विहारी की नायिका अपनी सखी से अपनी मनोदशा व्यक्त करती है, जब कि अमरुशतक का नायक प्रिया की समस्त मनोदशाओं का अपने मित्र के समक्षवर्णन करता है। अब और भी स्पष्ट हो जाता है कि विहारी की नायिका अपनी मनोदशा सखी के सामने स्पष्ट करने में अपनी उक्ति का सहारा लेती है किन्तु अमरु की नायिका अपनी मनोदशा का स्पष्टीकरण अपनी शुष्क हँसी और जड़ दृष्टि से कर देती है। यहाँ यह बात प्रकट हो जाती है कि विहारी ने अमरुशतक से भाव तो लिया किन्तु अपनी उद्भावना के द्वारा उसे अपना बना लिया। भाव की उत्कृष्टता दोनो वर्णनों में निहित है।

मतिराम की नायिका की चिन्ता भी दर्शनीय है—

वीति गई जुग जाम निसा 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई,
जानति हौं कहुँ और तिया से रहे रस में रमिकै रसराई।
सोचति सेज परी यों नवेली सहेली सों जाति न बात सुनाई,
चंद चढ़यो उदियाचल पर मुखचंद पै आनि चढ़ी पियराई ॥[2]

प्रिय के रात्रि में न आने पर नायिका के हृदय में अपार व्यथा उत्पन्न हो जाती है। उसे अपने प्रिय के दूसरी जगह रमने का सन्देह होने लगता है जो कि स्वाभाविक है। उसका प्रिय अन्य स्थान पर रमण करने के कारण ही तो चन्द्रमा के निकलने पर भी घर नही आता। एक बात और भी घटित होती है कि एक ओर तो उदियाचल पर चन्द्र निकला और दूसरी ओर प्रिय विना प्यारी का मुख फीका पड़ गया तथा प्रिया, प्रिय की इस कृति के विपय में विचार करती हुई अपनी सेज पर पड़ी व्याकुल होती रहती है।

---

१. अमरुशतक श्लोक—१०
२. मतिराम सतसई—रसराज—छन्द १५०

अपने प्रिय नन्द के न आने पर अश्वघोष की नायिका सुन्दरी भी तो इसी प्रकार की शंका कुशंकाओं में डूबने लगती है, कि प्रिय अन्यत्र कहीं विहार कर रहा होगा। यथा—

सा खेदसंस्विन्नललाटकेन निश्वासनिष्पीतविशेषकेण।
चिन्ताचलाक्षेण मुखेन तस्थौ भर्तारमन्यत्र विशङ्कमाना॥[1]

प्रस्तुत श्लोक की अवतारणा अश्वघोष द्वारा विरचित सौन्दरनन्द महाकाव्य से की गई है जिस समय सिद्धार्थ का चचेरा भाई 'नन्द' सन्यास लेकर चला जाता है, उस समय नन्द की पत्नी की अवस्था अतीव ही कारणिक हो जाती है। प्रिय के वियोग में नन्द की पत्नी के ललाट पर प्रस्वेद उत्पन्न हो जाता है। प्रिय की चिन्ता में उसकी निश्वासें चलने लगती हैं। उसे अपने प्रिय के प्रति उसके अत्यन्त रमने की शंका हो जाती है। अतएव चिन्ता के कारण उसकी आँखें भी स्थिर हो जाती हैं।

अपने-अपने प्रिय के समीप न होने के कारण उक्त दोनों नायिकायें चिन्तित हैं तथा दोनों ही के मन में शंका कुशंका आने लगती हैं कि प्रियतम अन्य किसी स्थान पर रमण कर रहा होगा। परिणामस्वरूप मतिराम की नायिका तो इसी चिन्ता के कारण चन्द्र का मुख देखकर पीली पड़ जाती है और अश्वघोष की नायिका के मस्तक पर चिन्ता से प्रस्वेद उत्पन्न होकर श्वासों का चलना प्रारम्भ हो जाता है। अतः दोनों कवियों के वर्णनों में यहाँ बहुत कुछ समानता दीख पड़ती है, जिससे यह संभावना की जा सकती है कि मतिराम का प्रेरणा स्रोत यही श्लोक हो। मतिराम का वर्णन अपनी जगह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र-सा प्रतीत होता है।

वसन्त का मौसम जहाँ संयोगी नायक-नायिकाओं को प्रसन्न बनाता है वहाँ विरहियों को तो अत्यन्त ही कष्ट पहुँचाता है। देव की नायिका भी प्रिय के अभाव में वसन्त से भयभीत है। यथा—

कुछ और उपाय करें जनि री इतने दुख सो सुख सो मरिवी।
फिरि अन्तक से बिन कन्त बसन्त सुआवन जीवतुहि जरिबी।
बन बौरत बौरि सी जाऊँगी देव सुनै धुनि कोकिल की डरिबी।
जल डोलि हैं और अबीर भरी सुहहा कहि और कहा करिबी॥[2]

वसन्त का आगमन है, उसे देखकर विरहिणी नायिका को ऐसा प्रतीत होता है जैसे बिना कन्त के वह जीवित ही वसन्त की शीतल ज्वाला में जल जायेगी। इससे बचने का अन्य कोई उपाय भी तो नहीं। इसके अतिरिक्त यदि वह वन में

---

१ सौन्दरनन्द—अश्वघोष—सर्ग—छ, श्लोक ४

२ देव ग्रन्थावली—रस विलास—सातवाँ विलास—छन्द ४

जायेगी तो निश्चित है कि आम्र मंजरी से तो अवश्य ही पागल बनकर कोकिल के स्वर से अत्यन्त भयभीत हो जायेगी । अतः अब ऐसी व्यथा को किस प्रकार शान्त किया जाय तथा अबीर भरना भी व्यर्थ ही प्रतीत हो रहा है । इसी प्रकार वसन्त ऋतु में गीत-गोविन्दकार की नायिका राधा भी अपने प्रिय के वियोग में दुखी है । यथा—

वसन्ते वासन्ती कुसुमसुकुमारैरवयवै-
र्भ्रमन्तीं कान्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणाम् ।
अमन्दं कन्दर्पज्वरजनितचिन्ताकुलतया
चलद्बाधां राधां सरसमिद मूचे सहचरी ॥[1]

वसन्त ऋतु आ गई है । माधवी पुष्पों से भी अधिक मृदुल शरीर वाली राधिका यद्यपि शून्यवन में अनेक विधियों से कृष्ण का अनुसरण करती है किन्तु प्रिय कृष्ण का मिलन न होने के कारण उसके शरीर में कामज्वर जनित चिन्ता उत्पन्न होती है । अतः वह कृष्ण से किस प्रकार मिलन प्राप्त कर सके ? जब वह यही सोचती हुई बैठी रहती है तो उसकी सखी आकर उससे परिहास करती हुई कुछ कहती है ।

देव के प्रसंग की उक्त नायिका वसन्त और उसके उपकरणों को देख प्रिय के अभाव में अत्यन्त ही दुःखित है । यहाँ गीत-गोविन्द की नायिका भी उसी के तुल्य प्रिय मिलन के अभाव से व्यथित है । देव के प्रसंग में एक ओर नायिका कोकिल और आम्र मंजरी के द्वारा अत्यन्त ही व्यथित होती है, वहीं दूसरी ओर गीत-गोविन्द-कार ने अपनी नायिका को व्यथित करने के लिए यद्यपि इन उपकरणों को चुना नहीं है; किन्तु वसन्त शब्द से इन सभी प्राकृतिक उपकरणों की गंध तो श्लोक से स्वतः ही व्यंजित होती ही है । अतः दोनो प्रसंगों में पर्याप्त विभेद विद्यमान है क्योंकि गीत-गोविन्दकार ने तो इस प्रसंग की योजना कृष्ण और गोपियों को विहार के निमित्त की, जबकि देव ने जान बूझकर विरह की दशा चिन्ता को स्पष्ट करने के लिए प्रसंग योजना की । भाषा और भाव की दृष्टि से दोनों कवियों के प्रसंग उत्कृष्ट कोटि के हैं ।

प्रथम संयोग के पश्चात् जब नायिका को प्रिय का वियोग प्राप्त होता है तो उसकी स्थिति और भी अधिक दयनीय बन जाती है । इसका वर्णन पद्माकर ने अपनी नायिका के कथन द्वारा कितने मार्मिक ढंग से किया है । यथा—

रैन दिन नैनन तें बहतो न नीर कहा
करतो अनंग को उमग सरचाप तो ।
कहै पद्माकर पराग राग बागन तें
कैसे तन ताय ताय तारायति तापतो ।

---

१. गीत-गोविन्द—प्रथम सर्ग—श्लोक २ पृ० ७

कीवे जो वियोग तौ संयोगहू न देतो दई
देतौ जो सयोग तौ वियोगहू न थापतो।
होतो जौ न प्रथम सजोग सुख वैसो वह
ऐसो अब यो न तौ वियोग दुख व्यापतो ॥[1]

अमर-शतक की नायिका भी अपने प्रिय का स्मरण कर वियोग मे इसी प्रकार दुखी है। उसकी अवस्था को देखकर उसकी सखी कहती है कि—

अन्योन्यग्रथितारुणाङ्गुलि नमत्पाणिद्वयस्योपरि
न्यस्योच्छ्वासविकम्पिताधरदल निर्वेदशून्य मुखम्।
आमीलन्नयनान्तवान्तसलिल श्लाघ्यस्य निन्द्यस्यवा
कस्येद दृढसौहृद प्रतिदिन दीन त्वया स्मर्यते ॥[2]

अर्थात् वियोगिनी नायिका अपने हाथो पर मुख को रखकर लम्बी-लम्बी श्वासें ले रही है, अपनी आंखो को बन्द कर कोरो से आंसू ढुलवाती है। इस प्रकार उसकी प्रिय वियोग में अत्यन्त ही दयनीय स्थिति बन गई है। तब उसकी सखी पूँछती है कि स्मरण आने वाला वह कौन सा व्यक्ति है जिसके लिए नायिका इतनी व्याकुल हो रही है। नायिका की इस वियोग की स्थिति से यह बात पूर्ण रूप से यहाँ व्यजित हो जाती है कि उसने नायक के साथ प्रथम सयोग अवश्य ही प्राप्त किया है तभी तो प्रिय वियोग मे उसकी ऐसी दयनीय स्थिति बन जाती है।

पद्माकर और अमरु के भावो मे कुछ समानता है। प्रिय के प्रथम सयोग के पश्चात् प्रिय-वियोग मे पद्माकर की नायिका के समान ही अमरुशतक की नायिका भी अपनी आखो से अश्रु-वर्षा करती रहती है तथा जिस प्रकार पद्माकर की नायिका की प्रिय वियोग के कारण अत्यन्त हीन दशा हो गई है, वही स्थिति अमरु की नायिका की भी है। किन्तु अमरु ने तो नायिका की निश्वास योजना की है, जबकि पद्माकर ने उसे विरह की अग्नि के द्वारा व्यजित कर दिया है। इसके अतिरिक्त पद्माकर ने कुछ अधिक विस्तार के साथ भाव की योजना की है। नायिका के ऊपर अनग द्वारा उन्मत्त होकर शर सधान, तारापति द्वारा तप्त करना, तथा दई से प्रार्थना कि "वियोग देना था तो सयोग न देता और सयोग देना था तो वियोग न देता"-ये समस्त योजनायें उत्कट भावपूर्ण स्थिति का स्वतन्त्र निदर्शन करती हैं तथा कवि ने आक्षेप के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं, क्योकि नायिका के जीवन मे ये समस्त बातें कवि के कथनानुसार प्रथम सयोग के माधुर्य की प्राप्ति के पश्चात् ही उत्पन्न होती हैं। अत पद्माकर के उस कवित्त पर अमरुशतक का प्रभाव है तो सही किन्तु

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द ६८७

२ अमरु-शतक—श्लोक १३९

अत्यल्प मात्रा में ही वह दृष्टिगत हो रहा है। कवि पद्माकर की यहाँ उक्ति और वातावरण की योजना सर्वथा स्वतन्त्र ही प्रतीत होती है। भावात्मक योजना की दृष्टि से कवि ने जिस शब्दावली का चयन किया है वह भी अत्यन्त मार्दव लिए हुए है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतिकालीन काव्यों में विरह की स्थिति चिन्ता को लेकर स्वतन्त्रता के साथ व्यंजित हुई है। इसमें कहीं-कही तो संस्कृत काव्यों से भाव-सामग्री ली गई, किन्तु कहीं-कहीं प्रसंग-योजना इतनी सुन्दर बनी है कि इस युग के कवियों की मौलिकता का स्वतः ही आभास हो जाता है। संस्कृत काव्यों से यदि इन्होंने प्रसग लिए भी हैं तो उन्हे ज्यों का त्यों न रखकर उनमें अपनी भावानुभूति का पूर्ण सामंजस्य कर दिया है जिसके कारण यह नही कहा जा सकता कि पूर्ववर्ती कवियों की घिसी-पिटी लकीर को इन कवियों ने अपनाया है।

स्मृति

प्रिय के साथ की गई लीलाएँ, प्रेम पूर्ण वार्ता एवं अन्य बहुत सी घटनाएँ वियोग में रह रहकर स्मरण होती हैं। वियोगी प्रेमी के हृदय की यह दशा स्मृति के नाम से अभिहित की जाती है। इस दशा के अन्तर्गत वियोगी एकनिष्ठ भाव से प्रेमी का चिन्तन करता है। संस्कृत काव्यों में स्मृति का अनेक रूपों में चित्रण हुआ है। रीतिकालीन कवियों ने भी वियोग जन्य दशाओं के क्रम में स्मृति-दशा का बड़ी ही तन्मयता के साथ निरूपण किया है।

बिहारी की नायिका राधा अपने प्रिय कृष्ण के प्रवासी हो जाने पर बार-बार स्मरण करती हुई प्रतीक्षित दृष्टि से प्रिय के साथ क्रीड़ा किये गये स्थान यमुना के किनारे का अवलोकन करती है। यथा——

स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीरु।
अँसुवनु करति तरौंस कौ खिनकु खरौ हौ नीरु ॥[1]

प्रिय-प्रवास जन्य स्मरण की स्थिति अत्यन्त ही विचित्र होती है तथा उस समय उन स्थानों पर अनायास ही दृष्टि लग जाती है जहाँ पर कि प्रिय के साथ अनेक क्रीड़ाओं को रचा जाता है। यही तो कारण है कि अपने प्रिय के अभाव मे राधा निरन्तर यमुना का किनारा बड़ी उत्सुकता के साथ देखती हुई अपने आँसुओं को इतना गिराती है कि यमुना के तट का जल भी क्षण भर के लिए खारा हो जाता है।

अश्वघोष की नायिका भी अपने प्रिय की इसी प्रकार निरन्तर प्रतीक्षा करती है और उस (प्रिय) के अभाव में उसकी स्थिति भी द्रष्टव्य है——

---

१. बिहारी रत्नाकर--छन्द २९२

सा भर्तुरभ्यागमनप्रतीक्षा गवाक्षमाक्रम्य पयोधराभ्याम् ।
द्वारोन्मुखी हर्म्यतलाल्ललम्बे मुखेन तिर्यङ्नतकुण्डलेन ॥[1]

जब सुन्दरी का प्रियतम नन्द उसे अकेली छोड़कर बुद्ध के उपदेशानुसार साधना-मार्ग पर बढ़ जाता है तो सुन्दरी अत्यन्त ही व्यथित हो जाती है किन्तु फिर भी उसे पति के आगमन की आशा लगी रहती है तभी तो जिस द्वार से प्रियतम चला गया है, उसी द्वार पर अपनी दृष्टि केन्द्रित किए रहती है किन्तु प्रिय का स्मरण करते हुए उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि महल के गवाक्ष पर अपने स्तनों को स्थापित कर वह महल पर से लटकने लगती है जिससे उसके कानो मे पडे कुण्डल भी तिरछे हो जाते हैं ।

जिस प्रकार बिहारी की उक्त नायिका अपने प्रिय का स्मरण करती हुई यमुना के तीर को देखती है उसी प्रकार अश्वघोष की नायिका भी अपने प्रिय का स्मरण द्वार की ओर मुख किए करती है किन्तु अश्वघोष ने अपने वर्णन मे नायिका के आभूषणो के तिरछे होने की स्थिति को भी अभिव्यक्त कर दिया है तथा नायिका के शरीर के लटकने से शिथिलता का स्पष्टीकरण दिया है, जो कि विरह में स्वाभाविक ढग से उत्पन्न हो जाती है जबकि बिहारी ने प्रतीक्षाकुल राधा के स्मरण जन्य आँसुओ से यमुना-तट के तीर की क्षण भर के लिए खारे होने की बात कहकर प्रसग में भावाभिव्यक्ति को सुन्दर मोड दिया । बिहारी के प्रसग पर अश्वघोष का अल्प मात्रा मे प्रभाव अवश्य आभासित हो रहा है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि बिहारी के उक्त प्रसग पर अश्वघोष के प्रस्तुत वर्णन का पूर्ण प्रभाव है ।

वियोग की स्थिति में नायिका के हृदय मे स्मृतिजन्य पुलक से जिस प्रस्वेद की उत्पत्ति होती है, वह भी यहाँ दर्शनीय है, क्योंकि नायिका जैसे ही अपने प्रियतम के प्रेम का स्मरण करती है कि उसके शरीर मे सात्त्विक-भाव प्रस्वेद का प्रादुर्भाव होना प्रारम्भ हो जाता है—यथा—

इंगुर सो मिलि जात पसीजत अग सुरगन चोलनि पै ।
कवि देव कछु मुलकै पुलकै झलकै उर प्रेम कपोलनि पै ।
हँसि बोलै न बात विलोकै न आलिन झोकै नही दृग डोलनि पै ।
ललकै अँखियाँ पलकै न लगै झलकै जलबूँद कपोलनि पै ॥[2]

प्रिय के स्मरण से नायिका के शरीर में प्रस्वेद उत्पन्न हो जाता है जिससे उसके शरीर के समस्त अग प्रत्यग इतने पसीजकर भीग जाते हैं कि चोली पर चढा सुन्दर रग भी नायिका के इंगुर से मिल जाता है। इसके अतिरिक्त नायिका के कपोलो

१ सौंदरनन्द—सर्ग ६, श्लोक २

२ देव ग्रन्थावली—रसविलास—सातवाँ विलास—छन्द ४१

को देखने से ही उसके प्रेम का पूर्ण रूप से पता चल जाता है। ऐसी अवस्था में वह न तो सखियों से ही बोल पाती है तथा न उसके नेत्रों में झुकाव ही प्रतीत होता है। प्रिय के प्रति उसकी ऐसी ललक हो गई है कि उसके नेत्रों की पलकें भी नहीं लगती तथा कपोलों के ऊपर नेत्र-प्रान्त से झरी हुई प्रिय स्मरण जन्य आंसू की बूंदें भी निरन्तर दिखाई पड़ती हैं।

कुट्टनीमत की नायिका भी अपने प्रिय के वियोग में प्रिय की स्मृति से शरीर में प्रस्वेद का अनुभव करती है--

> गात्रशिरासंविभ्य प्रस्वेद जलं विनिर्ययौ तस्याः ।
> अन्तर्ज्वलितमनोभवहव्यभुजा दह्यमानेभ्यः ॥[1]

कुट्टनीमतकार की नायिका प्रिय को निहारकर उसकी प्राप्ति के लिए इतनी लालायित हो जाती है कि वह अन्दर ही अन्दर कामाग्नि के प्रज्ज्वलित होने से अपने अंगों की शिरा-सन्धियों में प्रस्वेद का अनुभव करती है।

प्रिय प्राप्ति की चिन्ता में देव की नायिका के शरीर में जिस प्रकार सात्विक भावों की स्थिति में प्रस्वेद प्रारम्भ होता है उसी प्रकार कुट्टनीमतकार की नायिका भी अपनी अंग-यष्टि मे प्रस्वेद का अनुभव करती है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि देव के उक्त प्रसंग पर कुट्टनीमत का प्रभाव है। कुट्टनीमत ने तो केवल प्रिय के प्रति नायिका की इच्छा प्रकट कर केवल प्रस्वेद का ही अकन किया, जबकि देव ने अंगों का पसीजना, चोली के सुरंग का ईंगुर से मिलना, सखियों से भी नायिका का हँसकर न बोल सकना, इत्यादि स्थितियों द्वारा कल्पना का विस्तार अधिक से अधिक करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि देव के वर्णन में चमत्कार स्वतः ही विराजित हो गया है।

इस प्रकार विप्रलम्भ शृंगार के अंतर्गत प्रेमियों के स्मरण का जो स्वरूप संस्कृत-काव्यों की परम्परा से प्रारम्भ हुआ, वह रीतिकाल में स्वतन्त्र योजना के साथ अंकित किया गया। रीतिकालीन-काव्यो के ऐसे प्रसंग यद्यपि अपने पूर्ववर्ती काव्यों से प्रभावित तो रहे किन्तु इनके कवियों ने अनुवाद अथवा ज्यों की त्यों भावानुरूप शब्द योजना न अपनाकर स्वयं की कल्पनानुसार अभिव्यक्ति देकर वर्णनों को अधिक से अधिक आकर्षक बना दिया।

गुण-कथन

वियोग में प्रिय के गुण एवं विशेषताओं के बार-बार कथन से हृदय व्यथित होता है। संस्कृत काव्यों के अन्तर्गत प्रेमी के अभाव में दूसरे प्रेमी का पूर्वराग, तथा प्रवास के समय गुण-कथन बड़ी ही मार्मिकता के साथ व्यंजित है। हिन्दी के आदि-

---

१. कुट्टनीमत--श्लोक २६९

काल और भक्तिकाल मे पृथ्वीराज रासो, विद्यापति की पदावली, जायसीकृत पद्मावत, सूरसागर इत्यादि काव्यो मे वियोग की विभिन्न दशाओ के साथ ही 'गुण-कथन' की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति है। रीतिकाल मे तो इसके बड़े ही सजीव चित्र प्राप्त होते हैं, जिनमे एक प्रेमी के किसी भी गुण विशेष पर रीझकर दूसरा बार-बार स्मरण करता है। यही कारण है कि प्रिय की छवि नयनो मे बसने पर निरन्तर उसका गुणगान स्वाभाविक होता है। इस दृष्टि से मतिराम की नायिका के कथन की विवृत्ति यहाँ द्रष्टव्य है—

मोरपखा 'मतिराम' किरीट मैं, कठ बनी बनमाल सुहाई,
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुण्डल डोलन मे छबि छाई।
लोचन लाल बिसाल बिलोचनि, को न बिलोकि भयो बस माई ?
या मुख की मधुराई कहा कहौं ? मीठी लगै अँखियन लुनाई ॥[1]

गीत-गोविन्द की नायिका भी इसी प्रकार कई इन्द्र-धनुषो के तुल्य सुदर चित्र वर्ण वाले, मयूर-पखो से अपने केशो को आवेष्ठित करने वाले एव मेघमण्डल के समान श्रीकृष्ण को चाहती है। यथा—

चन्द्रचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम् ।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमदिरसुवेशम् ॥[2]

मतिराम और गीत-गोविन्द के उक्त प्रसगों की तुलना करने पर पता चल जाता है कि सम्भवतया मतिराम का उक्त प्रसग गीत-गोविन्द के इस प्रसग की प्रेरणा से ही अकित किया गया है। गीत-गोविन्दकार ने कृष्ण के स्वरूप की केवल मयूर पख द्वारा केशो के अवेष्ठित करने की तथा मेघ-मण्डल तुल्य शरीर कान्ति इन दो विशेषताओं को ही अकित किया जबकि मतिराम ने मयूर पख के मुकुट के साथ मोहन के कठ मे पड़ी बनमाला, मनोहर-मुसकान, आन्दोलित कुण्डलों की छवि, वशीभूत करने वाले विशाल लोचन तथा मुख के माधुय इन समस्त विशेषताओं को ले लिया। यहाँ केवल मतिराम से गीत-गोविन्द द्वारा व्यक्त कृष्ण की शारीरिक शोभा के लिए मेघ-मण्डल का उपमान रह गया। अत दोनो प्रसगो मे थोड़ा सा अतर होते हुए भी यह बात स्पष्ट है कि दोनो नायिकाएँ अपने-अपने प्रिय की रूप माधुरी पर रीझी हैं तथा प्रिय की उसी रूप-माधुरी का बार-बार स्मरण करती हैं।

पद्माकर की नायिका की स्पर्श-जन्य सुखद अनुभूति का गुणकथन द्रष्टव्य है—

हौंहू गई जान वित आइगो कहूँ तें कान्ह
आन बनितानहूँ को झपकि झलो गयो।

---

१ मतिराम ग्रन्थावली—सम्पा० श्रीकृष्ण बिहारी शुक्ल—रसराज—छन्द ८१० (प्र० स०)

२. गीत-गोविन्द—द्वितीय सर्ग—गुंजर राग ५—ध्रुव० स० २, पृ० १३

कहै पद्माकर अनंग की उमंगन सो
अंग अंग मेरे भरि नेह की नलो गयो ।
ठानि व्रज ठाकुर ठगोरिन की ठेला ठेल
मेला के मँझार हित हेला कै भलो गयो
छाँह छ्वै छला छ्वै छिगुनी छ्वै छराछोरन छ्वै
छलिया छवीलो छैल छाती छ्वै चलो गयो ॥[1]

यहाँ नायिका प्रथम तो नायक के रूप सौन्दर्य पर आकर्षित है, क्योंकि इसी कारण उसके अंग प्रत्यंग मे स्नेह का नल उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रिय के रूप को देखकर प्रस्वेद रूप में सात्विक-भावों की उत्पत्ति होती है। आकर्षण का दूसरा कारण है प्रिय के द्वारा कुशलता पूर्वक विभिन्न अंगो के क्रमशः स्पर्श के उपरान्त छाती का स्पर्श। अतः मेले से लौटने पर इन समस्त वातों को प्रिय के गुण रूप में स्मरण कर उसे एक ओर तो सुख होता है, प्रिय के अभाव में दूसरी ओर उसे विह्वलता भी अधिक होती है। यही कारण है कि नायिका प्रिय को 'छलिया' कहकर उसके एक विशेष गुण का कथन अपनी सखी के सामने करती है।

इसी प्रकार प्रिय के कर-स्पर्श से आर्याकार की नायिका की अनुभूति भी लक्षणीय है—

उत्तमवनितैकगतिः करीव सरसीपयः सखीधैर्यम् ।
आस्कन्दितोरुणा त्वं हस्तेनैव स्पृशन्हरसि ॥[2]

भाव यह है कि जिस प्रकार हाथी धीरे से अपनी लम्बी सूँड़ द्वारा सरसी का जल हर लेता है, उसी प्रकार अपने हाथ से नायक ने नायिका का इस चतुराई से स्पर्श किया है कि नायिका धैर्य रहित हो जाती है अर्थात् उसके हृदय मे प्रेम का बीजारोपण हो जाता है। उसी स्पर्शजन्य अनुभूति के बार-बार गुणकथन से नायिका की जो व्यथित अवस्था हो जाती है, उसका वर्णन नायिका की सखी नायक के समक्ष करती है।

पद्माकर और आर्याकार गोवर्धनाचार्य के प्रसंगों से स्पष्ट है कि दोनों नायक हाथ के स्पर्श द्वारा अपनी-अपनी नायिका के धैर्य का हरण करते हैं। यहाँ स्पर्श की दृष्टि से दोनो प्रसंग समान हैं। दोनों ही स्थानों पर प्रिय के स्पर्श द्वारा शारीरिक परिवर्तन विद्यमान है। दोनों नायिकाओं के हृदय में प्रिय-स्पर्श से सात्विक भाव तथा हेला इत्यादि हाव उत्पन्न होते हैं। अन्तर इतना है कि पद्माकर ने तो उन सभी की अभिव्यक्ति दे दी है जबकि आर्याकार ने उसे केवल व्यंजित कर दिया है। पद्माकर

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द ६५७, पृ० २१७

२. आर्यासप्तशती—श्लोक १३८

ने यहाँ भावनाओं की दौड और उसके अनुरूप शब्द-चयन मे बड़ा ही कौशल प्रकट किया है ।

अन्त मे रीतिकालीन और संस्कृत कवियों की इन गुण-कथन विषयक स्थितियो से ज्ञात होता है कि प्रिय और प्रिया का परस्पर आकर्षण किसी गुण-विशेष से ही होता है । गुण क्या होना चाहिए ? यह प्रेमीजनो की मानसिक स्थिति पर निर्भर है कि वे किसे गुण की संज्ञा दें ? क्योंकि जो वस्तु एक के लिए गुण हो सकती है, वही दूसरे के लिए अवगुण भी सिद्ध हो सकती है । पूर्व से ही काव्यों मे प्रचलित गुण-कथन के अधिकतर वर्णन ऐसे हैं जिनमे प्रिय के रूप लावण्य का वर्णन प्रस्तुत कर उसे ही एकमात्र आकर्षण का स्वरूप कहा गया है । संस्कृत और हिन्दी के काव्यों मे इस प्रकार के अनेक वर्णन प्राप्त हो सकते हैं । ऐसे प्रसगो को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गुण-कथन की स्थितियाँ परिस्थिति, वातावरण के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं ।

उद्वेग

विरह मे उद्वेग के अन्तर्गत किसी भी अनर्थ की अतिशयता मे मन अत्यन्त ही उद्विग्न बना रहता है । इसके भी बहुत से रूप हो सकते हैं । कही तो कामोद्वेग जनित ताप मे विरही की दशा उन्मादित व्यक्तियो के तुल्य हो जाती है और कही विरह मे समस्त शीतल वस्तुएँ प्रतीप बन जाती हैं । हिन्दी के कवियो ने भी उद्वेग के अनेक चित्रो को प्रस्तुत किया है क्योंकि विरह के साथ साथ उद्वेग के चित्र का समस्त काव्यों मे आना स्वाभाविक हो ही जाता है ।

उद्वेग मे सुखकारक वस्तुएँ भी दुखदायी लगने लगती हैं । बिहारी की नायिका की यह उद्विग्नावस्था दर्शनीय है–

> औरैं भाँति भएऽब ए चौसरु चदनु चदु ।
> पति बिनु अति पारत बिपति मारतु मारुतु मदु ।।[1]

प्रिय की उपस्थिति मे जो चौसर, चन्दन तथा चन्द्रमा आनन्द प्रदायक थे वही अब वियोग मे नायिका को अत्यन्त ही कष्ट देते हैं । यहाँ तक कि पति के बिना नायिका के ऊपर मन्द मन्द चलने वाला मारुत भी अधिक विपत्ति डालता है ।

नैषधकाव्य मे भी दमयन्ती को प्रिय के अभाव मे चन्द्रमा और मलयपवन दोनों से जो उद्विग्नता प्राप्त होती है, वह दृष्टव्य है–

> विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक् पवन सन दक्षिण ।
> सुमनसो नमयन्नटनो धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिण ।।[2]

---

१ बिहारी रत्नाकर–छन्द ८६

२. नैषधचरितम् – सर्ग ४, श्लोक ९६, पृष्ठ १०१

कवि श्रीहर्ष ने यहाँ दमयन्ती के कथन द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण किया है चन्द्रमा जब उदित होता है, उस समय मलियानिल किसी भी प्रकार विरही जनों को सुख प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि वह भी कामदेव के पुष्पमय धनुष को झुकाने वाली एक भुजा का स्वरूप है। अतएव फिर विरही जन ऐसी मलियानिल से चांदनी में किस प्रकार सुख प्राप्त कर सकते है क्योंकि विरह में एक तो चन्द्रमा की चांदनी ही ज्वाला फेंकने में कम नही दूसरे वह मलियानिल से मिलकर तो और भी अधिक दाहक बन जाती है।

बिहारी के उक्त वर्णन पर श्रीहर्ष के प्रस्तुत प्रसंग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है क्योंकि दोनों कवियों की नायिकायें चन्द्रमा और मन्द-मन्द पवन के झकोरों से व्यथित हो रही है। बिहारी ने चन्दन और चन्द के साथ ही चौसर को लेकर प्रसंग में कुछ अधिक उन्मेष के साथ विरहाग्नि की असहनीयता को स्पष्ट किया है। श्रीहर्ष की उक्ति में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि मलियानिल कामदेव की भुजा होती है जबकि बिहारी ने उसे मन्द-मन्द मारुत और उसके द्वारा मारा जाना कहकर उसी उक्ति को व्यंजित कर दिया है। तात्पर्य यह है कि दोनों के प्रसग आपस में बहुत कुछ समानता लेने के कारण यह प्रतीत होता है, कि बिहारी ने श्रीहर्ष से भाव ग्रहण किया और अपनी भाषा और अपने भावों में उसे सुन्दर ढंग के साथ स्पष्ट कर दिया।

मतिराम की नायिका को भी विरहाग्नि अति बेचैन बनाये हुए है। उद्वेग-विरह की स्थिति यहाँ भी दर्शनीय है–

चाहि तुम्हें "मतिराम" रसाल, परी तिय के तन मे पियराई।
काम के तीच्छन तीरन सों, भरि भीर तुनीर भयो हियराई।
तेरे बिलोकिबे को उतकंठित, कंठलौ आय रह्यौ जियराई;
नेक परे न मनोज के ओजनि, सेज सरोजनि में सियराई ॥[1]

नैषधकार श्रीहर्ष ने इसी भाव को दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है–

स्मर हुविर्भुजि बोधयति स्म सा विरह पाण्डुतया निजशुद्धताम्।

\+ \+ \+ \+

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्ययोर्मलिनतामभजद्भुजयोर्भृशम् ॥[2]

नायिका अपने प्रिय के विरह मे विकल थी। कामदेव रूपी अग्नि के द्वारा

---

१. मतिराम ग्रन्थावली – रसराज – छन्द ४१३

२. नैषधचरितम् – चतुर्थ सर्ग – श्लोक ३१, ३४, पृष्ठ ८७
(सम्पा० : पं० ऋषीश्वरनाथ भट्ट, संस्करण – १९४९)

वह जलकर भी विरहजनित पाण्डुता के द्वारा अपने प्रेम की पवित्रता का परिचय प्रदान करती हुई प्रतीत होती है। तथा वह अपनी काम पीडा से सन्तप्त हृदय की अग्नि को शान्त करने के लिये मृणाल स्थापित करती है। किन्तु वह मृणाल भी विरहाग्नि से मलीन पड जाता है। मलीन पड़े मृणाल के विषय मे कवि की कल्पना भी कितनी सशक्त है, वह सोचता है कि मृणाल को पराजित करने वाली दमयन्ती की भुजाओ को निहारकर ही मानो मृणाल लज्जित होकर मलीन पड़ा है।

यहाँ जिस प्रकार उक्त प्रसग मे मतिराम ने अपने नायक के वियोग की अग्नि मे जलने के कारण नायिका को पियराई का निदर्शन किया है उसी प्रकार श्रीहर्ष ने भी प्रिय की वियोगाग्नि के द्वारा झुलसी हुई अपनी नायिका की पाण्डता का वर्णन किया है। मतिराम की नायिका को कमलों की शय्या भी कामाग्नि शान्त करने के लिए बनाई जाती है किन्तु काम के ओज के कारण उसके शरीर में थोडी सी भी शान्ति नही होती है। उधर श्रीहर्ष ने नायिका के लिए शय्या का तो निर्माण नहीं किया, किन्तु ताप शान्ति के लिए कमलनाल के पत्तो को उसके हृदय पर जरूर स्थापित किया है, यहाँ भी नायिका की विरहाग्नि की कमी नहीं है, अन॰ कमलिनी के गीले पत्ते भी मुरझा जाते हैं। यहा तक भाव में बहुत कुछ समानता है। मतिराम ने भाव मे श्रीहर्ष की अपेक्षा अधिक मे अधिक चुटीलापन दिया है। तभी तो पियराई का कारण काम के 'तीछन" तीरन द्वारा बीच जाने मे नायिका के शरीर को ही 'तुनीर' की कल्पना की है। दूसरी प्रिय दर्शन के लिए उत्कण्ठित होने पर 'कठलों जिय' आने की कल्पना भी कवि की अपनी और नवीन है। अन्त मे कवि द्वारा व्यक्त किए गए 'मैन के ओजनि' से 'सरोजनि की' 'सेज मे' 'नैक' भी 'सिसराई' न आना-इन भावो मे अभिव्यक्ति एव साथ ही उक्ति वैचित्र्य का भी सुन्दर योग है।

देव ने अपनी विरहिणी के उद्वेग को समय विशेष मे व्यक्त किया है—

घोर लगे घर बाहरिहू डर नूत पलास लगे पजरे से।
रंगिन भीनिन भौन लगे लखि रंग मही रन रंग ढरे से॥[1]

वसन्त का महीना सब जगह अपनी नवीन आभा लेकर आ गया है। समस्त स्थानो पर वसन्त की आभा व्याप्त हो गयी है। प्रिय के बिना विरहिणी नायिका को नूतन पलाश भी प्रज्वलित अग्नि के समान प्रतीत हो रहे हैं। वसन्त का यह प्राकृतिक वैभव पृथ्वी पर ढलते हुए सुन्दर रग के समान दिखाई दे रहा है। विरहिणी को ये सभी मनोरम उपकरण इतने भयभीत बना देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वह घर के बाहर भी नही निकल सकती है। इसी दृष्टि से कालिदास का निम्नलिखित

---

१ देव ग्रन्थावली – रस विलास – सातवाँ विलास – छन्द ६२, पृष्ठ २२८

वर्णन भी दर्शनीय है–

आदौ प्रवह्निसदृशैर्मरुताऽवधूतैः
सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः
सद्यो वसन्त समयेन समाचितेयं ।[1]

आशय यह है वसन्त ऋतु में पलाश का वन पवन के झकोरों द्वारा हिल रहा है एवं पुष्पों के बोझ से झुका यह समस्त वन प्रदेश सर्वत्र प्रज्ज्वलित अग्नि के समान दिखाई देता है।

कवि देव के उक्त प्रसंग की प्रेरणा निस्सन्देह कालिदास का प्रस्तुत श्लोक रहा होगा, क्योंकि जहाँ देव ने पलाशों के खिलने मे अग्नि जैसे जलने की कल्पना की है; वही कालिदास की कल्पना भी इस सम्वन्ध में पूर्ण रूप से देव की कल्पना से मेल खाती है किन्तु वस्तु वर्णन की दृष्टि दोनों कवियों की पूर्ण रूप से भिन्न-भिन्न ही है। कालिदास ने वर्णन को केवल वसन्त का उल्लेख करने के लिए ही रखा है जबकि देव ने *वसन्त का वर्णन तो अप्रत्यक्ष रूप से किया ही है, साथ ही उसे विरह* की पृष्ठभूमि का निर्माण करने के लिए ही मुख्य रूप से चुना है। अतः वस्तु-वर्णन की दृष्टि से दोनों कवियों के अवतरण भिन्न-भिन्न है किन्तु मूल रूप से दोनों में समानता है।

उद्वेग की स्थिति पद्माकर के वर्णन में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है। यथा–

घर न सुहात न सुहात वन वाहिरहू,
वाग न सुहात जे खुस्याल खुसवोही सों।
कहै पद्माकर घनेरे घन धाम त्यों ही,
चन्द न सुहात चाँदनी हूँ जगजोही सों।
साँझ न सुहात न सुहात दिनमाँझ कछू,
व्यापी यह वात सो वखानत हौं तोही सो।
रातहू सुहात न सुहात परभात आली,
जव मन लागि जात काहू निरमोही सों ॥[2]

विरहावस्था में नायिका को न तो घर ही सुहाता है और न वाहर का वातावरण ही। उसे सौरभ युक्त उद्यान, घनेर घन धाम, प्रातःकाल अथवा रात्रि, चन्द्र-चाँदनी, संध्या अथवा दिन का मध्य इनमें से कुछ भी अच्छा नही लगता है।

नैषधकार श्रीहर्ष की नायिका की स्थिति भी बड़ी ही विचित्र हो जाती है–

---

१. कालिदास ग्रन्थावली – ऋतुसंहार – सर्ग ६, श्लोक २१, पृष्ठ ४७६
२. पद्माकर ग्रन्थावली – जगद्विनोद – छन्द ६६१, पृष्ठ २१८

अहो अहोभिर्ममहिमा हिमागमऽप्यभिप्रपेदे प्रतिता स्मरार्दिनाम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसा भ । विभावरीभिर्विभरावभूविरे ॥[1]

प्रिय के प्रति ललक होने से वह काम द्वारा अत्यन्त ही सन्तप्त हो गई तभी शीतकाल में भी उसे दिन लम्बे प्रतीत होने लगे और ग्रीष्म के समय रात्रियाँ बडी प्रतीत होने लगती हैं। यह बात वास्तव मे है विलक्षण ही, किन्तु शीतकाल मे दिनो का बडा होना, एव ग्रीष्म मे रात्रियो के बडे होने की बात कहकर कवि ने इस बात को स्पष्ट किया है कि प्रिय के विरह मे दिन अथवा रात्रि इनमे से दमयन्ती को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।

नैषधकार श्रीहर्ष और पद्माकर के प्रसगो मे थोडा सा साम्य अवश्य है किन्तु इस आधार पर पद्माकर के प्रसग का न तो इसे प्रेरणा स्रोत कहा जा सकता है और न ही यह कहा जा सकता है कि पद्माकर के प्रसग पर नैषधकार के प्रस्तुत प्रसग का अल्पमात्र भी प्रभाव है बल्कि पद्माकर की इस श्लोक की अपेक्षा भावना-पूर्ण रूप से मौलिक है कवि की शब्द, भाव, चित्र आदि की योजना भी तो पूर्ण रूपेण स्वतत्र है

इस प्रकार उद्वेग के जो चित्र रीतिकाल मे प्रस्तुत हुए हैं उनमे से कुछ तो स्वतत्र योजना के साथ तैयार किए गए हैं किन्तु कुछ ऐसे भी रहे जिनमें सस्कृत काव्य को यत्र तत्र भावों को समेटा गया। उनके अतिरिक्त कुछ भाव चित्र ऐसे भी आये हैं जो रीतिकाल मे ग्रहण तो किए गए किन्तु जिन्हें आकृति मे पूर्ण रूप मे परिवर्तित कर दिया गया है।

प्रलाप

विरह मे जब विरही प्रेमी वाच्यावाच्य के भेद को विस्मृतकर देता है तथा सम्भ्रमित होकर अन्तर्गत बातें कहना प्रारम्भ कर देता है तो उस समय की अवस्था प्रलाप कहलाती है। सस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अश्वघोष रचित सौन्दरनन्द मे नन्द और सुन्दरी का एक दूसरे से वियुक्त होकर पश्चाताप, श्रीहर्ष रचित महाकाव्य, नैषध के अन्तर्गत नल के पूर्वानुराग मे दमयन्ती का प्रलाप तथा अमरुशतक और आर्यासप्तशती के अन्तर्गत अनेक नायक-नायिकाओं का एक दूसरे के अभाव मे क्रन्दन इत्यादि प्रसग बडे ही मार्मिक बन पडे हैं। हिन्दी के रीतिकाल मे भी परम्परानुसार प्रेमी प्रेमिकाओं की एक दूसरे के अभाव मे प्रलाप की अवस्था बडी ही कारुणिक रूप मे चित्रित है।

बिहारी की विरहिणी का प्रलाप तो बडा ही विलक्षण बन गया है क्योंकि जो कुछ वह वियोग मे कहती है, उस समस्त को उसका पालतू तोता सबके सामने

---

१ नैषधचरितम् – प्रथम सर्ग – श्लोक ४१

कह देता है । यथा–

कहे जु वचन वियोगिनी विरह विकल विललाय ।
किए न किहि अँसुआ-सहित सुवाति बोल सुनाय ।।[1]

नायिका की सखी नायक के समक्ष नायिका के विरह का उल्लेख करती हुई कहती है कि वियोग की व्यथा मे नायिका जिन शब्दो को विरह में विलाप करती हुई बार-बार पुकारती है उन्हें जब सुवा दुहराता तो उसके शब्दो को सुनकर आँखें अनायास ही आँसुओं से भीग जाती है ।

बिहारी ने इस भाव को अमरुशतक मे संयोग शृगार के लिए प्रयुक्त किए गए प्रस्तुत श्लोक से ग्रहण किया है । यथा--

दंपत्योर्निशिजल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच–
स्तत्प्रातर्गुरुसंनिधौ निगदतः...... .. .. ।।[2]

स्पष्ट हो जाता है कि रात के समय पति-पत्नी ने बिना किसी सिलसिले से जो रसचर्चा की, उसको घर के तोते ने सुना और उसने उसी पति-पत्नी की चर्चा को प्रातःकाल गुरुजनों के समीप उच्च स्वर से दुहराना प्रारम्भ कर दिया ।

अमरुशतक के अन्तर्गत यद्यपि प्रस्तुत श्लोक को संयोग शृगार के निमित्त प्रयुक्त किया गया है, किन्तु यहाँ जिस प्रकार दम्पति की रात मे की गई रसचर्चा को पालतू शुक गुरुजनो के समक्ष सुनाता है, उसी प्रकार बिहारी के उक्त दोहे मे भी शुक द्वारा विरहिणी के विरह-विलाप-जन्य व्यथित शब्दो को सभी के समक्ष दुहराने की कल्पना का समावेश किया गया है । दोनों प्रसगो मे जहाँ तक शुक की कल्पना का प्रश्न है, वह समान है किन्तु विषय वस्तु दोनों कवियों की भिन्न है ।

देव ने जिस प्रलाप की अवस्था का चित्रण किया है वह भी बड़ा ही सुरुचि-पूर्ण बना है, जिसे पढ़कर हँसी भी आती है और अत्यन्त आनन्द भी प्राप्त होता है–

कान्हमई बृषभानु सुता भई प्रीति नई उनई जिय जैसी ।
जान को देव बिकानी सी डोलै लगै गुरलोगन देखि अनैसी ।
ज्यों-ज्यों सखी बहरावति बातनि त्यो-त्यो बकै वह बावरी ऐसी ।
राधिका प्यारी हमारी सौ तू कहि कालिहकी बेनु बजाई मैं कैसी ।।[3]

नायिका अपने प्रिय के वियोग मे इतनी उन्मत्त हो जाती है कि वह स्वयं भी कृष्णमय ही बन जाती है, वह 'बिकानी सी' घूमती रहती है । यह देखकर गुरु-जनों को अनिष्ट की शंका होने लगी । सखियाँ उसे जैसे-जैसे बातो द्वारा बहलाना चाहती हैं, वैसे-वैसे वह पागलो के समान प्रलाप करती हुई स्वयं को कृष्ण समझकर

१. बिहारी रत्नाकर – छन्द ५३७
२. अमरुशतक – श्लोक १६
३. देव ग्रन्थावली – रसविलास – सातवां विलास – छन्द संख्या ७०

प्रश्न करती है कि कल उसने कैसी बाँसुरी बजाई थी ।

देव ने इस भाव को गीत-गोविन्द से ही ग्रहण किया है जैसा कि निम्न लिखित भाव से स्पष्ट हो जाता है—

मुहुरवलोकितमण्डनलीला ।
मधुरिपुरहमिति भावनशीला ।। नाथ हरे०।।[1]

राधा की सखी कृष्ण के सम्मुख राधा की विरह की स्थिति के विषय मे बतलाती है कि अपने प्रिय कृष्ण के अनुराग के कारण कृष्ण का ही वेष धारण कर पुन पुन अपने आभूषणो की शोभा का अवलोकन करती है तथा इस प्रकार स्वय के स्वरूप मे ही कृष्ण की कल्पना करती है ।

निस्सन्देह देव के उक्त प्रसग की कल्पना का प्रेरणा स्रोत गीत गोविन्द का यही श्लोक बना होगा तथा यही से भाव लेकर अपने कवित्त के अन्तगत भाव पूण विशाल धरातल की सजना की । गीत-गोविन्द ने तो केवल राधा को कृष्णमई दिखाकर ही सन्तोष कर लिया, जबकि देव ने भाव को नायिका के नवीन प्रीत जन्य वियोग मे अनुस्यूत कर दिया, जिससे नायिका का बिकानी सी डोलना, सखी के बहलाने से भी पगली के समान बकना एव स्वय को कृष्ण मानकर वशी की ध्वनि के विषय मे स्वय से ही प्रश्न करना, इत्यादि मे भावों को पूर्ण उन्मेष के साथ ग्रहण किया है ।

पद्माकर के काव्य मे उस प्रलाप की स्थिति को अत्यन्त ही सुन्दर ढग से व्यक्त किया गया है । प्रिय वियोग मे राधा पागलो के समान भ्रमित होकर घूमती है, उस समय का चित्र दर्शनीय है—

काहे कान्ह काहून त्यो कहति कदबन को
भेंटि परिरम्भन मे छाकिबो करति है ।
साँवरे जू रावरे यों बिरह बिकानी बाल
बन बन बावरी लौं बाकिबो करति है ।।[2]

तुलनात्मक दृष्टि से अब गीत-गोविन्द का भाव भी दशनीय है क्योंकि वहाँ भी नायिका की प्रिय वियोग मे यही स्थिति है जैसी कि पद्माकर की नायिका की । यथा—

श्लिष्यति चुम्बति जलधरकल्पम् ।
हरिरुपगत इति तिमिरमनल्पम् ।।[3] नाथ हरे० ।।६।।

---

१ गीत गोविन्द – सर्ग ६, – अष्टपदी – १२, श्लोक ४ पृ० ३३
२ पद्माकर – जगद्विनोद – छन्द ६६४
३, गीत-गोविन्द – सर्ग ६, अष्टपदी-१२ पद – स० ६, पृ० ३३

यहाँ भी राधिका इतनी भ्रमित हो गई है कि प्रिय को अन्धकार में ही समझ लेती है, यही कारण है कि वह अन्धकार के आने पर प्रियागमन समझकर उसका आलिङ्गन और चुम्बन करती है।

पद्‌माकर और गीत-गोविन्द दोनों ही कवियो की राधाये अपने-अपने मोहन के लिए आतुर हैं। गीत-गोविन्द की प्रिया प्रिय के आगमन से भ्रमित होकर प्रिय के श्यामल रंग सदृश अन्धकार का आलिङ्गन करती है दूसरी ओर पद्‌माकर की नायिका प्रिय के स्वरूप में कदम्बवृक्ष को ही स्वीकार कर उसका आलिङ्गन कर, सुख का अनुभव करती है। अतः भावों में तो समानता है किन्तु वस्तु योजना दोनों कवियों की पूर्ण रूप से भिन्न है, तभी तो पद्‌माकर ने राधा के विषय में 'बाकिवो फिरत है' कहकर प्रलाप की योजना की है।

परीक्षण के उपरान्त यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रीतिकालीन काव्यो में प्रिय विरह से उत्पन्न प्रलाप के अनेक प्रसंग प्राप्त होते है जिनमें नायक-नायिकाओं के द्वारा विरह व्यथा में कहे गये मर्म कथन कही तो हृदय बींध देते हैं और कही हृदय को प्रफुल्लित कर अतीव आनन्द युक्त बना देते हैं। प्रलाप के प्रसंग अधिकतर ऐसे हैं जो संस्कृत काव्यों से अल्प भाव के रूप में कही से भी ग्रहण किए गए है किन्तु कवियों ने उन्हे भाव और विषय के अनुरूप बना दिया है।

उन्माद

प्रिय के विछोह में एक अवस्था ऐसी आती है जबकि प्रेमी किसी करणीय अथवा अकरणीय-कृत्य को नही पहचान पाता, एवं वह उन्मत्त के समान कार्य करने लगता है, वहाँ वियोग की उन्माद अवस्था का जन्म होता है। संस्कृत काव्यों में प्रिय-अभाव मे वियोगी की उन्माद-अवस्था के अनेक चित्र निरूपित है। रीतिकालीन काव्यों में भी अन्य अवस्थाओं की भाँति उन्माद की अवस्था के अनेक चित्र विद्यमान हैं।

प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई नायिका की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय बन गई है। एक तो प्रिय का वियोग दूसरे प्रिय के आने की भी अवधि समाप्त होती हुई देखकर प्रिया की जो दशा होती है, वह दृष्टव्य है—

> ही औरे सी ह्वै गई टरी औधि कै नाम।
> दूजै कै डारी खरी, बौरी बौरैं आम॥[1]

बसन्त ऋतु मे पुष्पित आम्र मंजरियो को देखकर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रिय के लिए उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है। भर्तृहरि का चित्र भी इस सम्बन्ध में अवलोकनीय है—

---

१. बिहारी रत्नाकर – छन्द ५१०

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते ।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥[1]

आम्र का बौर, एवं केसर जिनकी सुगन्धि से समस्त दिक्प्रान्त मूर्च्छित है, और मीठे मीठे मकरन्द का पान कर जिसमें उन्मत्त भ्रमर घूम रहे हैं, ऐसे ऋतुराज में सभी को उत्कण्ठा होनी स्वाभाविक होती है।

भर्तृहरि ने इस कथन को एक सामान्य उक्ति के रूप में लिया है जो कि वसन्त में उत्कण्ठित समस्त प्रेमी जनों की ओर इङ्गित करके लिखी गई है अतः बिहारी की विरहिणी नायिका का वसन्त में आम्र मंजरी देखकर पागल होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वसन्त में प्रिय आगमन की अवधि का टल जाना भी तो अत्यन्त विषम होता है, जिसे कि प्रेमीजन प्रायः कठिनाई से ही सहन कर पाते हैं। यही तो एकमात्र कारण है बिहारी की नायिका का उन्मत्त हो उठने का। वैसे बिहारी का यह कथन स्वतन्त्र ही है। केवल कुछ अल्प समानता की दृष्टि से ही भर्तृहरि का प्रसंग यहाँ ग्रहण किया है।

मतिराम की नायिका भी दर्शनीय है जोकि मनमोहन के रूप पर अत्यधिक आकर्षित हो पागल बन उठी है—

रोय उठै, छिन हँसि उठै, छिन उठि चलै रिसाय।
बौरी करी बनाय कै, रूप ठगौरी लाय॥[2]

इसी के समान गीत-गोविन्दकार जयदेव की नायिका का चित्र भी निहारने योग्य है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्।
विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम्॥[3]

यहाँ भी नायिका अपने प्रिय के अभाव में प्रिय का ध्यान कर फिर कल्पना द्वारा मूर्ति को सामने देख कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी दुःखी होती है, कभी बिलखती है और कभी संताप करना त्याग देती है।

मतिराम के उक्त प्रसंग पर निस्सदेह गीत-गोविन्द का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है क्योंकि प्रिय के अभाव में जो स्थिति मतिराम की नायिका की है वही स्थिति गीत-गोविन्द की नायिका की है तभी तो दोनों ही प्रसंगों में नायिका अपने प्रिय के अभाव में हँसती-रोती और बिलखती है। मतिराम ने दूसरी पंक्ति की उद्भावना स्वतन्त्र रूप में की है तथा "रूपठगौरी" लाकर नायिका को उन्मत्त कर देने की

---

१ शृंगार शतक—श्लोक ३७

२ मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ४२०

३ गीत गोविन्द—अष्टपदी—पद सं० ७, सर्ग ४

कल्पना निस्सन्देह अत्यन्त ही शिष्ट बन पड़ी है।

कवि देव का वर्णन भी इसी प्रकार का है। उसमें भी गीत-गोविन्द के उक्त प्रसंग से बहुत कुछ समानता का भाव विद्यमान है। देव की विरहिणी भी अपने प्रिय के विरह में उन्मत्त बन चुकी है--

> आक बाक बकति बिथा में बूड़ि-बूड़ि जात
>
> पी की सुधि आये जी की सुधि खोइ खोइ देति।
>
> कोह भरी कूहकि बिमोह भरी मोहि मोहि
>
> छोह भरी छिति पै करोइ रोइ रोइ देति।
>
> बड़ी बड़ी बारि लगि बड़ी बड़ी आँखिन तें
>
> बड़े बड़े अँसुवा हिए में मोइ मोइ देति।
>
> बाल बिन बालम बिकल बैठी बार बार
>
> बपु में बिषम बीज बोइ बोइ देति।[1]

प्रिय के वियोग मे उन्माद-अवस्था को प्राप्त नायिका की मानसिक दशा तथा उसके बाह्य कार्य-कलापों का वर्णन यहाँ बड़े ही सूक्ष्म रूप में अंकित किया गया है।

उपर्युक्त छन्दों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि देव ने गीत-गोविन्द से ही प्रभाव ग्रहण कर इस छन्द की सर्जना की है। गीत-गोविन्द के उक्त अवतरण में विरह-दग्ध नायिका का कभी हँसना, कभी रोना, कभी बिलखना, तथा कभी सन्ताप करना इन स्थितियों को संक्षेप में प्रकट कर दिया गया है किन्तु देव ने विरह की इन समस्त स्थितियों का मानो विश्लेषण कर अपने काव्य में विस्तार सहित अंकन किया है। देव के वर्णन में विश्लेषण के साथ ही भाव के अनुरूप शब्दों की गढ़न अत्यन्त सुन्दर है। तभी तो "आक बाक बकना", "कोह भरी कहकि", "अँसुवा हिये में मोय मोय" इत्यादि में शब्दों की योजना कितनी सुन्दर बन गई है।

इन कतिपय वर्णनों से ज्ञात होता है कि उन्माद की अवस्था में विरही की मानसिक-दशा का ही मुख्य रूप मे निरूपण होता है। यह उन्माद की अवस्था, वियोगी की चरमावस्था को प्राप्त व्यथा और उससे बिगड़े हुए मानसिक सन्तुलन के खराब होने पर ही उत्पन्न होती है। संस्कृत के काव्यों के अन्तर्गत नायक नायिका के परस्पर अभाव के कारण ही अत्यन्त विह्वल होने पर ही इस दशा का प्रादुर्भाव हुआ है। रीतिकालीन कवियों ने इन्हीं चित्रों को अपनी स्वतन्त्र कल्पना द्वारा व्यक्त कर दिया है।

व्याधि

प्रिय की दूरी से जब मानसिक एवं शारीरिक व्याधियाँ प्रचुर मात्रा में बढ़

---

१. देव ग्रन्थावली—रसविलास—सातवाँ विलास—छन्द ८०, २३१

जाती है, तब सज्वर अथवा व्याधि नामक अवस्था उत्पन्न हो जाती है। संस्कृत काव्यों में काम की इस दशा को अधिकतर कवियों ने बहुत ही बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। रीतिकालीन कवियों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव से उसमे अतिशयोक्ति का ही आधार लिया है।

बिहारी का प्रस्तुत वर्णन अत्यन्त ही ऊहात्मक है। नायिका की सपत्नियाँ भी किसी स्वार्थवश नायिका की प्राण रक्षा के उपचार मे लगी हुई हैं—

प्रिय-प्राननु की पातरू, करति जतन अति आपु।
जाकी दुसह दसा पर्‌यौ, सौतिनहूँ संतापु॥[1]

नायक ज्येष्ठा को अधिक चाहता है क्योंकि वही नायक की प्राण रक्षा कर सकती है अर्थात् ज्येष्ठा के मरने पर नायक भी जीवित नही रह सकता। यही सोच-कर ज्येष्ठा-विरहिणी के प्राणों की रक्षा करने के लिए अन्य कनिष्ठा नायिकाएँ ईर्ष्या द्वेष भुलाकर यत्न कर रही हैं। ज्येष्ठा नायिका की विरह व्यथा का निस्सन्देह यहाँ उत्कृष्ट वर्णन है।

उसी से मिलता हुआ आर्यासप्तशती का भाव भी दर्शनीय है—

प्रियविरहानि महाया सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभि।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्या प्राणा गृहभङ्गभीताभि॥[2]

सपत्नियाँ जो कि नायिका की स्वाभाविक रूप से शत्रु हैं वे भी प्रिय के विरह में अत्यन्त दुःसह अवस्था वाली नायिका की रक्षा इसलिए कर रही हैं कि इसके समाप्त होने पर नायक भी अपने प्राण त्याग देगा और घर नष्ट हो जायगा।

बिहारी के उक्त दोहे पर आर्याकार गोवर्धनाचार्य के इस वर्णन का केवल प्रभाव ही नही बल्कि बिहारी ने आर्याकार से इस भाव को ज्यों-का-त्यों लेकर अपने दोहे में रख दिया है क्योंकि जिस प्रकार आर्याकार की विरह व्याधि से पीड़ित नायिका की रक्षा सपत्नियाँ करती हैं उसी प्रकार बिहारी की नायिका की भी रक्षा सपत्नियाँ ही करती हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ओर ही सपत्नियों का विरहिणी की रक्षा का हेतु नायक की प्राण रक्षा है क्योंकि नायिका के प्राण त्याग देने पर यदि नायक भी प्राण त्याग दे तो सपत्नियाँ फिर किसके सहारे जीवित रहेंगी। दोनों वर्णन ऊहात्मक होते हुए भी विरह व्याधि की व्यञ्जना की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं।

मतिराम की भी विरह-व्याधि को प्राप्त नायिका दर्शनीय है। उसके हृदय में भी अनङ्ग की अग्नि अत्यन्त ही तीव्र है—

---

१ बिहारी रत्नाकर—छन्द २७८

२ आर्यासप्तशती-श्लोक ३८०, पृ० २०९

देखि परै नहिं दूबरी, सुनियो स्याम सुजान ।
जान परै परजंक मैं, अंग आँच अनुमान ॥[1]

नैपधकार श्रीहर्ष का यह प्रसंग भी तुलनीय है—

स्मरणेन निस्तक्ष्य वृथैव वाणैर्लावण्यशेषा कृशतामनायि ।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहातितेन ॥[2]

नल का दूत हंस नायिका दमयन्ती को प्रिय नल की विरह ज्वाला का संदेश देता है कि दमयन्ती के वियोग में कामदेव ने नल को बाणों से छेद कर अत्यन्त ही दुर्बल बना दिया है । इससे विरह में प्रेम के अधिक पनपने के कारण उसमें प्रेम का सौन्दर्य ही शेष रह जाता है ।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है विरहजन्य कृशता दोनों ही ओर है क्योंकि एक ओर तो मतिराम के प्रसंग में प्रिया प्रिय के विरह में अत्यन्त दुर्बल बन गई है और दूसरी ओर श्रीहर्ष के प्रसंग में नायक अत्यन्त दुर्बल बन गया है। यहाँ तक तो किसी प्रकार दोनों प्रसंगों को समान माना जा सकता है किन्तु मतिराम की शेष योजना स्वयं की है जैसे केवल अंगों में लगी हुई विरह की अग्नि से ही नायिका का अनुमान करना आदि । इसके अतिरिक्त एक ओर नायिका की विरह-ज्वाला का प्रदर्शन है तो दूसरी ओर नायक की । अतः इस दृष्टि से भी दोनों प्रसंगों में पर्याप्त वैषम्य है ।

विरह ताप को सहने में असमर्थ यह नायिका भी दर्शनीय है, जिसे पवन, चन्द्र आदि से भी पीड़ा होती है—

हाहा हौ करति मेरो कह्यो करू मेरी वीर
पवन अवन घमै धीर न धरति धाम ।
देव घनस्याम विनु जोवन दवा सों जरै
ग्रीपम मही सी हौ जरीये जाति आठौ जाम ।
आयो वैरी मधु वधु कीनो कौन व्याधिन को
काल मई कोकिला छपाकर न होत छाम ।
ताही को कँपाउ वस करे जिन वालमवे
रे जनि कँपावे मो करेजनि कुटिल काम ॥[3]

देव की यह नायिका अपनी सखी के सामने प्रिय वियोग में प्रलाप करती हुई अपनी व्याधि का बखान करती है । प्रिय के विना पृथ्वी पर दौड़ता हुआ पवन उसे

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ४२३
२. नैपधचरितम्—सर्ग ३, श्लोक १०९
३. देव ग्रन्थावली—रसविलास—सातवाँ विलास—छन्द ८३, पृष्ठ २३२

अधैर्यशील बना देता है। घनश्याम के बिना उसका यौवन दावाग्नि के समान जलता रहता है। मही के समान वह मानो ग्रीष्म से दिन-रात जलती रहती है। वसन्त ने आकर अनेक व्याधियों को उत्पन्न कर दिया है तभी तो कोकिला भी उसके लिए काल बनी हुई है। चन्द्र भी क्षीण नही होता है अर्थात् वह भी उसे जलाता ही है। इस प्रकार कुटिल काम उसे निरन्तर कम्पित करता रहता है।

यहाँ देव ने प्रिय के वियोग मे व्यथित करने वाले जिन उपकरणों का चयन किया है, वे लगभग सभी परम्परा से ही आये हैं। कन्त बिना वसन्त मे नायिका के दग्ध होने के अनेक चित्रों की कल्पना से संस्कृत के काव्य भरे पडे हैं। उदाहरणार्थ कालिदास के ऋतुसंहार के अन्तर्गत वसन्त के पवन के चलने से विरहियो का व्यथित होना बतलाया गया है, उसी प्रकार गीत-गोविन्दकार ने भी जहाँ विरहीजनो के वसन्त द्वारा व्यथित होने की कल्पना की है, वहीं चन्द्रमा तथा कोकिल द्वारा राधा और कृष्ण के विप्रलम्भ सम्बन्धी चित्रों मे विह्वल होने का वर्णन किया है।[1] नैषध-कार ने भी अपनी नायिका दमयन्ती को प्रिय-विरह में चन्द्र द्वारा तप्त दिखाया है। विरहिणी दमयन्ती को भी चन्द्र निरन्तर अपनी शीतल किरणो से जलाता रहता है। सखियाँ उसे समझाती हैं किन्तु दमयन्ती कहती है कि अनुभव को किसी भी प्रकार के आश्वासन द्वारा समाप्त नही किया जा सकता—

"ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुदेऽनुभव वचसा सखि ! लुम्पसि ।"[2]

इन समस्त बातों से स्पष्ट है कि देव ने वसन्त मे कोकिल और चन्द्रमा द्वारा वियोगी के व्यथित होने की कल्पना को परम्परा से उठाया है। फिर भी देव का पद-विन्यास-योजना अत्यन्त ही मार्मिक और स्वतन्त्र है।

इस प्रकार संस्कृत और रीतिकाल मे विरह की व्याधि नामक दशा के अनेक चित्रो की परिकल्पना की गई है। इन सभी के अन्तर्गत वियोगी प्रेमी के मस्तिष्क मे व्याप्त पीडा का ही विशद रूप मे चित्रण प्रस्तुत किया गया है। यह मानसिक दशा प्रवास मे अधिक पल्लवित होती है क्योंकि प्रिय का सामीप्य न रहने से वियोगी के शरीर और मस्तिष्क मे विरह ज्वाला इतनी बढ़ जाती है कि संयोग के समय सुख देने वाली वस्तुएँ दुखदायी बन जाती हैं। यही कारण है कि वसन्त के महीने मे जो चन्द्र और कोकिल तथा विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्प संयोगियों को जहाँ आनन्द प्रदान करते हैं, वही वियोगियों को व्यथित बना देते हैं। कवियो ने इसी दृष्टि से वियोग की अन्य व्यथाओ के साथ-साथ ही व्याधि का चित्रण प्रस्तुत किया है।

जडता

जब प्रिय के वियोग में अर्म का इतना आधिक्य हो जाता है कि वह सहन

---

१ गीत-गोविन्द—सर्ग २।३ तथा सर्ग ७।१३

२ नैषधचरितम्—सर्ग ४, श्लोक १०५, दूसरी पंक्ति, पृष्ठ १०३

नहीं होता उस समय प्रेमी किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है, उस समय उसकी स्थिति जड़वत् हो जाती है। यह स्थिति ही विरह की जड़ता अथवा मूर्च्छा के नाम से अभिहित की जाती है। इस समय विरही प्रिय का हृदय अन्य कुछ भी विचार नहीं कर पाता है। संस्कृत के महाकाव्यों एवं मुक्तक काव्यों में जड़ता अथवा मूर्च्छा के बड़े ही कारुणिक चित्रों की योजना है। उनमें कहीं-कहीं बड़ी ही ऊहात्मक कल्पना का आधार है। अतिशयोक्ति के आधार पर ही रीतिकाल में भी अनेक चित्रों का निरूपण है।

विरह में बिहारी की नायिका की स्थिति कितनी दयनीय हो गई है। उसे किसी प्रकार का बोध ही नहीं है।

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी चलि आहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न आहि ॥[1]

नायिका की जड़ता के विषय में सखी को सन्देह होता है कि नायिका की व्यथा समाप्त हो गई अथवा नायिका ही विरह में समाप्त हो गई क्योंकि अभी-अभी कुछ देर पूर्व तो वह कराह रही थी किन्तु अब तो उसके मुख से कराहट भी नहीं निकलती है।

कुट्टनीमतकार की नायिका को भी कामदेव ने इसी प्रकार बना दिया है—

स्तब्धतनुं सोत्कम्पां पुलकवतीं स्वेदिनीं निःश्वासाम्।[2]

प्रिय विरह में नायिका हरिलता भी निश्वास, प्रस्वेद एवं रोमांच युक्त तो है ही, साथ ही इतनी जड़ भी बन गई है कि वह किसी से बोल भी नहीं पाती।

उपर्युक्त दोनों प्रसंगों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि नायिका की जड़वत् स्थिति का अंकन तो दोनों स्थानों पर समान है, किन्तु कवियों की उद्भावनाएँ अलग-अलग हैं। बिहारी के प्रसंग में नायिका के मौन होने पर सखियों द्वारा सन्देह किया गया है कि नायिका की व्यथा समाप्त हो गई अथवा नायिका ही मर गई, जबकि कुट्टनीमतकार की नायिका कम्पन इत्यादि सात्त्विक भावों का अनुभव कर मौन होकर जड़वत् हो गई। बिहारी के प्रसंग में सन्देह की योजना से नायिका की विरहातिशयता की व्यंजना उत्कृष्ट रूप में हुई है।

मतिराम का भी प्रसंग अब दर्शनीय है जिसमें नायिका की स्थिति का अंकन किया गया है—

सूँघै न सुवास, रहै राग-रंग तैं उदास,
भूलि गई सुरति सकल खान-पान की;

---

१. बिहारी रत्नाकर—दोहा ५६
२. कुट्टनीमत काव्य—श्लोक २७१, प्रथम पंक्ति, पृष्ठ ५९

कवि "मतिराम" इकटक अनमिष नैन
बूझै न कहति बात समुझै न आन की।
थोडी सी हँसति मैं ठगौरी तैंने डारी स्याम,
बौरी कीनी गोरी तैं किसोरी वृषभान की,
तब तैं बिहारी ! वह भई है परवान की-सी
अब तैं निहारी रुचि मोर के पखान की ॥[1]

प्रिय विरह में नायिका को कुछ भी अच्छा नही लगता है। राग-रंग से उदास रहना, खान-पान की सुधि भूल जाना, एकटक अनमिष नैन से देखते रहना किसी से कोई बात न पूँछना और न ही किसी अन्य की बात समझना तथा पाषाण-वत् हो जाना--इन सभी की उत्पत्ति नायिका के हृदय मे प्रिय के सिर पर मोर पखो का मुकुट निहारकर ही हुई है।

अश्वघोष द्वारा रचित बुद्धचरित के नायक सिद्धार्थ के चले जाने पर वहाँ भी महल मे रहने वाली स्त्रियों की यही स्थिति हो जाती है--

हृतत्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नाश्रु जहुर्न शश्वसुर्न चेलुरासुर्लिखिता इवस्थिता ॥[2]

प्रिय-वियोग मे महल में रहने वाली स्त्रियो की मुख कान्ति पीली पड़ जाती है, दुःख के कारण उनकी चेतना भी समाप्त हो जाती है। वे इतनी जडवत् हो जाती हैं, कि न तो क्रन्दन ही कर पाती हैं, न आँसू ही बहा सकती हैं। वे श्वास भी नही ले रही हैं और न हिलती ही हैं। बस चित्र लिखित सी ही दृष्टिगत होती हैं।

उक्त प्रसग मे जिस प्रकार मतिराम की नायिका की स्थिति हो गई है उसी प्रकार यहाँ भी प्रिय-वियोग के कारण समस्त नायिकाएँ स्थिर हो गई हैं। मतिराम के प्रसग में नायिका पाषाणवत् स्थिर है तो यहाँ अश्वघोष के प्रसग मे भी "चेलु-रासुर्लिखिता इव स्थिता" से उसी स्थिति की व्यंजना मिलती है। यहाँ तक दोनो कवियों के प्रसग पूर्णरूप से समानता लिए हुए हैं, किन्तु मतिराम का स्पष्टीकरण का ढग बहुत ही सुन्दर बन पडा है। खान-पान की सुरति भूलना, "बूझै न कहति बात समुझै न आन की।" इत्यादि की उद्भावना स्वाभाविकता का धरातल स्पर्श करती हुई प्रतीत होती है। सम्भवतया मतिराम ने यहाँ से भाव-प्रेरणा ली हो और अपने काव्य मे उसे ही उन्मेष प्रदान कर दिया।

इसी प्रकार पद्माकर की विरह-विधुरा नायिका की जडता की पूर्ण स्थिति का वर्णन अवलोकनीय है--

---

१ मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ४२५, पृष्ठ ३४४

२. बुद्धचरित–सर्ग ८, श्लोक २५

ए हो नंदलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल
हाल ही चलौ तौ चलौ जोरी जुरि जायगी ।
कहै पद्माकर नही तौ ये झकोरें लगै
औरे लौं अचाका बिन घोरे घुरि जायगी ।
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन कों
देखत ही देखौ दामिनी लौ दुरि जायगी ।
तौ ही लगि चैन जौलौ चेतत न चन्दमुखी
चेतैगी कहूँ तौ चांदनी मे चुरि जायगी ॥[1]

यहाँ विरहिणी के व्याकुल पड़े रहने पर नंदलाल से चलकर जोड़ी जोड़ने के लिये सखी द्वारा प्रार्थना अन्यथा पवन के झकोरो से ओले के समान अचानक घुलना कपूर के बहुत से उपचारो के देखने पर कामिनी के समान दुरना, नायक को देखने तक नायिका के चैतन्य न होने तक की स्थिति एवं उसी में नायिका के सुख की कल्पना अन्यथा नायक के पहुँचने के पूर्व ही चेतना होने पर ऐसा न हो कि चाँदनी द्वारा चुर जाय-ये समस्त कल्पना मनोरम वातावरण का सृजन करती हैं ।

गीत-गोविन्द में भी नायिका की यही स्थिति है । वह भी जब तक प्रिय को नही देखेगी, तब तक उसे चैन नहीं मिल सकता । यहाँ भी सखी के माध्यम से नायिका की व्यथा व्यंजित है–

कन्दर्पज्वरसंज्वराकुलतनोराश्चर्यमस्याश्चिरं
चेतश्चन्दनचन्द्रमः कमलिनीचिन्तासु सन्ताम्यति ।
किन्तु क्षान्तिवशेन शीतलतनुं त्वामेकमेव प्रियं
ध्यायन्तीरहसि स्थिताकथमपि क्षीणाक्षणं प्राणिति ॥[2]

प्रिय के वियोगजन्य कामज्वर से नायिका इतनी व्यथित हो चुकी है कि यदि चन्दन, चन्द्र, कमलिनी का थोड़ा भी ध्यान करती है तो अत्यन्त विरहाग्नि से तप्त हो जाती है । वह शीतल शरीरधारी नायक कृष्ण का ही ध्यान करती हुई येन केन प्रकारेण जीवित है । ऐसी स्थिति में प्रिय द्वारा ही उसे शान्ति उपलब्ध हो सकती है ।

उपर्युक्त पद्माकर के प्रसग पर गीत-गोविन्द के इस श्लाक का प्रभाव स्पष्ट है । गीत-गोविन्द के अन्तर्गत विरहिणी चन्दन, चन्द्र और कमलिनी से जिस प्रकार सन्तप्त है, उसी प्रकार पद्माकर के प्रसंग में भी नायिका कपूर आदि के शीतल उपचारों द्वारा व्यथित हो सकती है । गीत-गोविन्द की नायिका को चांदनी अच्छी नही लगती है और उधर पद्माकर ने भी नायिका विषयक "चेतैगी कहूँ तौ चांदनी में

१. जगद्विनोद–छन्द ३७३, पृ० २२१ (पद्माकर ग्रन्थावली)
२. गीत-गोविन्द–चतुर्थ सर्ग–अष्टपदी ९ के नीचे श्लोक ३, पृ० २५

चुरि जायगी" के द्वारा इसी भाव को नायिका की जड़ अवस्था के माध्यम से कुछ और ही सुन्दर ढंग से प्रकट किया है। अतएव पद्माकर और गीत-गोविन्द में साम्य तो है किन्तु पद्माकर का प्रसंग जितना उत्कृष्ट बन पड़ा है उतना गीत-गोविन्द का नही है। गीत-गोविन्दकार ने जिस बात को सीधे ढंग से प्रस्तुत किया उसी की पद्माकर ने सुन्दर ढंग मे सृष्टि की है।

संक्षेप में अब यह कहा जा सकता है कि इन रीतिकालीन कवियो ने जड़ता के स्थलों पर अपने भावो की जो झड़ी लगाई उससे न केवल पाठक का बाह्य मन आर्द्र होता है बल्कि अन्तर्मन भी पूर्णरूप से सिक्त होकर सुन्दरता के उन्नत शिखर की कल्पना अनायास ही करने लगता है। इसका एकमात्र हेतु यह है कि इन लोगों की कल्पनाशक्ति अलौकिक प्रतिभा के सहित सामंजस्य शक्ति लेकर पुरोगामी हुई। यह बात तो स्थान-स्थान पर दुहरानी ही पड़ती है कि रीतिकालीन कवियों ने अपने पूर्ववर्ती संस्कृत कवियों से प्रसंग लेकर उन्हें उन्मेष प्रदान किया तभी तो पद्माकर जैसे प्रतिनिधि कवियो ने अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर अनेक माधुर्य पूर्ण चित्रों की सर्जना की।

मृति या मरण

जब प्रिय के विरह मे कोई प्रेमी इस स्थिति को प्राप्त हो जाता है कि वियोग में उसकी प्राण-रक्षा भी कठिन हो जाय,अर्थात् प्रिय वियोग की अग्नि को सहन करने मे असमर्थ होकर जब प्रेमी मरण की अवस्था को प्राप्त हो जाय, तब वियोग की मरण अथवा मृति अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। संस्कृत और हिन्दी में इसके वर्णन अत्यन्त अल्प मात्रा मे ही विद्यमान हैं। यदि कही हैं भी तो उनके ऊपर किसी कवि विशेष का प्रभाव नहीं है। अधिकतर विद्वानों न मरण के सम्बन्ध मे कहा है कि मरण को तो इस दशा में किसी प्रकार भी स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि मरण में तो फिर करुणात्मक स्थिति आ जाती है और करुणा आ जाने पर वह शृंगार न रहकर करुणा का ही चित्र होता है। अत शृंगार का अस्तित्व बनाये रखने के लिये मरण न लेकर मरणोचित स्थिति का चित्रण लेना ही स्वाभाविक प्रतीत होता है।

उक्त दृष्टि से परम्परा का निर्वाह करने के लिए बिहारी की वियोगिनी नायिका का प्रस्तुत चित्र दर्शनीय है—

गनती गनिबेतैं रहे छत हूँ अछत समान।
अलि, अब ए तिथि औम् लौं, परे रहौ तन प्रान॥[1]

सखी ने दूसरी सखी को सूचना दी कि नायिका की नायक के वियोग में निरन्तर व्यथित रहने के कारण ऐसी स्थिति बन गई है कि उसके प्राणों की गणना करनो न करनो समान ही है नायिका जीवित होकर निर्जीव तुल्य हो चुकी है। अत-

1. बिहारी रत्नाकर—छन्द सं० २७१

एव शरीर में प्राण उसी प्रकार रुके हुए हैं, जिस प्रकार पत्रा में होने वाली तिथि अपना अस्तित्व बनाये रखती है।

तुलनात्मक दृष्टि से आर्याकार की नायिका भी दर्शनीय है। प्रिय वियोग में धवलता को प्राप्त उसकी दशा अत्यन्त दयनीय है—

त्वद्गमनदिवसगणनावलक्षरेखाभिरङ्किता सुभग ।
गण्डस्थलीव तस्याः पाण्डुरिताभवनभित्तिरपि ॥[1]

यहाँ नायिका का विरह-निवेदन करती हुई दूती, नायक से कहती है कि उसे शीघ्र ही अब घर के लिए प्रस्थान करना चाहिए क्योंकि दिनों की जानकारी रखने के लिए नायिका ने अपने घर की दीवारों को हाथ की रेखाओं से चिन्हित कर लिया है। अतः उसके घर की दीवार उसी प्रकार धवल हो गई है, जिस प्रकार उसकी गण्डस्थली।

आर्याकार के इस भाव से स्पष्ट है कि यहाँ विरह में मृति की दशा का उतना वेग नहीं जितना विहारी के काव्य में है। दीवार पर रेखायें खींचने से केवल स्मरण तो विदित हो जाता है किन्तु मरण नहीं। हाँ गण्डस्थली की धवलता में मृति अर्थात् मरण तुल्य अवस्था अवश्य कुछ विहारी की उक्त नायिका के समान झलकती है क्योंकि आर्याकार की नायिका की धवलता से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस प्रकार विहारी की नायिका जीवित होकर भी निर्जीव के समान है उसी प्रकार आर्या की नायिका भी। विहारी ने निस्सदेह मरण की स्थिति का चित्र प्रस्तुत करने में अत्यन्त लाघव से कार्य किया है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि संस्कृत कवियों ने इस दशा के बहुत ही कम वर्णन दिए हैं। यदि कही हैं भी तो उसमें केवल मरण की सूचना मात्र ही है जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है। मरण से पूर्ण जड़ता की स्थिति के लिए चुने गये पद्माकर के प्रसंग मे जहाँ जड़ता का संकेत है वहाँ मरण की स्थिति भी पूर्ण रूप से व्यंजित है क्योंकि स्थान-स्थान पर प्रयुक्त "घुरि जायगी", "दामिनी लौ दुरि जायगी", "चांदनी में चुरि जायगी"—इन समस्त स्थलो में मरण की स्थिति का ही आभास है।

निष्कर्ष

संयोग के समान ही शृंगार के वियोग पक्ष की अवतारणा अनेक रूपों को लेकर संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत हुई है। रीतिकालीन कवियों ने यहाँ से प्रेरणा पाकर जिन चित्रों को उभारा वे कहीं-कहीं पर बड़े ही मार्मिक बन गये। इन समस्त चित्रों में कवियों की गहन अनुभति छिपी हुई है तथा ऐसा लगता है कि मानो प्रेम

१. आर्यासप्तशती—श्लोक २६०, पृ० १५५

की अतल गहराई मे पैठकर इन्होंने उसके ऐसे तन्तुओं की खोज की जो कि अत्यन्त निर्मल हैं।

वियोग के प्रथम रूप पूर्वानुराग के अन्तर्गत प्रेमी-युगल की एक दूसरे से मिलन-प्राप्ति के लिए जो आतुरता होती है, वह निस्सन्देह अत्यन्त ही सराहनीय है। प्रत्येक प्रेमी द्वारा एक दूसरे की बातों को सुनने मे उत्सुकता, एक दूसरे को देखने की इच्छा—इत्यादि मनो भावो के द्वारा पूर्वानुराग के प्रत्यक्ष-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन आदि अनेक रूप हो सकते हैं। रीतिकालीन कवियों ने इन सभी के वर्णनों को बड़ी ही सावधानी के साथ प्रस्तुत किया है। संस्कृत कवियो ने पूर्वानुराग के अन्तर्गत प्रथम दर्शन एवं गुणकथन के पश्चात् वियोगियो की छटपटाहट को जिस सहृदयता के साथ अंकित किया, उसे रीतिकालीन कवियो ने उन्मेष ही प्रदान किया, उसमे उन्होंने किसी प्रकार की कमी नहीं रहने दी। उदाहरणार्थ कालिदास ने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल के अन्तर्गत तृतीय अंक के चतुर्दश श्लोक मे प्रथम-दर्शन से उत्पन्न शकुन्तला की विरह संवेदना को जिस सूक्ष्म दृष्टि से अंकित किया है, उसी दृष्टि से पद्माकर जैसे कवियो ने भी गहन अनुभूति के सागर मे डुबकी लेते हुए अपनी नायिका की छटपटाहट को काव्य-रूप मे प्रस्तुत कर दिया है।

नायक नायिका के मान जनित वियोग की दशाओं का चित्रण करने मे रीतिकालीन कवियों की लेखनी बड़ी ही सिद्धहस्त है। प्रेमियों द्वारा क्षण-क्षण मे एक दूसरे के प्रति अकारण कोप, प्रिया की सपत्नी के प्रति ईर्ष्या इत्यादि अवस्थाओं मे बँधकर मान के प्रणयमान और ईर्ष्यामान—ये दो स्वरूप निर्धारित किये गये हैं जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा भी जा चुका है। संस्कृत मे अमरुशतक और आर्यासप्तशती जैसे काव्यों मे मान के रूप जितनी सरसता के साथ उभरकर आये हैं, उतनी सरसता और सुरुचि के साथ रीतिकालीन काव्यों के अन्तर्गत भी हैं तथा रीतिकालीन कवियो की विशेषता यह रही कि मान-वर्णन में इन्होंने संस्कृत काव्यो मे प्रेरणा लेकर इतनी सरसता का परिचय दिया कि इनके चित्र बड़े ही सजीव बन पड़े। मान के अधिकतर चित्रो का वैशिष्ट्य यही है कि ये दाम्पत्य-जीवन के परिवेश मे ही अंकित हुए हैं जिससे प्रेम का उन्मीलन बड़ी ही मनोरम पृष्ठभूमि मे हुआ है।

प्रेमी को अपने प्रिय के वियोग की पीड़ा अत्यन्त ही असहनीय हो जाती है। संस्कृत कवियो मे कालिदास ने मेघदूत लिखकर वियोग के जिस धरातल पर प्रेम की उत्कृष्टता को प्रतिस्थापित किया, वह निश्चय ही सहृदय भावना का प्रमाण है। अमरुशतक, आर्यासप्तशती जैसे शृंगारिक मुक्तक काव्यो मे प्रवास जनित वियोग-शृंगार के बीच स्थान-स्थान पर अत्यन्त हरीतिमा के सहित लहलहा उठे हैं जिनसे रीतिकालीन शृंगारिक कविता को बड़ा ही बल प्राप्त हुआ है। बिहारी, मतिराम, देव एवं पद्माकर जैसे प्रतिनिधि कवियो ने प्रवासी मे प्रियतम के वियोग मे जलती

हुई नायिकाओं के चित्रों को संस्कृत के काव्यों से प्रेरणा लेकर अपनी स्वतन्त्र दृष्टि द्वारा अंकित किया है। यद्यपि रीतिकालीन कवियों के वर्णनों में कुछ ऊहात्मकता आ गई है, तथापि उनसे विरह के अन्तर्गत पोषित की गई प्रेम की निर्मलता अनायास ही आभासित हो जाती है।

वियोग में पूर्वानुराग, मान और प्रवास के अन्तर्गत वियोगी की मानसिक व्यथा के अनुसार काम की दश-दशाओं का निरूपण किया जाता है। ये सभी दशायें वियोग-शृंगार के काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। अभिलाषा से प्रारम्भ होकर मृति या मरण तक प्रेम की जो अनभूति संस्कृत काव्यों में अभिव्यक्त हुई, रीतिकाल में उसका रूप और भी अधिक निखरकर सामने आया, जैसा कि दशाओं का वर्णन करते समय देखा जा चुका है।

अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग ये पाँचों दशाएँ तो पूर्ण रूप से आन्तरिक भावनाओं में ही अपना कार्य करती रहती हैं तथा प्रलाप, उन्माद, संज्वर या व्याधि, जड़ता अथवा मूर्च्छा एवं मृति या मरण—ये पाँचो बाह्य रूप में प्रकट होकर प्रेमी की छिपी हुई विरह-व्यथा को प्रकट कर देती हैं। रीतिकालीन कवियों ने इनके वर्णन में नीर-क्षीर विवेक की दृष्टि से कार्य कर अपनी सुरुचि का परिचय दिया है।

अन्त में एक बार पुनः यह बात कही जा सकती है कि वियोग के प्रसंगों को रीतिकालीन कवियों ने यद्यपि संस्कृत काव्यों की प्रेरणा से शास्त्रीय-वर्णन में बाँधने का प्रयास किया किन्तु निरूपण में उन्होंने जिस मौलिकता का प्रदर्शन किया, वह सराहनीय है। वियोग शृंगार के विषय में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह भी है कि वियोग की सीमाओं में रीतिकालीन कवियों ने प्रेम का जो स्वरूप निश्चित किया है, उसमें निर्मलता एवं उत्कृष्टता के साथ-साथ अनुभूति की गम्भीरता का भी समावेश है।

४ | नायक-नायिका भेद

वासन्ती के पट पर किसी अज्ञात् चेतना द्वारा उभारे गये मधुमासी चित्रों को निहारकर विश्व के उत्सुक नयन अनायास ही आकर्षित हो जाते हैं। फिर संवेदनशील कवि-हृदय का कहना ही क्या ? जीवन के मधुमास में यौवनजन्य सौन्दर्य में उसकी आँखें भी स्वत आकर्षित हो जाती हैं, चाहे वह सौन्दर्य किसी युवती में हो अथवा किसी युवक मे। सम्भवत इसी कारण साहित्य-जगत् मे नायक-नायिका भेद की परम्परा का अवतरण हुआ। यह सर्व विदित तथ्य है कि नारी सौन्दर्य का अक्षय भण्डार होती है। अत कवियों ने प्रारम्भ से आज तक नारी का चित्रण वय, अवस्था एव प्रकृति के अनुसार अनेक रूपो मे जितने विस्तार से किया है, उतने विस्तार से पुरुष का नहीं। इसीलिये इस अध्याय मे सर्वप्रथम नायिका-भेद पर विचार किया जायगा, उसके पश्चात् नायक-भेद पर।

नायिका-भेद

वात्स्यायन के कामसूत्र के अन्तर्गत अग-प्रत्यगो के आधार पर स्त्रियो के पद्मिनी, चित्रिणी शखिनी तथा हस्तिनी नामक चार भेद स्वीकार किये गए हैं।[1] आगे चलकर नारी के गुप्तागों की रचना के अनुरूप अन्य भेद भी किये गए हैं लेकिन काव्य-शास्त्र मे इन भेदों की अपेक्षा वात्स्यायन के परिस्थिति और प्रवृत्ति के आधार पर किये गए वर्गीकरण को ही स्वीकार किया गया। भरतमुनि ने सम्भवतया नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत वात्स्यायन का ही अनुकरण किया है। किन्तु इतना अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये कि साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत नायिका-भेद की परम्परा नाट्यशास्त्र से ही प्रारम्भ होती है। डॉ० राकेश गुप्त ने इस सन्दर्भ में अपना मत देते हुये कहा है कि–"नाट्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र मे नायिका–भेद की भी सक्षिप्त रूपरेखा प्राप्त होती है। प्रसिद्ध अष्ट नायिकाओं तथा नायिका के उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेदों का उल्लेख भरत ने किया

---

१ कामसूत्र–प्रथम अध्याय–प्रथम सूत्र

है। अग्निपुराण में नायिका के केवल चार भेदों का कथन है–स्वकीया, परकीया, पुनर्भ, सामान्या। इनमें से पुनर्भ परवर्ती लेखकों द्वारा प्रायः मान्य नहीं हुई। काव्यालंकार के लेखक रुद्रट ने नायिका के मुख्य विभाजन के अन्तर्गत जिन सोलह भेदों का उल्लेख किया है, वे वाद में प्रायः सभी लेखकों द्वारा स्वीकृत हुए। रुद्रभट्ट ने अपने शृंगार तिलक में भरत और रुद्रट के आधार पर नायिका के तीन वर्गीकरण प्रस्तुत किये, जिन्हें आगे चलकर मानक विभाजनों के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई।"[१]

इस प्रकार नायिका-भेद की शास्त्रीय-परम्परा सर्व प्रथम भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र से ही स्वीकार की जा सकती है। आगे चलकर रुद्रभट्ट के पश्चात् भोज, धनंजय, भानुदत्त, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी आदि आचार्यों ने नायिका–भेद विषयक वर्गीकरण में अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार कुछ परिवर्तन किया। इन आचार्यो में सबसे अधिक सुव्यवस्थित तथा मौलिक रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य रसमंजरीकार का माना जाता है। रीतिकालीन नायिका–भेद के ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि इनमे अधिकांश काव्यो का मूलाधार भानुदत्त की रसमंजरी ही वनी है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपना मत देते हुए कहा है कि–"हिन्दी में नायिका-भेद के निरूपण में भानुदत्त कृत रसमजरी आधार वनी। संस्कृत में नायिका-भेद का विस्तार से वर्णन करने वाली और प्रचलित पुस्तक यही थी। रस-मंजरी की परम्परा स्वतः पुरानी है, भानुभट्ट ने स्थान-स्थान पर पूर्वाचार्यो का उल्लेख किया है और उनके मतों का खण्डन-मण्डन भी कही–कहीं पाया जाता है। इस पुस्तक का नाम यद्यपि रसमजरी है तथा इसमे केवल शृंगार रस का मुख्यतः विभाव पक्ष (नायक-नायिकादि) का ही विस्तृत विवेचन मिलता है। अन्य रसों की चर्चा ही नही है। हिन्दी वालों ने अपने अनुकूल यही ग्रन्थ पाया और इसी का अनुसरण किया।"[२]

आचार्य मिश्र का यहाँ हिन्दी वालो से तात्पर्य रीतिकालीन कवियो से ही है। डॉ० किशोरीलाल ने रीतिकाल पर भानुदत्त का प्रभाव विशद रूप मे स्वीकार किया है–'रीतिसाहित्य की सुदीर्घ परम्परा में भानुकृत रसतरगिणी और रसमंजरी का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। कारण यह है कि रसों के निरूपण में इनकी रसतरंगिणी तथा शृंगार और नायक-नायिका भेद कथन में रस–मंजरी का अमिट प्रभाव लक्षित होता है। रीतिकाल का कदाचित् कोई भी ऐसा कवि न होगा, जिसने उस ग्रन्थ का अवलम्ब न ग्रहण किया हो और यत्र-तत्र परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष इनका उल्लेख

---

१. काव्यशास्त्र––पण्डित जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ––सम्पा० : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी–पृ० ३४५, (प्र० सं०)

२ पद्माकर ग्रन्थावली–भूमिका–पृ० ७३-७४ (प्र० सं०)

न किया हो।"[1]

उक्त दोनों विद्वानों के कथन से यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाती है कि रीतिकालीन कवियों के नायक-नायिका भेद का मूलाधार भानुदत्त कृत रसमंजरी ही रही। उस समय के लगभग समस्त आचार्यों ने रसमंजरी को ही आदर्श रूप में स्वीकार करते हुए एवं उसमें अपनी विशेष मौलिकता का सामंजस्य कर नायिकाओं के वर्गीकरण के साथ ही अनेक उदाहरणों की सर्जना की। अतः यहाँ रीतिकालीन आलोच्य कवियों की नायिकाओं और भानुदत्त के वर्गीकरण के अनुसार नायिकाओं के निम्नलिखित भेद हैं-[2]

नायिका के मुख्यतः तीन भेद-स्वीया, परकीया और सामान्या किये गये हैं। स्वीया के भी-मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, ये तीन भेद होते हैं। मुग्धा के-अज्ञातयौवना, ज्ञात यौवना-ये दो भेद हैं। मुग्धा ही क्रम से नवोढ़ा और विश्रब्धनवोढ़ा हो जाती है। मध्या और प्रगल्भा (प्रौढ़ा) के मान की अवस्था में प्रत्येक के धीरा, अधीरा, और धीराधीरा-ये तीन भेद हो जाते हैं। मध्या और प्रगल्भा के धीरादिक छ भेद ज्येष्ठा और कनिष्ठा के भेद से दो प्रकार के होते हैं। परकीया द्विविध-कन्यका और परोढ़ा। परोढ़ा-मुख्य रूप से छ प्रकार की है। गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता। सामान्या एक प्रकार की ही है।

उक्त नायिकाओं की विभिन्न परिस्थितियों में परिवर्तित अवस्थानुसार आठ प्रकार हैं-(१) स्वाधीनपतिका, (२) कलहान्तरिता, (३) अभिसारिका (४) विप्रलब्धा, (५) खण्डिता, (६) उत्का अथवा उत्कंठिता, (७) वासकसज्जा, (८) प्रोषित भर्तृका। रसमंजरी के अन्तर्गत नवीं नायिका प्रवत्स्यत्पतिका भी है तथा पति के आगमन पर प्रोषित-पतिका ही रीतिकालीन कवियों के अनुसार आगतपतिका बन जाती है। इस प्रकार ये अवस्थानुसार सब मिलकर दस प्रकार की ठहरती हैं।

अवस्था भेद के अनुसार रसमंजरीकार ने नायिकाओं के और भी तीन भेद किये हैं-(१) अन्य-सम्भोग-दुःखिता, (२) गर्विता, (३) मानवती।

इनके अतिरिक्त मान के अनुसार रसमंजरीकार ने नायिकाओं के तीन भेद किए हैं-उत्तमा, मध्यमा और अधमा। किन्तु इनका समावेश मानवती तथा अन्य दूसरी उक्त नायिकाओं में भी हो सकता है। नायिका भेद के अन्तर्गत वर्णित समस्त नायिकाओं के सूक्ष्म भेदोपभेद का विस्तृत विवेचन तो एक स्वतन्त्र विषय हो सकता है। इस प्रबन्ध के विषय की सीमा में नायिका-भेद का सैद्धान्तिक विवेचन अपेक्षित नहीं है अपितु रीतिकालीन हिन्दी काव्य में वर्णित नायिका-भेद पर संस्कृत-काव्य के प्रभाव

---

१ रीति-कवियों की मौलिक देन-लेखक डॉ० किशोरीलाल पृ० १८८ (प्र० सं०)

२. मतिराम-ग्रन्थावली-रसराज-छन्द २७

की परीक्षा करना है । अतः विस्तारभय के कारण यहाँ कतिपय प्रमुख तथा प्रतिनिधिक नायिका-वर्णन पर विचार किया जायगा ।

स्वीया

रसमंजरीकार ने स्वकीया नायिका की परिभाषा करते हुये कहा है कि 'तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता'[1] अर्थात् जो अपने पति से अनुराग करे उस नायिका को स्वीया अथवा स्वकीया कहते हैं। वह अपने पति की सेवा में लगी रहती है तथा अपने शील एवं सदाचार की रक्षा करती हुई आर्जव अर्थात् मार्दव और क्षमा—इन गुणो से युक्त होती है ।[2]

मतिराम ने भी स्वकीया का आदर्श बतलाते हुए रसमंजरीकार के समान ही शील पर विशेष बल देते हुये उसके विषय में उदाहरण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि—

संचि विरंचि निकाई मनोहर, लाजति मूरतिवंत बनाई,
वापर तो बडभाग बड़े 'मतिराम' लसै प्रति प्रीति सुहाई ।
तेरे सुसील सुभाव भटू, कुलनारिन को कुलकानि सिखाई,
तैंही जनो पतिदेवत के गुन गौरि सबै गुनगौरि पढ़ाई ॥[3]

ब्रह्मा द्वारा सुन्दर वस्तुओं के उत्कृष्ण गुणो को संचित करके नायिका के रूप की मूर्तिमती लज्जा रूप में निर्मित, सुखदाई पति-प्रेम के कारण महान सौभाग्यशालिनी, सुशील स्वभाव से नायिका द्वारा कुलवती नारियो को पारिवारिक मर्यादा एवं पतिव्रत के गणो की समस्त सुहागिनियो को शिक्षा ये समस्त कल्पनायें अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं तथा संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थानुमोदित स्वकीया के आदर्श को पूर्ण रूप से व्यक्त करती है ।

मतिराम के इस कथन की प्रथम पंक्ति की तुलना कालिदास के शकुन्तला की प्रशंसा में कहे गये प्रस्तुत श्लोक से की जा सकती है—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
दूरूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचित्यवपुश्चतस्याः ।[4]

कवि ने अपनी नायिका के रूप सौन्दर्य के विषय मे कल्पना की है कि

१. भानुदत्त—रसमजरी— सम्पा० : पं० जगन्नाथ पाठक (द्वि० सं० पृ० ३—९२
२. रसमंजरी—'सुषमा' हिन्दी व्याख्या सहित—पृ० ५-६
३. मतिराम—ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ११
४. अभिज्ञानशाकुन्तल—सर्ग दूसरा—श्लोक ९

विधाता ने सर्व प्रथम उसका चित्र बनाकर अथवा उसकी रचना की समस्त सामग्रियो को अपने मन मे रखकर उसमे प्राण डाल दिया होगा क्योंकि संसार में वह अपने ढंग की अनूठी स्त्री-रत्न की रचना है।

मतिराम ने अपनी नायिका की सौन्दर्य रचना मे जिस निकाई का उल्लेख किया, उसकी प्रेरणा पूर्ण रूप मे कालिदास के प्रस्तुत श्लोक से ही ली गई प्रतीत होती है। शेष कवित्त की शीलादि की चर्चा पर रसमंजरीकार की छाया है।

रीतिकालीन काव्यो के अन्तगत स्वीया के आदर्श की चर्चा मे लिखे गये ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमे उसके शीलादि गुणो का वर्णन है। ये सभी अधिकतर संस्कृत काव्यों से ही अनुप्राणित हैं। किन्तु इनकी अभिव्यक्ति अधिकतर स्वतन्त्र ही है।

स्वकीया अथवा स्वीया

स्वीया अर्थात् स्वकीया नायिका के रसमंजरीकार ने तीन भेद[1] किये हैं– (१) मुग्धा, (२) मध्या, (३) प्रगल्भा। रीतिकाल के लगभग सभी कवियों ने इन्ही तीन भेदो को स्वीकार किया है। उन्होंने 'प्रगल्भा' के स्थान पर 'प्रौढा' शब्द का प्रयोग किया है।

मुग्धा

जिस नायिका के शरीर मे यौवन का संचरण होना प्रारम्भ होता है अथवा यौवन अंकुरित हो जाता है, उसे मुग्धा की संज्ञा दी जा सकती है।[2]

बिहारी ने नायिका के यौवन का व्यञ्जना के द्वारा सुन्दर ढंग मे वर्णन किया है। यथा–

> नव नागरितन-मुलुकलहि, जोबन-आमिर जोर।
> घटि वढ़ि तैं वढि घटि रकम, करी और की और॥[3]

नायिका की सखी नायक के समक्ष नायिका के यौवन की चर्चा करती है कि जिस प्रकार कोई शासक किस देश पर अधिकार कर लेता है उसी प्रकार यौवन ने नायिका के शरीर पर अधिकार कर लिया है जिससे अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूपी रकम मे घटा-बढी हो गई है। अर्थात् भाव इस प्रकार व्यञ्जित हो रहा है कि नायिका के शरीर पर यौवनागमन के कारण उरोज तथा नितम्ब इत्यादि अङ्गो मे तो वृद्धि हुई और कटि प्रदेश में क्षीणता व्याप्त हो गई।

यह भाव साहित्य-दर्पण के अन्तर्गत और भी स्पष्ट रूप मे मिलता है–

---

१ रसमंजरी–'सुषमा' हिन्दी व्याख्यासहित–पृ० ७
२ तत्राङ्कुरित यौवना मुग्धा–रसमंजरी–'सुषमा' हिन्दी व्याख्यासहित–पृ० ७
३. बिहारी–रत्नाकर–छन्द २२० पृ० ९२

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति ।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥[1]

स्पष्ट है कि सुन्दरी के हृदय-देश पर कामदेव के राज्याभिषेक होने से अङ्ग-प्रत्यङ्गों में प्रफुल्लता आने के साथ ही एक दूसरे से सुन्दरता की छीना झपटी होने लगती है, नितम्बों द्वारा कटिभाग की स्थूलता का हरण किया गया, उदरदेश के हाथ स्तनों की मन्दता और नाभिदेश की रोमावली दौड़ मचाकर नेत्रो के सीधेपन को ग्रहण कर लेती है ।

विहारी ने जिस भाव को थोड़े से शब्दो के माध्यम से दोहा द्वारा प्रकट कर दिया, उसका विशद रूप साहित्यदर्पण में दिखाई पड़ता है । उक्त दोहे पर निस्सन्देह साहित्यदर्पण के इस प्रसंग का प्रभाव लक्षित होता है । विहारी ने अङ्गों पर अधिकार जमाने वाला 'यौवन रूपी आमिर' लिया तो साहित्यदर्पणकार ने कामदेव को अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर अधिकार जमाने वाला सम्राट बतलाया । दोनो का तात्पर्य बहुत कुछ एक ही है क्योंकि यौवन भी तो कामदेव के द्वारा ही प्रेरित होता है । इसके अतिरिक्त विहारी का कथन--"घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम"--भी साहित्यदर्पण कार द्वारा कहे गये यौवन में शारीरिक आदान-प्रदान को ही अभिव्यञ्जित कर देता है ।

मुग्धा के भेद

आचार्यों के अनुसार यह मुग्धा नायिका के भी चार रूप प्राप्त होते हैं । और वे हैं–ज्ञात यौवना, अज्ञातयौवना एवं नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा ।

अज्ञातयौवना-मुग्धा

अज्ञातयौवना उस नायिका को कहा जाता है जिसे अपने नवीन यौवन के आगमन का ज्ञान नहीं होता ।[2] अर्थात् यह नवयौवना ऐसी मुग्धा होती है जिसे यह आभास नही होता कि मुझ पर यौवन की छटा व्याप्त हो गई है । वह पदे-पदे संदेह में पड़ी रहती है । तभी तो विहारी की नायिका नासिका में लगे हुए वेसर-मोती की झलक के ओठ पर पड़ने पर चूना लगने के भ्रम में ओठ को वार-वार अपने आंचल से पोंछती है–

वेसरि मोती-दुति झलक, परी ओठ पर आइ ।
चूनो होइ न चतुर तिय, क्यों पट पोंछ्यो जाइ ॥[3]

---

१. साहित्यदर्पण-तृतीय परिच्छेद-कारिका-५८ के नीचे का उदाहरण
२. पद्माकर ग्रन्थावली-जगद्विनोद-छन्द २८
३. विहारी-रत्नाकर-दोहा १७३

भाव यह है कि नायिका के शरीर पर विद्यमान यौवनजन्य कान्ति से मिलकर नासिका में लगे हुए 'बेसर-मोती' की छवि का प्रतिबिम्ब उसके ओठ पर पड़ता है किन्तु नायिका सत्य कारण न समझकर यह समझती है कि पान का चूना ओठ पर लग गया है और उसे पोंछने लगती है।

रसमंजरीकार भानुदत्त ने भी अज्ञातयौवना के इसी प्रकार के संदेह का उल्लेख किया है। उनकी नायिका भी सरोवर में स्नान करते समय कानों तक फैली हुई आँख को कान के समीप उलझा हुआ कमल समझकर हटा देने के लिए हाथ उठा देती है रोमावली को शैवाल समझकर पोंछती है एवं नितम्बभार को कारण न समझकर अपने श्रान्त होने का कारण सखी से पूछती है–

नीरातीरमुपागता श्रवणयो सीम्नि स्फुरन्नेत्रयो
श्रोत्रे लग्नमिद विमुत्पलमिति ज्ञातु कर न्यस्यति।
शैवालाङ्कुरशङ्कया शशिमुखी रोमावली प्रोञ्छति
श्रान्ताऽस्मीति मुहु सखीमविदितश्रोणीभरा पृच्छति ॥[1]

दोनों कवियों की नायिकायें अपने यौवन से अपरिचित हैं। एक ओर बिहारी की नायिका यौवनजन्य कान्ति से मिलकर अधरों पर पड़े हुये बेसर मोती के प्रतिबिम्ब को चूना समझती है तो दूसरी ओर रसमंजरीकार की नायिका कान तक फैले नेत्र को कमल, रोमावली को शैवाल समझकर पोंछती है और नितम्बभार से उत्पन्न थकान का कारण नहीं समझ पाती। इस प्रकार दोनों कवियों के कथन पर्याप्त भिन्न होते हुए भी भाव-छाया की दृष्टि से समान हैं। सम्भवतया बिहारी ने रसमंजरी से प्रेरणा लेकर कथन को अपनी स्वतन्त्र दृष्टि द्वारा अभिव्यक्त किया है। भाव-तारल्य की दृष्टि से दोनों प्रसंग माधुर्यपूर्ण हैं।

पद्माकर की नायिका भी अपने यौवन के आगमन पर विस्तार को प्राप्त विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों के विषय में अनभिज्ञ है। पूछने पर उसे सखी समस्त कारण समझाती है। अत नायिका के प्रश्न और सखी के उत्तर प्रस्तुत छन्द में विद्यमान होते हैं—

ए अलि हमैं तो बात गात की न बूझी-
परै बूझत न काहे यामे कौन कठिनाई है।
कहै पद्माकर क्यों आग न समात आंगी-
लागी काह तोहि जागी उर में उचाई है।
तोअ तजि पाइन चली यो चचलाई कित-
बाउरी बिलोकै क्यो न आखिन में आई है।

---

1 रसमंजरी–मग्धा अज्ञातयौवना–छन्द ५, पृ० ११

मेरी कटि मेरी मटू कौने धौं चुराई तेरे–
कुचन चुराई कै नितम्बन चुराई है ॥[1]

नायिका के यहाँ यौवनागम पर शारीरिक परिवर्तन की दृष्टि परम्परागत ही है।[2] वक्ष के ऊपर आँगिया के न समाने की कल्पना भी रूढ़िगत ही है क्योंकि कालिदास की नायिका शकुन्तला छाती पर वल्कल के अधिक कस जाने पर जब सखी प्रियंवदा पर दोषारोपण करती है तो प्रियवदा सत्य का उद्‌घाटन कर देती है कि यौवनागम के कारण ही वल्कल अधिक कसता हुआ प्रतीत होता है–

शकुन्तला–सखि अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियवदा नियन्त्रितास्मि । शिथिलय तावदेतत ।

प्रियंवदा–अत्र पयोधरविस्तारयितु आत्मनो यौवनमुपालम्भस्व ।[3]

पद्माकर के प्रसंग की विशेषता यह है कि कवित्त के माध्यम से नाटकीय शैली में भावों का उन्मीलन हुआ है। कालिदास ने जिस भाव की रमणीयता को नाटक के अन्तर्गत कथोपकथन के रूप में स्पष्ट किया है, पद्‌माकर ने उसी की व्यंजना एक ही कवित्त में प्रश्न और उत्तर के रूप में की है। अतः स्पष्ट है कि पद्‌माकर ने प्रेरणा संस्कृत के ऐसे ही प्रसंगो से ली किन्तु अभिव्यक्ति का ढंग उनका अपना ही है।

ज्ञातयौवना मुग्धा

जिसे अपने यौवन के आगमन का पूर्णरूप से ज्ञान रहता है, वह मुग्धा नायिका 'ज्ञातयौवना" कहलाती है।

कवियों ने ज्ञातयौवना को लेकर अनेक प्रकार के सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं। नवयौवन को प्राप्त देव की नायिका के विभिन्न गुणो का उल्लेख सखी के द्वारा सुन्दर ढंग में व्यक्त है–

कोमलताई लताई सों लीनी, ले फूलनि फूलनि ही की सुहाई।
कोकिल की कल बोलनि, तोहि, विलोकनि बाल-भ्रिगीनि बताई ॥
चाल मरालन ही सिखयी, नख तें सिख यो मधु की मधुराई।
जानति हौं, ब्रज-भू पर आये, सबै सिखि रूप की संपति पाई ॥[4]

तात्पर्य यह है कि यौवनागम पर नायिका ने कामलता को लताओं से, प्रफुल्लना को पुष्पों से प्राप्त किया। उस कोकिल कंठी नायिका को सुन्दर ढंग से देखना

१. पद्माकर ग्रन्थावली– जगद्विनोद–छन्द २९, पृ० ८४
२. कुमारसम्भव–सर्ग प्रथम–श्लोक ४८-४९
३. अभिज्ञानशाकुन्तल–प्रथम अंक– श्लोक १८ और १९ के मध्य मे आये हुए संवाद
४ देव काव्य रत्नावली–सम्पा० ; राजकृष्ण दूगड, ब्रजमोहन जावलिया–छन्द १२, पृष्ठ १३

बाल-मृगियो ने सिखाया है। तथा सुन्दर चाल की शिक्षा हंसो ने दी। इस प्रकार नवीन यौवन के कारण नायिका के शरीर मे नख से शिख तक माधुर्य पूर्ण मधुरता व्याप्त हो गयी। इस प्रकार ब्रज की भूमि पर आकर नायिका ने सबसे शिक्षा लेकर सौन्दर्य का वैभव ही प्राप्त कर लिया है। अर्थात् नायिका कोमलता, सुन्दर बोली, सुन्दर दृष्टि, सुन्दर चाल एव रूप माधुर्य के वैभव से सम्पन्न हो चुकी है।

रसमजरीकार भानुदत्त की नायिका के मुख आदि अङ्गो के द्वारा उनके समान ही अनेक उपकरणो के निमन्त्रण देने का तात्पर्य यही है कि नायिका उन सबसे कुछ सीखना चाहती है अथवा यह कहा जा सकता है कि नवयौवन की प्राप्ति पर देव की नायिका के समान इस नायिका के शरीर मे भी रूप-वैभव व्याप्त हो गया है।

> आज्ञप्त किल कामदेव धरणीपालेन काले शुभे
> वस्तु वास्तुविधि विधास्यति तनौ तारुण्यमेणीदृश ।
> दृष्ट्या खञ्जनचातुरी मुखरुचा सोधाधरी माधुरी
> वाचा किंच सुधासमुद्रलहरीलावण्यमामन्त्रयते ॥[1]

यहाँ कवि ने सर्वप्रथम कामदेव की आज्ञा मे अपनी मृगाक्षी नायिका के शरीर द्वारा यौवन के रूप मे गृह निर्माण का कार्य आरम्भ करने की कल्पना की है। पुन कवि कहता है कि तभी तो नायिका की दृष्टि ने खजरीट की चतुरता को, मुख की कान्ति ने चन्द्रमा की सरसता को एव वाणी ने अमृत-समुद्र की लहरियों के लावण्य को आमन्त्रित किया।

उक्त देव और रसमजरीकार-दोनो कवियो के प्रसगो मे बहुत कुछ साम्य है। देव की नवयौवना नायिका ने शारीरिक कोमलता, प्रफुल्लता, बोली, विलोकना, चाल तथा समस्त अङ्गो का माधुर्य जहाँ विभिन्न वस्तुओ मे प्राप्त किया वहीं रस-मजरीकार की नायिका ने भी दृष्टि, मुख की कान्ति एव वाणी के द्वारा प्रकृति की भिन्न-भिन्न वस्तुओ को आमन्त्रित किया है। तात्पर्य यह है कि दोनो कवियो ने अपनी अपनी नायिका के विभिन्न अङ्गो के साम्य के भिन्न भिन्न उपकरणो को अप्रस्तुत ढग से समेटा है। अत अब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देव ने सम्भवतया रसमजरी-कार से प्रेरणा लेकर अपने कवित्त का सृजन किया है।

ज्ञात यौवना विषयक पद्माकर का वर्णन अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

> आज कालि दिन द्वैक तें भई और ही भाँति।
> उरज उचौहिन दै उहू तन तकि तिया अन्हाति ॥[2]

संस्कृत के समस्त कवियो ने यौवनागम पर उरोज इत्यादि के उन्नत होने की

---

१ रसमजरी-सुषमा-हिन्दी व्याख्या सहित-श्लोक ४, पृष्ठ १०

२ पद्माकर ग्रन्थावली-जगद्विनोद-छन्द ३७, पृष्ठ ८९

तथा अन्य बातों का वर्णन तो किया है किन्तु पद्माकर ने इस वर्णन द्वारा अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है, क्योंकि उरोजों के बीच में उरू देकर तथा अपने यौवन-जन्य उभार को देखकर नायिका के हृदय में उठने वाली गुदगुदी की इस दोहे में सुन्दर एवं सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। अतः चित्र की दृष्टि से तो यह दोहा सुन्दर है ही अपितु मौलिक एवं स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

इस प्रकार मुग्धा और उसके इन दोनों पर दृष्टिपात करने पर पता चल जाता है कि 'अज्ञातयौवना' और 'ज्ञातयौवना' की प्रवृत्तियो का चित्रण सस्कृत और रीतिकालीन काव्यों में विस्तार पूर्वक प्राप्त होता है, किन्तु नायिका के यौवनागम पर परिवर्तित अङ्ग-प्रत्यङ्गों के वर्णन अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना–दोनों के सन्दर्भ में सामान्य रूप से प्राप्त होते है।

नवोढ़ा मुग्धा

जिस नवविवाहित नायिका मे पति संग के समय लज्जा और भय की मात्रा रहती है। अथवा जो प्रथम बार प्रिय-समागम को प्राप्त करती है उस नवविवाहित मुग्धा नायिका को नवोढ़ा कहा जाता है।[1]

मतिराम की नवोढ़ा नायिका पति के प्रथम समागम का अनुमान कर इतनी विह्वल हो जाती है कि केलि गृह में सखी को भी छोड़ना नही चाहती है। तभी तो सखी का आँचल पकड़ लेती है–

> साथ सखी के नई दुल ही को भयो हरि को हियो हेरि हिमचल।
> आय गए 'मतिराम' तहाँ घरू जानि इकंत अनंद ते चंचल।
> देखत ही नंदलाल को बाल के पूरि रहे अँसुवानि दृगंचल।
> बात कही न गई सु रही गहि हाथ दुहू सो सहेली को अचल॥[2]

मतिराम ने यहाँ सद्यः परिणीता वधू का वर्णन सखी के माध्यम से किया है। सखी के साथ नायिका को देखकर प्रसन्नता के कारण नायक के हृदय का उमङ्गित होकर हिमालय के समान उच्च होना तथा एकान्त समझकर आनन्द में उल्लसित होकर चंचल हो जाना, नंदलाल को देखते ही बाला की आँखों में आँसुओं का आना तथा उसके द्वारा कुछ बोल न सकना किन्तु दोनों हाथों से सहेली का आँचल पकड़े रहना–यह समस्त वर्णन इस सवैया मे सुन्दर ढग से एकत्रित किया गया है। नवोढ़ा के हृदय में निस्सन्देह पति के व्यवहार के प्रति शंका कुशंका बनी रहती है कि न जाने प्रथम समागम में प्रिय किस प्रकार का क्रूर व्यवहार करेगा। तभी तो यहाँ नायिका ने किंकर्तव्य विमूढ़ होकर अपनी सहेली का आँचल पकड़ लिया। अन्तिम

---

१. "सैव क्रमशो लज्जाभयपराधीनरतिर्नवोढ़ा"–रसमंजरी, पृष्ठ ९

२. मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द २५, पृष्ठ १२

पंक्ति में नायिका के द्वारा बात न कही जाने से उसके हृदय में स्थित लज्जा और भय के आवेश का पता चल जाता है।

नैषधकार की नवपरिणीता नायिका दमयन्ती भी प्रथम समागम में प्रिय के सम्मुख लज्जा और भय के कारण बड़ी ही कठिनाई में जाती है, यथा—

वेश्म पत्युरविशन्न साध्वसाद् वेशितापि शयनं न साऽभजत् ।
भाजितापि सविधं न सास्वपत् स्वापितापि न च सम्मुखाभवत् ॥[1]

प्रथम तो दमयन्ती पति के कक्ष तक जाती ही नहीं है, बाद में सखियों द्वारा किसी प्रकार भेजी भी गयी तो शय्या पर नहीं जाती है। किसी प्रकार शय्या पर भी पहुँचाई गई तो नल के समीप सोती नहीं है तब किसी भाँति पास भी सुलाई गइ तब भी सम्मुख नहीं होती है।

नायिका दमयन्ती के हृदय में प्रिय के प्रथम समागम की कल्पना का लज्जा मिश्रित भय विद्यमान है कि न जाने प्रथम मिलन में क्या होगा, तभी वह प्रथम बार पति के अनुकूल नहीं होती। यही स्थिति उक्त मतिराम की नायिका की है तभी तो प्रिय को देखकर आँखों को आँसुओं से पूर्ण कर लज्जा और भय के कारण अकेली नहीं रहना चाहती तथा सहेली का आँचल पकड लेती है। मतिराम और नैषधकार दोनों की नायिकाओं को सखी ही ले जाती है। इस प्रकार दोनों प्रसंगों में बहुत कुछ समानता है। किन्तु मतिराम के प्रसंग में नैषधकार द्वारा अभिव्यक्त नववधू की स्थिति समग्र रूप में व्यंजित हो ही जाती है, साथ ही नायक के हृदय का नववधू को देखकर हिमचल होने की कल्पना भाव में अधिक सरसता उत्पन्न कर देती है। विशेष बात यह भी है कि मतिराम के वर्णन में स्वतन्त्र कवित्त की योजना है जबकि श्रीहर्ष का वर्णन महाकाव्य की भित्ति पर अंकित होने के कारण, उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण कथा न आकर थोड़ा-सा प्रसंग मात्र ही आ पाया है।

इसी प्रकार देव की नवविवाहिता नायिका भी प्रथम प्रसंग में पति के अनुकूल नहीं हो पाती। वह भी पति से भय और लज्जा का अनुभव करती है—

आमोद विनोद इदु बदनी गुविन्द गोद
उदित उदार मोद आनी आदरीक लौं।
पी की सुख सेज स्वाइ सखी सुख पाइ ओट
गई सुख औसर तें सरक सरीक लौं।
अचर उचरि कर कोरैं कुच कोर लागि
औचक उचकि परी छवि की छरीक लौं।

---

1 नैषधचरितम्-अठारहवाँ सर्ग-श्लोक ३५

देव देखौ बावरी सुहाग की विभावरी में
डावरी उरनि भई धावरी घरीक लौ ॥[1]

नवोढ़ा प्रिया को प्रिय की गोद में आदर सहित लाया जाना, प्रिय की सेज पर सुख से सुलाकर हृदय में सुख का अनुभव करती हुई सखियों का चला जाना, पुनः आंचल को प्रिय द्वारा ऊँचा करने पर तथा कुचाग्र पर थोड़ा हाथ लगते अचानक ही नायिका का छवि की छड़ी के समान चौक पड़ना, इत्यादि स्थितियो का सुन्दर ढग में निरूपण हुआ है तथा अन्त में कवि के द्वारा नायिका के प्रति यह कथन—"सुन्दरी नायिका सौभाग्य की विभावरी मे भी घड़ी भर के लिए कितनी भयभीत हो जाती है"—अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ा है।

रसमजरीकार की नवोढ़ा नायिका भी सहसा पति के अनुकूल नही हो पाती है—

हस्ते धृताऽपि शयने विनिवेशताऽपि
क्रोडे कृताऽपि यतते वहिरेव गन्तुम्।
जानीमहे नववधूरथ तस्यवश्या
य: पारदं स्थिरयितं क्षमते करेण ॥[2]

नायक द्वारा नवपरिणीता पत्नी का हाथ ग्रहण करने पर, शय्या पर बिठाने पर एवं गोद मे दवा लेने पर भी वह निकल जाने का प्रयत्न करती है। ऐसी नव-वधू को वही पुरुष वश में कर सकता है जो पारे को हाथ मे लेकर स्थिर करने में समर्थ हो। अर्थात् जिस प्रकार हाथ में पारे को लेकर स्थिर करना कठिन है उसी प्रकार नवोढ़ा को वश में करना अत्यन्त दुष्कर है।

देव और रसमंजरीकार दोनों की नवोढ़ा नायिकाये प्रिय के कार्य कलाप के लिए पहली वार निषेध करती हैं। प्रथम तो दोनो की नवपरिणीतायें सामने ही नहीं आती, यदि किसी भी प्रकार आ जाती है तो अनुकूल नही होती है। रसमजरी की नायिका प्रिय द्वारा हाथ पकड़ने, शय्या पर बिठाने, तथा गोद में दवाने पर निकलने का प्रयास करती है तो दूसरी ओर देव की नायिका भी प्रिय के आँचल पकड़कर उठाने पर स्तनो का स्पर्श करने पर चौंक उठती है। अर्थात् दोनों नायिकाये लज्जा और भय से इसलिए डरती हैं कि प्रिय रति-क्रीड़ा मे न जाने किस प्रकार का कठोर व्यवहार करेगा। इस प्रकार दोनों प्रसंगों मे साम्य है किन्तु एक ओर रसमंजरीकार ने नवोढ़ा के लिए पारे की कल्पना की है तो दूसरी ओर देव ने "छरीक, घरीक" इत्यादि शब्दों के द्वारा कवित्त में माधुर्य ला दिया है। अतः देव ने प्रेरणा लेते हुए

१. देव ग्रन्थावली—सुमिल विनोद—तीसरा विनोद—छन्द २२
२. रसमंजरी हिन्दी व्याख्या सहित—श्लोक ७, पृष्ठ १२

भी प्रसग मे अपनी मौलिक सूझ को पिरो दिया है।

विश्रब्ध नवोढा मुग्धा

भय और लज्जा के भावो की तीव्रता कम होकर अपने पति के प्रति जब नवोढा नायिका मे आकर्षण होने लगता है तब वही मुग्धा विश्रब्ध नवोढा की श्रेणी मे आती है।[1] रीतिकालीन कवि पद्माकर[2] तथा मतिराम ने[3] पति के प्रति विश्वास उत्पन्न होना विश्रब्ध नवोढा मुग्धा का लक्षण बताया है।

मतिराम की नायिका इस सम्बन्ध मे दर्शनीय है, यद्यपि वह पति के समीप जाना चाहती है किन्तु थोडी सी लज्जा जो उसके हृदय मे शेष है, उसी के कारण वह नन्दलाल से दुख न देने की बात कहती है--

प्रीतम तुम्हरी सेज पर हौं आऊँ नँदलाल।
दया गहौ, बात न कहौ, दुख न दीजिये लाल ॥[4]

नायिका प्रिय की सेज पर तभी आ सकती है जबकि वह दया करके उससे कोई बात करता हुआ दु ख न दे सके। 'बात न कहौ' से नायिका का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि "दया करके केवल रसीली बातें तो करना किन्तु उन्हे कृपा करके कार्यान्वित करके कष्ट न देना।"

अत यहाँ मतिराम की विश्रब्ध नवोढा के उदाहरण मे यह बात स्पष्ट हो जाती है इस नायिका की लज्जा पूर्णरूप से समाप्त नही हो पाती। वह पति के समीप तो चली जाती है किन्तु रति क लिए लज्जावशात् सहसा अनुकूल नही होती। पद्माकर की नायिका भी पति मे विश्वास तो करने लगी है, तथा पति के प्रति मुख और नयन दोनो मे ही उसकी रुचि जाग्रत हो जाती है, प्रिय की रसीली बातों को सुनकर मुसकाकर अपने हृदय की अभिलाषा भी व्यक्त कर देती है किन्तु अपनी छाती नही छूने देती। तथा विश्रब्ध हो जाने के कारण वह प्रियतम को पान खिलाने के लिए पर्यंक के पास भी जाने लगती है--

जाहि न चाहि कहूँ पति की सु कछू पति सों पतियान लगी है।
त्यों पद्माकर आनन मे रुचि कानन भौह कमान लगी है।
देत तिया न छुवै छतियाँ बतियान मे तो मुसिक्यान लगी है।
प्रीतमैं पान खवावन कों परजक के पास लो जान लगी है ॥[5]

---

१ रसमजरी–विश्रब्धनवोढा–सुषमा हिन्दी व्याख्या सहित–पृष्ठ ९
२ मतिराम ग्रंथावली–रसराज–छन्द २७, पृष्ठ २५८
३ पद्माकर ग्रंथावली–जगद्विनोद–छन्द ४१, पृष्ठ ८७
४ मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द २९, पृ० २५८
५. पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द ४९ पृ० ८७

यहाँ प्रियतम के पलंग तक जाना ही विश्रब्धता का द्योतक है। रीतिकालीन कवियों के यद्यपि दोनों प्रसंग स्वतन्त्र ही प्रतीत होते हैं किन्तु विश्रब्धता समाप्त होने की दृष्टि से रसमंजरीकार का प्रस्तुत श्लोक लिया जा सकता है। रसमंजरीकार की नायिका प्रिय के समीप जाकर आँखों को कुछ मुकुलित कर अपनी नीवी पर हाथ रखकर अपने स्तनों को बचाकर नायक के पास जाकर शयन करती है। इस नायिका को देखकर कोई अन्य नायक अपने मित्र से कहता है कि--

दरमुकुलितनेत्रपालिनीविनियमितबाहुकृतोरुयुग्मबन्धम् ।
करकलितकुचस्थलं नवोढा स्वपिति समीपमुपेत्य कस्ययून: ।।[1]

यह नवोढ़ा विश्रब्धता की श्रेणी में आ गई है क्योंकि नायक के समीप तक पहुँच जाना ही इस बात का द्योतक है।

भानुदत्त की नायिका के समान उक्त रीतिकालीन कवियों की नायिकायें भी विश्रब्ध होने के कारण अपने-अपने प्रियतमों के समीप तो पहुँच जाती हैं, किन्तु प्रिय द्वारा स्पर्श पर लज्जा का ही अनुभव करती है। अत: जिस प्रकार भानुदत्त की नायिका प्रिय के समीप सोते समय अपनी नीवी और अपने स्तनों पर हाथ रखकर उन्हें नायक के स्पर्श से बचाती हुई सोती है, उसी प्रकार पद्माकर की नायिका अपनी छाती को स्पर्श नहीं करने देती, बल्कि मुस्कान द्वारा अपनी हृदय की भावना को स्पष्ट कर देती है। इसी प्रकार मतिराम की नायिका भी प्रिय के समीप केवल रसीली बातें ही चाहती है किन्तु "दुख न दीजिए लाल" कहकर लज्जावशात् रति का निषेध करती है। यद्यपि नायिकाओं के ये कथन केवल दिखावटी होते हैं अथवा लज्जा-जनित होते हैं लेकिन हृदय से वे निषेध नहीं करती हैं बल्कि हृदय में तो यही चाहती हैं कि प्रिय शीघ्र ही उनका आलिङ्गन करे।

मध्या स्वकीया

मुग्धा के पश्चात् स्वकीया नायिका का दूसरा रूप मध्या नायिका है। मध्या नायिका में मुग्धावस्था की लज्जा और संकोच की धीरे-धीरे समाप्ति हो जाती है। उसके अंग-प्रत्यंग में यौवन का पूर्ण विकास हो जाता है। मध्या की लज्जा इतनी प्रबल नहीं होती कि उसके कामवेग को दबाने में समर्थ हो सके और न ही मन्मथ उसकी लज्जा को दबा पाता है। अत: लज्जा और मदन का समान आवेग उसमें रहता है।

चित्र में अपने प्रिय को देखती हुई मतिराम की मुग्धा नायिका दर्शनीय है--

चित्र में विलोकत हीं लाल को वदन बाल
जीते जिहि कोटि चंद सरद-पुनीम के।

---

१. रसमंजरी--हिन्दी व्याख्या सहित--श्लोक ८, पृ० १३

मुसकानि अमल कपोलन में छविवृन्द,
चमकै तर्यौननि की रुचिर चुनीन के ।
प्रीतम निहार्‌यो बाँह गहन अचानक ही
जागै "मतिराम" मन सकल मुनीन के ।
गाढ़े गही लाज मैन, कठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन-वारि बरुनीन के ॥[1]

कोटि शरद पूर्णिमाओं की चन्द्रद्युति को जीतने वाली शोभा से सम्पन्न, उज्ज्वल हँसी तथा विकसित कपोलों पर ताटङ्क के छोटे-छोटे हीरकणों की प्रतिच्छाया से युक्त नायिका नायक के चित्रदर्शन में निमग्न है । तभी प्रिय अचानक उसकी बाँह पकड़ लेता है जिसके कारण नायिका के ऊपर लज्जा और कामदेव—दोनों ने मानों एक साथ आक्रमण कर दिया । वाणी कंठ तक आकर रुक गई और बरौनियों के निचले भाग पर हर्षाश्रु की बूँदें झलकने लगती हैं ।

संस्कृत काव्यों में प्रिय को चित्र में देखने की कल्पना बहुत से कवियों ने की है । उदाहरण के लिए नैषधकार श्रीहर्ष द्वारा रचित इस वर्णन को ले सकते हैं जिसमें नायिका दमयन्ती प्रिय के रूप की तुलना अपने रूप से करती है—

"इति स्म सा चारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥"[2]

किन्तु इस प्रकार के चित्र देखते-देखते प्रिय के उपस्थित होने की कल्पना केवल नाममात्र के लिए प्राप्त होती है । अतः चित्र की कल्पना तो यहाँ कवि की परम्परागत ही है किन्तु प्रिय का आना और प्रिया के हृदय में लज्जा उत्पन्न होने का भाव संस्कृत में नहीं के बराबर ही आ सका है । नायिका के 'गाढ़े गही लाज मैन" से भाव यह निकलता है कि नायक के द्वारा बाँह पकड़ने से नायिका के शरीर में प्रिय के साथ रति सुख की कल्पना से प्रसन्नता होती है किन्तु लज्जा से वह अपने भाव को प्रकट नहीं कर पाती है । अतः इससे नायिका के मध्या नायिका के हृदय की अभिव्यक्ति हो जाती है । भाव और भाषा की दृष्टि से यह छन्द निस्सन्देह अतीव सुन्दर बन पड़ा है ।

बिहारी की मध्या नायिका का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

रँगी सुरत रँग पियहियँ लगी जगी सब राति ।
पैंड पैंड पर ठिठकि कै ऐंड भरी ऐंडाति ॥[3]

नायिका सुरति के विलास में पूर्णतः अनुरक्त होकर सारी रात पति के कण्ठ

१ मतिराम-ग्रन्थावली-रसराज-छन्द ३१
२ नैषध-प्रथम सर्ग-श्लोक ३८
३ बिहारी रत्नाकर—दोहा-१८३

से लगी रही है, यही कारण है कि दिन में पग-पग पर चलने में ठिठकती है तथा रतिश्रम और रात्रि में जागरण के कारण अँगड़ाई लेती हुई अभिमान का प्रदर्शन कर रही है।

अँगड़ाई लेने से और ठिठकने से मध्या की लज्जा का आभास हो जाता है। इसी भाव से युक्त कुट्टनीमत की नायिका हारलता का चित्र भी यहाँ दर्शनीय है—

मोहनविमर्दखिन्ना विजृम्भमाणा स्खलद्गतिर्मन्दम् ।
निद्राकषायिताक्षी हारलता वासवेश्मनो निरगात् ॥[1]

नायिका हारलता भी प्रिय के साथ की गई सुरत-क्रीड़ा की पीड़ा से इतनी थक जाती है कि जँभाई लेती हुई नीद के कारण लड़खड़ाती चाल से आँखों मे नींद भरे हुए सम्भोग गृह से धीरे-धीरे निकल जाती है।

बिहारी के उक्त दोहों में नायिका का पग-पग पर ठिठकना तथा "ऐंड़ भरी ऐंड़ाति" से उसके मध्यात्व के लक्षणो का पता चल जाता है क्योंकि मुग्धा होने पर ऐसी स्थिति अधिक लज्जा के कारण तथा प्रौढ़ा होने पर प्रौढ़त्व के कारण होनी असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त सुरति के अन्त में थकान होने से अँगड़ाई लेने की क्रिया स्वाभाविक ही होती है। अतः सुरति के पश्चात् जो अवस्था बिहारी की नायिका की है वही अवस्था कुट्टनीमतकार की नायिका की भी है। इस दृष्टि से दोनों कवियों के प्रसंगों में बहुत कुछ समानता है।

प्रौढ़ा स्वकीया

मुग्धा तथा मध्या के पश्चात् स्वकीया नायिका का प्रगल्भा अथवा प्रौढ़ा का रूप सम्मुख आता है। प्रौढ़ा होने पर नायिका के हृदय से लज्जा अथवा झिझक समाप्त हो जाती है। अतः इस नायिका में काम-वासना अपनी चरम सीमा पर दृष्टि-गत होती है। वह प्रत्येक क्षण अपनी वासना की तृप्ति चाहती है। अतः प्रिय के बिना उसे रात-दिन कुछ भी अच्छा नहीं लगता। लोक लाज, गुरुजनों के प्रति भय एवं कहने अथवा न कहने योग्य बात का भी उसे पता नहीं रहता है। अतः आचार्यों ने उसकी चेष्टाओं के अनुरूप ही उसे प्रगल्भा अथवा प्रौढ़ा नायिका की संज्ञा दी है। रसमंजरीकार के अनुसार यह नायिका एकमात्र अपने पति की समस्त केलि-कलापों में प्रवीण रहती है।[2] रति मे वह प्रीत, आनन्द तथा सम्मोह का अनुभव करती है। यहाँ केवल पति के साथ ही केलि कलाप का वर्णन किया गया है, अन्य के साथ नहीं। यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है।

---

१ कुट्टनीमत—काव्य—अनुवादक अत्रिदेव विद्यालंकार श्लोक ३९१

२. रसमंजरी—सुषमा हिन्दी व्याख्या सहित—प्रगल्भा तथा उसकी चेष्टा—लक्षण—पृष्ठ १६

रीतिकालीन कवियो ने इन्ही लक्षणो के आधार पर अपने उदाहरणो का सृजन किया है। बिहारी ने प्रौढा नायिका का उदाहरण देते हुए रति-क्रीडा मे पति द्वारा खण्डित अधर को निहारकर प्रौढा की प्रसन्नता को सुन्दर ढग मे दर्शाया है—

छिनकु उघारति छिनु छुवति राखति छिनकु छुपाइ।
सब दिनु पिय खण्डित अधर दरपन देखत जाइ ॥[1]

रात्रि मे प्रिय द्वारा रति-क्रीडा के अन्तर्गत खण्डित अधर को प्रौढा नायिका क्षण भर को तो उघाड लेती है और क्षण भर को स्पर्श करके छिपा लेती है। इस प्रकार नायिका का समस्त दिन खण्डित अधर को दर्पण मे देखते हुए ही समाप्त होता है। प्रौढा नायिका की इस प्रकार लज्जा और प्रसन्नता दोनो का ही आभास हो रहा है।

अधरादि अग का प्रिय द्वारा खण्डित हो जाना रति चिह्नो का द्योतक है। प्रियतमायें अपने प्रियतम से प्राप्त इस उपहार पर अत्यन्त ही प्रसन्न होती हैं। कालिदास की नायिका भी इसी प्रकार अपने रति चिह्न को इसी प्रकार खीचकर अर्थात् स्पर्श करके देखती है--

काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तहस्ता
बालातपेषु वनिता वदनारविन्दम्।
दन्तच्छद प्रियतमेन निपीतसार
दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च ॥[2]

प्रभात काल हाथ मे दर्पण लेकर अपने मुख कमल का शृगार करती हुई कोई सुन्दरी प्रियतम द्वारा रस लिए जानेवाले अपने उन ओठो को खीचकर देख रही है जिनपर प्रियतम के बनाये दन्तक्षत सुशोभित हो रहे हैं।

नायिका का यहाँ ओठो पर बने रति चिह्नो को देखना उसकी प्रसन्नता का ही द्योतक है। बिहारी के उक्त दोहे पर स्पष्ट रूप से कालिदास के प्रस्तुत श्लोक की ही छाप विद्यमान है। स्यात बिहारी ने उक्त प्रसग को अत्यन्त सरस रुचि के साथ लेकर अपने प्रसग मे अपार माधुर्य का समावेश कर दिया। कालिदास की नायिका केवल प्रभात काल मे ही केवल रति-चिह्न अर्थात् अधर की खण्डित अवस्था को देखती प्रतीत होती है जबकि बिहारी की नायिका समस्त दिन केवल अधर-चिह्न को देखने के कारण ही दर्पण के समक्ष बैठी हुई है। अत कालिदास की नायिका की अपेक्षा बिहारी की नायिका के हृदय मे प्रिय द्वारा दिए गए रति के उपहार स्वरूप अधर चिह्न को देखकर अधिक प्रसन्नता का अनुभव प्रतीत होता है। तथा 'छिनकु

---

१. बिहारी रत्नाकर—दोहा ६६५ (चतुर्थ सस्करण)

२ ऋतुसहार—चतुर्थ सर्ग—हेमन्तऋतु—श्लोक १८

उघारति, छिनु छुवति, राखति छिनकु छुपाई' इन शब्दों को अलग करके देखने पर शब्दों द्वारा वर्णन-सौन्दर्य तो ध्वनित होता ही है, साथ ही नायिका की हृदयगत अपार प्रसन्नता भी उद्भासित हो जाती है ।

प्रिय के साथ रात्रिभर रमण करने वाली मतिराम की प्रौढ़ा का चित्र भी दर्शनीय है—

प्रान प्रिय मन भावन संग अनंग-तरंगनि रंग पसारे ।
सारी निसा 'मतिराम' मनोहर, केलि के पुंज हजार उघारे ।।
होत प्रभात चल्यौ चहै प्रीतम, सुन्दरि के हिय मै दुख भारे ।
चन्द सो आनन, दीप सी दीपति, स्याम सरोज से नैन निहारे ।।[1]

प्रिय नायक के साथ प्रिया ने समस्त रात्रि में अनङ्ग की तरङ्गों को प्रसारित किया तथा सुरत-लीला की हजारों क्रीड़ाओ को प्रकाशित किया । प्रभात होते ही प्रिय उसके पास से चलना चाहता है, इसीलिए सुन्दरी के हृदय मे भारी दुःख उत्पन्न हो गया है । उस समय उसका मुख दिन में चन्द्र और अङ्गो की कान्ति दीपक की लौ के समान रह गई तथा दोनों नेत्र नील कमल के समान दिखाई पड़ने लगे । अर्थात् प्रातःकाल होने पर जैसे चन्द्र, दीपक और नील कमल शोभा विहीन हो जाते हैं, वैसे ही पति के पास से जाने पर प्रिया की मुख कान्ति विवर्ण हो जाती है । कवि का तात्पर्य स्पष्ट है कि नायिका को प्रिय के साथ रति-केलि करने में विशेष आनन्दानुभूति होती है । अतः वह रतिप्रीतिमती प्रगल्भा की कोटि मे आती है ।

मतिराम का यह वर्णन यद्यपि मौलिक है किन्तु कवि ने प्रेरणा संस्कृत काव्यो से ही ग्रहण की है क्योकि सस्कृत काव्यो में सुरत के जो विविध प्रकार दिए है, उनको यहाँ कवि ने 'केलि के पुंज' कहकर अभिव्यंजित कर दिया है । कवि बिल्हण ने अनेक विधियों से सुरत-क्रीडा सम्पादित करने वाली अपनी नायिका को सुरत ताण्डव सूत्रधारी कहकर सम्बोधित किया है—

अद्यापि तां सुरतताण्डवसूत्रधारी
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखी मदविह्वलाङ्गीम् ।[2]

इसी प्रकार रात्रि की समाप्ति पर प्रिय के अलग होने से नायिका को दुख होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार श्रीहर्ष की नायिका दमयन्ती दर्शनीय है—

वासरे विरहानिः सहा निशां
कान्तसङ्गसमयं समैहत ।।[3]

---

१. मतिराम-ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ३४
२. बिल्हणकृत–चौरपंचाशिका–सम्पा० : एस० एन० ताडपत्रीकर, एम० ए० श्लोक–७
३. नैषधचरित–सर्ग अठारहवाँ–श्लोक ५५, पृ० ४८९

प्रकट है कि दिन में विरह सहन करने के लिए असमर्थ दमयन्ती पति के साथ सहवास कराने वाली रात्रि की कामना करती है।

मतिराम के उक्त प्रसंग के प्रेरणा स्रोत इस प्रकार के संस्कृत काव्यों के अन्तर्गत आये हुए अनेक वर्णन हो सकते हैं किन्तु कवि ने अनेक कथनों को एक स्थान पर समेट कर प्रसंग की मौलिक उद्भावना की है और उसे अत्यन्त ही रमणीय बनाकर प्रस्तुत किया है। भाव, भाषा और शब्द योजना इत्यादि की दृष्टियों से प्रसंग अतीव रमणीय बन पड़ा है।

कवि देव ने प्रौढा की सुरत के अनेक चित्रों को उद्घाटित किया है। प्रौढा नायिका के जो आभूषण विहार में टूटकर गिर गये थे, उन्हें प्रिय ने पुन नायिका के अङ्गों पर यथास्थान लगा दिया, यथा—

हार विहार में टूटि परे अरु भूषन छूटि परे हैं समूलनि।
जोरि सबै पहिरायो सम्हारि के अंग सम्हार सुधारि दुकूलनि।
सीतल सेज बिछाइकै बालम बाल मृनालनि के दल मूलनि।
बैसिये बेनी बनाइ लला गहि गूँथ्यो गोपाल गुलाब के फूलनि॥[1]

प्रिय के साथ रति-क्रीडा करने पर प्रियतमा के हार टूट जाते हैं एवं भूषण भी समूल रूप से अलग हो जाते हैं। तब प्रिय सभी आभूषणों को एक साथ जोड़कर प्रिया के दुकूल को सम्हालते हुए पहना देता है। तत्पश्चात् प्रिय शीतल सेज बिछाकर मृणालों के दलों से पहले के समान ही वेणी को सुन्दर बनाकर गुलाब के फूलों को उसमें गूँथ देता है।

कालिदास ने भी नायिका पार्वती के शरीर पर प्रियतम शिव द्वारा विभिन्न अंग-प्रत्यंगों पर आभूषण पहनाने की कल्पना अलग-अलग श्लोकों में की है।[2] एवं सम्भोग क्रीडा के अन्तर्गत बिखरे पुष्पों से केशपाश को सजाने की योजना निम्नलिखित श्लोक से विदित हो जाती है—

स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या
स्रजा बबन्धामृतमूर्तिमौलिः।
+ + +
कपोलपाल्या मृगनाभिचित्र
पत्रावलीभिन्दुमुख सुमुख्या॥[3]

सम्भोग के समय प्रिया पार्वती के केश खुल जाते हैं। वह केश-राशि उनके

---

१ देव ग्रन्थावली—भाव विलास—चतुर्थ विलास—छन्द ४६, पृ० १०२
२ कुमारसम्भव—नवम् सर्ग—श्लोक २२,२३,२४,२५
३ कुमारसम्भव—नवम् सर्ग—श्लोक २१,२२

कंधों पर बिखर जाती है तथा केशपाश में लगे पुष्प भी गिर जाते हैं। शंकर जी तब पारिजात के पुष्पों की माला द्वारा उस केशराशि को पुनः बांध देते हैं। अर्थात् पारिजात की पुष्प-मालिका द्वारा केश राशि को सजा देते है।

देव-काव्य का उक्त वर्णन कालिदास के भाव से पूर्ण रूप से सामंजस्य स्थापित किये हुए है। क्योंकि सम्भोग के समय जिस प्रकार देव की नायिका के पुष्प गिर जाते हैं, और पुनः उन्हें नायक सँभालता हुआ उसके बालों मे लगाता है, उसी प्रकार का भाव कालिदास ने भी प्रस्तुत श्लोक में अभिव्यक्त किया है। तथा भूषणो का सँभालने का उल्लेख कवि ने भिन्न-भिन्न श्लोको में किया है जैसा कि कालिदास के उक्त वर्णन के प्रारम्भ में सकेत किया जा चुका है। कवि देव का लाघव यही है कि उसने एक ही पद में कई भावों की अभिव्यक्ति की है। एवं 'सीतल सेज' को पुनः बालम द्वारा बिछाने की भाव-योजना भी नवीन एवं रमणीय बन पड़ी है।

मध्या और प्रौढ़ा के भेद

आचार्यों ने मध्या और प्रगल्भा अथवा प्रौढ़ा नायिकाओ के धीरा, अधीरा तथा धीरा-धीरा नामक तीन-तीन भेद किए हैं। रसमजरीकार ने तीनों भेदों को प्रकट करते हुए कहा है कि—

"मध्याप्रगल्भे प्रत्येकं मानावस्थायां त्रिविधा।
धीरा, अधीरा, धीराधीरा चेति॥"[1]

ये तीनों भेद नायक के दूसरी नायिका के साथ रमण के आधार पर ही किये गये हैं। जब प्रिय दूसरी नायिका के पास रात भर रहकर घर वापस आता है तो स्वकीया के क्रोध की सीमा नहीं होती। यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रौढ़ा और मध्या की धीरा, अधीरा, धीरा-धीरा को स्थिति मे रहने पर चेष्टायें, भावनायें एवं क्रियायें लगभग समान ही रहती हैं। अतः इस दृष्टि को ध्यान में रखकर मध्या और प्रौढ़ा को भिन्न-भिन्न रूपों में न देखकर धीरा, अधीरा, धीरा-धीरा इन तीनों रूपों को एक साथ लेना ही श्रेयस्कर समझा गया है।

धीरा

जो मध्या अथवा प्रौढ़ा नायिका अपने पति के अन्यत्र रमण का कारण समझकर भी पति के प्रति अपने क्रोध को स्पष्ट रूप से लक्षित नहीं होने देती अपितु उस क्रोध को व्यंग्यादि के माध्यम से व्यक्त करती है, उसे धीरा, मध्या अथवा धीरा प्रौढ़ा कहा जाता है। बिहारी की धीरा नायिका का यह चित्र दर्शनीय है जहाँ कि नायिका के मुख के ऊपर कितनी 'रिस' विद्यमान है—

---

१. रसमंजरी-हिन्दी व्याख्यासहित-पृ० १८

ललकि लोल लोचन भए सुनत नाह के बोल ।
ऊपर की रिस क्यों दुरै हाँसी भरे कपोल ॥[1]

प्रियतम के बोल सुनकर ही नायिका के नेत्र प्रसन्न होकर सौन्दर्यपूर्ण हो गये, किन्तु हँसी से भरे कपोलों के अन्तर्गत भला ऊपर का क्रोध किस प्रकार छिप सकता है। अत नायिका का क्रोध व्यंजित हो ही जाता है। "हाँसी भरे कपोल" से नायिका की व्यंगात्मक हँसी का आभास हो रहा है।

अमरुशतक का भाव भी बहुत कुछ इससे मिलता जुलता है। वहाँ भी नायिका प्रिय के आगमन पर प्रसन्न तो होती है किन्तु कुछ बोलती नहीं, यथा–

एकत्रासनसंस्थिति परिहृता प्रत्युद्गमाद्दुरत–
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नित ।
आलापोऽपि न मिश्रित परिजन व्यापारयन्त्यान्तिके–
कान्त प्रत्युपचारतश्चतुरया कोप कृतार्थीकृत ।[2]

अर्थात् नायिका दूर से ही प्रिय को आते हुये देखती है तो उठकर स्वागत के बहाने उसे अपने साथ बैठने नहीं देती, ताम्बूल लाने के बहाने प्रिय के आकुल आलिङ्गन को भी रोक देती है और प्रिय के कुछ पूँछने पर आस पास में स्थित सेवकों की ओर संकेत करके उत्तर देने से भी छुटकारा पा लेती है। इस प्रकार प्रिय के प्रति स्वागतोपचार का निर्वाह कर नायिका अपने क्रोध को सफल कर लेती है।

उक्त बिहारी की नायिका के समान प्रिय के आगमन पर अमरुशतक की नायिका भी प्रसन्न होती है, तभी तो प्रिय के स्वागत में खड़ी हो जाती है, क्योंकि प्रिय से जिस नायिका का प्रेम नहीं होता, उसके द्वारा प्रिय के स्वागत में उठने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बिहारी की नायिका के क्रोध की सूचना "हाँसी भरे कपोल" द्वारा प्राप्त होती है अर्थात् "हाँसी भरे कपोल" से यह ध्वनि निकलती है कि प्रिय जैसे ही घर आता है तो नायिका व्यंगात्मक हँसी हँसती है जिसमें कि प्रिय के अन्यत्र रमने पर नायिका के हृदय की व्यथा का सम्मिश्रण है। अत क्रोध हँसी के माध्यम से व्यक्त हो जाता है। दूसरी ओर अमरुशतक की नायिका हँसती तो नहीं है बल्कि अपने क्रिया-कलापों और प्रिय की बातों का उत्तर देने में चुप्पी साधकर अपने खण्डित हृदय के आवेग को व्यक्त कर देती है।

मतिराम की नायिका भी अमरुशतक की उक्त नायिका के समान ही अपने प्रिय से अपराध करने पर कुछ भी नहीं बोलती है तथा प्रियागमन पर उससे उन्मत होकर ही मिलती है–

---

१ बिहारी रत्नाकर – दोहा ६६, उपस्करण-२

२ अमरुशतक – श्लोक १८

ढीली बाहुन सों मिली, बोली कछू न बोल।
सुन्दरि मान जनाय यों लियो प्रानपति मोल ॥[1]

प्रिय के प्रातः काल आने पर नायिका ढीली बाँहों से ही उसका आलिङ्गन करती है तथा कुछ भी नहीं बोलती है। इन चेष्टाओं से सुन्दरी नायक पर अपना मान प्रकट कर देती है। तब पति को नायिका का क्रोध मालूम हो जाता है तभी तो वह उसके हाथों बिक जाता है।

अमरुशतक की उक्त नायिका अपने प्रिय से मान के कारण मिलने की इच्छा ही नहीं करती उसी प्रकार मतिराम की नायिका के हृदय में भी मान जनित क्रोध के कारण प्रिय से मिलन की इच्छा नहीं है तभी तो वह प्रिय से ढीली बाहों से मिलती है तथा अमरुशतक की नायिका जैसे प्रिय से नहीं बोलती है, उसी प्रकार मतिराम की नायिका भी कुछ नहीं बोलती है। मतिराम की दूसरी पंक्ति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है क्योंकि प्राण पति के सम्मुख मान प्रदर्शन कर उसे मोल लेना अर्थात् प्रिय को इस प्रकार उत्कृष्ट रूप में आकर्षित कर लेना, यह उक्ति रमणीय तो है ही साथ ही नायिका के मान की समाप्ति की ओर भी संकेत करती है।

प्रिय के रात्रि में दूसरी के समीप रमकर प्रातः काल में आने पर देव की नायिका दूसरी भाँति क्रोध करती है। वह प्रिय के सम्मुख अपना कोप सहसा प्रकट नहीं करती—

"क्रोध कियो मन-भावन सों सु छिपाइ लियो पिकबैनी के बोलनि।
राख्यो हियो अति ईर्षा बाँधि खुल्यो उन घूँघट को पट खोलनि।
ज्यों चितई इतआली की ओर भुगाँठि छुटी भरि भौंह बिलोलनि।
लोइन कोइन ह्वै उझक्यो सु बताइ दियो कँपि कोप कपोलनि ॥[2]

अन्यत्र रात्रि बिताकर प्रातः काल आये हुए प्रिय के ऊपर नायिका को जो क्रोध आता है उसे अपनी वाणी में ही छिपा लेती है, ईर्ष्या में बँधे हुए हृदय के घूँघट पट को भी खोल देती है, सखी की ओर वह जैसे ही देखती है कि भौंहों के विलोड़न में प्रिय के प्रति ईर्ष्या की गाँठ भी खुल जाती है अर्थात् प्रिय के प्रति कोप की अभि-व्यक्ति हो जाती है। आँखों के लाल कोयों से कोप प्रकट हो जाता है तथा कपोलों को कंपित करते हुए भी नायिका प्रिय के सम्मुख क्रोध की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति दे देती है। इस प्रकार नायिका का क्रोध उसके कार्य कलाप एवं भाव भंगिमाओं से ही सूचित हो जाता है।

---

१. मतिराम ग्रन्थावली – रसराज – पृष्ठ ४८
२. देव ग्रन्थावली – भाव विलास – चतुर्थ विलास – छन्द ५६, पृष्ठ १०४

अमरुशतक की नायिका का क्रोध भी उसके कार्य कलापों एवं क्रियाओं द्वारा ही व्यक्त होता है–

नान्त प्रवेशमरूणद्विमुखी न चासी–
दाचष्ट रोषपरुषाणि न चाक्षराणि ।
सा केवल सरलपक्ष्मभिरक्षिपातै
कान्त विलोकितवती जननिर्विशेषम् ॥[1]

अपराधी प्रियतम के ऊपर क्रोधित प्रिया न तो घर के अन्दर आने से मना करती है, न मुख फेरती हुई कठोर वचन ही कहती है बल्कि सीधी भौहो वाली दृष्टि से प्रिया को एक सामान्य व्यक्ति की भाँति केवल देख लेती है ।

देव की नायिका के समस्त कार्य-कलाप ऐसे हैं जोकि मौन रूप मे ही चलते है । अत अमरुशतक के इस भाव से प्रभावित होकर ही देव ने स्यात् उक्त भाव की रचना की है । अमरुशतक की नायिका जिस प्रकार अपराधी प्रियतम से कुछ नही बोलती है उसी प्रकार देव की नायिका भी प्रिय के सम्मुख पूर्ण रूप से मौन बनी रहती है । किन्तु देव की नायिका के मौन रहने पर भी उसका क्रोध सखी की ओर भौहो के विलोडन और कपोलो के कंपित करने पर व्यक्त हो जाता है । जबकि अमरु की नायिका का रोष अपराधी प्रिय को सामान्य व्यक्ति की भाति किंचित अवलोकन मात्र से व्यक्त होता है ।

अधीरा

धीरा तो नायक के अपराध पर केवल व्यंग्योक्ति अथवा नायक को लज्जित करने वाले कार्य-कलापो का ही प्रदर्शन करके चुप रह जाती है, जबकि अधीरा गम्भीर न रहकर क्रोध तथा अधैर्य के कारण अपने मुख से नायक को कठोर शब्द कहती हुई, कभी-कभी नायक के ऊपर हाथ भी उठा बैठती है ।

बिहारी का प्रस्तुत चित्र दर्शनीय है–

लाज चोरि अँचई सबै, अरु उरु दीन्यौ नाखि ।
नाही सो बातनि लगौ जा सौं लागी आँखि ॥[2]

मानिनी नायिका नायक को सम्बोधित करती हुई स्पष्टीकरण कर देती है, नायक ने डर तो समाप्त कर दिया, सबके प्रति लज्जा को पी लिया । अर्थात् *अन्त मे नायिका उससे यही कह देती है कि वह उसी के पास चला जाय जिससे कि* उसकी आँखें लगी हैं । निस्संदेह कितनी मार्मिक चोट है ।

---

१ अमरुशतक – श्लोक ११४, पृष्ठ १३७

२ बिहारी रत्नाकर – उपस्करण २ –दोहा २४

विहारी की नायिका के समान मतिराम की नायिका भी प्रिय का तिरस्कार करती है। मतिराम की नायिका प्रिय के शरीर पर अन्य रमणी के रति चिह्नों को भी देखती है। अतः स्वाभाविक रूप से अपना क्रोध प्रकट करती हुयी नायक को उसी पराङ्गना के पास जाने को कहती है—

वलय पीठितरिवन भुजन, उर कुच-कुंकुम छाप।
तितैं जाहु मन भावते, जितै विकाने आप॥[1]

इसी प्रकार देव की नायिका भी प्रिय के शरीर पर अन्य नायिका के रति चिन्हों को देख कर अत्यन्त क्रोध सूचक दृष्टि से देखकर अपने अधीरत्व को प्रकट कर देती है—

पीक भरी पलकैं झलकैं अलकैं जु गड़ी सुलसैं भुज खोज की।
छाय रही छवि छैल की छाती मैं छाप वनी कहुँ ओछे उरोज की।
ताही चितौति वड़ी अँखियान तें ती की चितौनि चली अति ओज की।
वालम ओर विलोकिकैं वाल दई मनो खैंचि सनाल सरोज की॥[2]

गीत-गोविन्द की मानिनी अधीरा नायिका राधा भी अपने प्रिय के शरीर पर अन्य-अङ्गना के रति चिन्हों को देखकर अत्यन्त क्रोधित हो जाती है। इसीलिए वह अपने प्रिय का तिरस्कार करती है—

कज्जलमलिनविलोचनचुम्बनविरचितनीलिपरूपम्।
दशनवसनमरुणं तव कृष्ण तनोति तनोरनुरूपम्॥ २॥

\+ \+ \+

तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम्॥ १॥[3]

अन्य अङ्गना के काजल से मलीन नेत्रों के चुम्वन से नायक कृष्ण के लाल-लाल ओठ नीले पड़ जाते हैं तथा वे कृष्ण के शरीर मे ही मानों मिल जाते हैं, इस लिए मानिनी प्रिय को डाँटती है कि "हे माधव ! आप उसी नायिका के पास जाओ, जो आपके कष्टों को दूर करती है।"

उपर्युक्त विहारी, मतिराम और देव तथा संस्कृत कवि गीत-गोविन्द जयदेव इन चारों कवियों के भाव आपस में वहुत कुछ समानता लिये हैं। विहारी की नायिका जव प्रिय के आने पर वस्तु स्थिति को अच्छी तरह भाँप लेती है तो नायक का तिरस्कार कर उसे डाटती हुई उसी रमणी से वात करने को कहती है जिससे नायक की

---

१. मतिराम ग्रन्थावली – रसराज – छन्द ४२
२. देव ग्रन्थावली – भाव विलास – चतुर्थ विलास – छन्द ५८
३. गीत गोविन्द – व्याख्याकार श्री केदारनाथ शर्मा –आठवाँ सर्ग – अष्टपदी १७, पद सं० २, पृ० ४४

आँखें लगी हैं। मतिराम की नायिका प्रिय के शरीर पर परस्त्री रमण के रति चिन्ह देख क्रोध करती हुयी बिहारी की नायिका के समान नायक से उसी स्त्री के पास जाने को कहती है, जिसके हाथ वह बिक गया है। देव की नायिका भी पति के अंगों पर दूसरी रमणी के रति चिन्हों को देख अपनी आँखों को तरेर कर मानों अवलोकन मात्र से अपने प्रिय के मध्य में सरोज की नाल खींच देती है। कवि का इससे तात्पर्य यह है कि नायिका अपार क्रोध के कारण बोल तो नहीं पाती किन्तु यह प्रकट कर देती है कि उसका नायक से अब कोई सम्बन्ध नहीं है। अत वह उस (नायिका) के समीप न आकर दूसरी रमणी के पास ही चला जाय। गीत-गोविन्द का भाव तो इन तीन कवियों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। केवल रति-चिन्हों के दर्शाने में ही अन्तर हो सकता है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त तीनों कवियों ने गीत-गोविन्द से प्रेरित होकर ही अपने भावों की अभिव्यक्ति दी है। रमणीयता की दृष्टि से चारों कवियों के भाव अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

पद्माकर की अधीरा नायिका तो प्रिय को पड़ोस से पकड़ कर ले आती है और मार लगाती है—

रोस करिपकरि परोस तें लियाइ घरै
पी को प्रानप्यारी भुजलतनि भरैं भरैं।
कहैं पद्माकर न ऐसो दोस की ज्यों फिरि
सखिन समीप यों सुनावति खरैं खरैं।
त्यों छल छपावैं बात हँसि बतरावैं तिय
गदगद कंठ दृग आँसुन झरैं झरैं।
ऐसी धनि धन्य धनी धन्य है सु वै सो जाहि
फूल की छरी सों खरी हनति हरैं हरैं॥[1]

पर-स्त्री के साथ रमण करके आये हुये अपराधी प्रिय को प्राणप्यारी अपनी भुजा रूपी लताओं में भरकर घर के अन्दर ले आती है फिर सखियों के समीप खड़ी हुई उससे इस प्रकार कहती है कि ऐसा दोष पुन तो नहीं करोगे। प्रिय अपने छल को छिपाता है और हँस कर बतलाता है। तब नायिका का कंठ गदगद हो जाता है और नेत्रों से आँसू झरने प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा वह प्रिय निस्सदेह धन्य है जिसे प्रिया खड़ी होकर फूल की छड़ी से धीरे-धीरे मारती है।

अमरुशतक का इसी भाव से मिलता-जुलता भाव इस प्रकार है—

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेनबद्ध्वा दृढ
नीत्वावासनिकेतन दयितया सायं सखीना पुर ।

1 पद्माकर ग्रन्थावली – जगद्विनोद – छन्द ७०

भूयोऽप्येवमिति स्खलन्मृदुगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान्रुदत्या हसन् ॥[1]

अमरु की यह प्रगल्भा अधीरा नायिका प्रिय के अन्यत्र जाने से अत्यन्त ही व्यथित है। अतः सांझ के समय वह अपने अपराधी प्रियतम को कोपवश अपनी कोमल बाहुलतिका के पाश में कसके बांधकर अपने निवास-स्थान में ले आती है, सखियों के सामने ही लीला-कमलो से उसे मारती है और भरे गले से कोमल स्वर में यह कहकर कि "फिर तुम ऐसा करना तो", उसका अपराध सखियों के समक्ष जतलाती जाती है, पर स्वयं भी वह रोती ही जाती है और बड़भागी प्रेमी अपनी गलती की सफाई देता हुआ मुस्कुराता ही रहता है।

उक्त अवतरणों में पद्माकर ने "भुजलतनि" और अमरु ने "बाहुलता" की यह साभिप्रायता व्यक्त की है कि विरह से नायिका की भुजायें दौर्बल्य की स्थिति को प्राप्त हो गई हैं और लतिका के तुल्य प्रिय के समागम के समय उनमें चांचल्य का भाव जाग्रत हो गया है। पद्माकर की नायिका जिस प्रकार अपने प्रिय को भुजाओं में भर कर लाती है, उसी प्रकार अमरु की नायिका भी प्रिय को भुज-पाश मे बांध कर लाती है। दोनों ही नायिकाये अपने-अपने प्रिय को सखियों के सामने दण्ड भी देती हैं किन्तु प्रिय तो उस दण्ड से हर्षित भाव विभोर होते हैं जबकि प्रियाओं को उससे दुःख होता है। अतः प्रियों को मारते हुए स्वयं ही रोती हैं। पद्माकर ने पड़ोस से पकड़ने की कल्पना द्वारा यह भाव स्पष्ट किया है कि नायक नित्यप्रति पड़ोस में ही रमता है, इसीलिए तो अवसर पाने पर अमरु की नायिका चूकती नहीं और प्रिय को पड़ोस से जबरदस्ती ले ही आती है। पद्माकर की नायिका प्रिय को फूलों की छड़ी से मारती है और अमरुशतक की नायिका लीला कमलों से। अतः थोड़ा-सा सूक्ष्म अन्तर है कोई विशेष अन्तर नहीं। ऐसा लगता है कि पद्माकर ने अमरुशतक का न केवल भाव ग्रहण किया है अपितु भावानुवाद ही कर दिया है।

धीराधीरा नायिका

धीराधीरा नायिका की स्थिति गाम्भीर्य और क्रोध दोनो के बीच की रहती है। नायक के अपराध पर वह कभी तो रोने लगती है और कभी प्रत्यक्ष में क्रोध करती हुई मौन हो जाती है। धीराधीरा की प्रौढ़त्व की अवस्था में ऐसी भी दशा हो जाती कि वह अपना क्रोध न छिपाकर स्पष्ट ही अपनी खीस का निदर्शन नायक के समक्ष चुभते हुए व्यंग्यबाणों द्वारा करती है।

बिहारी की नायिका, परकीया के साथ रात्रिभर रमकर आये नायक द्वारा प्रश्न करने पर कितनी मर्मभेदी उक्ति द्वारा उत्तर देती है—

1. अमरुशतक—श्लोक ९

बाल कहालाली भई, लोइन कोइनु माँह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की, परी दृगनु में छाँह ॥[1]

नायक प्रात काल के समय स्वकीया के समीप आया है। उसकी आंखो मे अन्य स्त्री के साथ रात्रिभर जागरण से लाली छाई हुई है तथा इधर नायिका की आँखें भी रोष के कारण लाल हो जाती है। यह शठ नायक नायिका की आंखो की लाली का कारण नायिका के कुछ कहने के पूर्व ही अनभिज्ञ सा होकर इस प्रकार पूछता है कि हे प्रिये! तुम्हारी आंखो के कोयो मे लाली क्यो आई है? यह प्रश्न सुनकर नायिका भी बडे लाघव से व्यग्यपूर्वक उत्तर देती हुई कहती है कि लाल! तुम्हारे दृगो की आभा ही मेरी आंखों मे पडी है। नायिका यहाँ अपने कथन द्वारा स्पष्ट करती है "तुम्हारी आँखें तो पराङ्गना के साथ जागरण से लाल हुई और उसी को प्रतिक्रिया स्वरूप मेरी आखें रोष के कारण लाल हो गई हैं

प्रिय द्वारा अन्यत्र रात्रि बिताने के कारण मानिनी नायिका दिन प्रतिदिन सूखती जा रही है। एक दिन नायक उससे आकर उसकी दशा के विषय मे पूछता है कि—

अङ्गानामतितानव कुत इद कस्मादकस्मामिद
मुग्धे! पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति।
तन्व्या सर्वमिद स्वभावत इति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर-
व्यापी वाष्पभरस्तया वलितया निश्वस्य मुक्तोऽन्यत ॥[2]

प्रिया के अङ्गो की कृशता देखकर नायक उससे पूछता है कि हे मुग्धे! तुम्हारे अङ्गो पर दुबलता आने का क्या कारण है? तुम्हारे मुख और कपोलो पर अचानक पीलापन क्यो छा गया है? तब नायक के इस प्रकार पूछने पर नायिका कहती है कि "यह सब तो यो ही स्वाभाविक है" और फिर वह मुँह मोडकर एक लम्बी आह के साथ छलछलाई आंखो से आंसू बहा देती है। नायक के प्रश्नो का उत्तर नायिका व्यग्यपूर्वक इस प्रकार व्यजित करती है कि शारीरिक दुर्बलता और पीलेपन का कारण स्वय नायक ही तो है और फिर अनजान होकर वह शारीरिक कृषता के विषय मे पूछता है।

बिहारी के उक्त दोहे का भाव अमरुशतक के श्लोक से बहुत कुछ मिलता जुलता है। जिस प्रकार बिहारी का नायक सब कुछ जानते हुए भी अनजान बनकर प्रिया की आंखो की लाली के विषय मे पूछता है, उसी प्रकार अमरुशतक का नायक यद्यपि सब कुछ जानता है कि प्रिया की शारीरिक कृशता और पीलेपन का कारण

१ बिहारी रत्नाकर—दोहा १६८

२ अमरुशतक—श्लोक ५०, पृष्ठ ७४

एक मात्र उसका ही अपराध है किन्तु अनजान बनकर पूछ ही लेता है। बिहारी की नायिका प्रिय को अत्यन्त व्यंग्यपूर्वक उत्तर देकर उसे निरुत्तर कर देती है किन्तु अमरुशतक की नायिक तो केवल आँसू बहाकर ही अपनी समस्त स्थिति तथा व्यथा को व्यंजित कर देती है आँसू बहाने से तात्पर्य यही निकलता है कि नायक के विरह में ही तो उसकी ऐसी दशा हो गई है। इस प्रकार दोनों कवियों के भाव आपस में बहुत कुछ मेल खाते हैं। बिहारी के दोहे पर अमरुशतक के प्रस्तुत भाव की छाप स्पष्ट लक्षित है। हाँ इतना अवश्य है कि बिहारी की नायिका कुछ अधिक प्रगल्भ है जब कि अमरु की नायिका भोली भाली है।

मतिराम की नायिका अन्यत्र रमके आये हुए प्रिय का किसी भी प्रकार सत्कार न कर मानो चुपचाप ही बैठी रहकर अपना क्रोध प्रदर्शित करती है—

प्रीतम आए प्रभात प्रिया-घर राति रमैं रति-चिन्ह लिए ही।
बैठि रही पलका पर सुन्दरि, नैन नवाय कैं धीर धरें ही।
बाँह गहैं "मतिराम" कहैं न रही रिस मानिनी के हठ कैं ही।
बोल न बोल कछू सतराय कैं, भौंह चढ़ाय तकी तिरछौं ही॥[१]

कवि कहता है कि रात्रि के समय अन्यत्र रमण करके प्रातःकाल रति-चिन्हों को लेकर प्रियतम नायिका के समीप आ गया। खण्डिता प्रिया क्रोध के कारण पलग पर ही बैठी रही, तथा उसने अपने मन में धैर्य धारण कर नयनों को नीचा कर लिया। प्रियतम ने नायिका की बाँह पकड़ी तो वह उसके वचनों पर ध्यान न देकर हठ ही पकड़े रही। वह नायक से एक शब्द भी नहीं बोली अपितु कुछ तर्जना युक्त होकर भौंहें कुंचित करके नायक की ओर तिरछी दृष्टि से केवल देख लिया। नायिका के चुपचाप बैठने से धीरात्व और भौंह चढ़ाकर कुटिल दृष्टिपात से अधीरात्व प्रकट हो रहा है।

रसमंजरीकार भानुदत्त का भाव बहुत कुछ मतिराम के भाव से मिलता हुआ है। प्रिय के अन्यत्र रमकर आने पर यहाँ भी नायिका चुपचाप ही अपने क्रोध को अभिव्यक्त करती है —

तल्पोपान्तमुपेयुषि प्रियतमे वक्रीकृतग्रीवया
काकुव्याकुलवाचि साचिहसितस्फूर्जत्कपोलश्रिया।
हस्तन्यस्तकरे पुनर्मृगदृशा लाक्षारसक्षालित-
प्रोष्ठीपृष्ठमयूखमांसलरुचो विस्फारिता दृष्टयः॥[२]

अन्यत्र दूसरी रमणी के साथ रमण करके अपराधी प्रियतम जब शय्या के

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ५२

२. रसमंजरी—उदाहरण प्रगल्भा धीराधीरा—श्लोक १७

समीप पहुँचता है तो उसकी प्रियतमा उसकी ओर से गर्दन मोड लेती है, जब वह घबराकर डर के मारे थरथराती आवाज मे कुछ बोलता तो वह कपोल की श्री की बढाने वाली वक्र हँसी हँसने लगती है, जब वह अपना हाथ प्रिया के हाथो पर रखता है तो वह जोर से आँखें फाडकर देखती है, तब उसकी आँखें पीठिया मछली की पीठ के समान, जिसे लाक्षारस से धो दिया गया हो, किरणें फैलाने लगती हैं ।

उक्त मतिराम और भानुदत्त दोनो कवियो के भाव आपस मे बहुत कुछ मेल लिये हुये हैं क्योकि अन्यत्र रमके आये हुये प्रियतम को देखकर जिस प्रकार मतिराम की नायिका पलका पर ही बैठी रहती है अर्थात् प्रिय का किसी प्रकार का भी स्वागत नही करती है, एव प्रिय से कुछ बात न कर भौंह चढाकर तिरछी देखकर उसका अपमान भी करदेती है, उसी प्रकार रसमजरीकार की नायिका प्रिय की ओर से गदर्न मोडकर बात नही करती और प्रिय के बात करने पर वक्र हँसी से तथा प्रिय के हाथ रखने पर जोर से आँखें फाडकर देखने से उसका तिरस्कार कर देती है । दोनो कवियो के भावो मे इन समस्त दृष्टियो से साम्य है । अत मतिराम ने यहाँ से भाव ग्रहण कर अपनी कल्पना के द्वारा और भी सुन्दर बना दिया, क्योकि मतिराम ने वक्र हँसी का प्रयोग न कर भाव को रमणीय बना दिया है ।

देव की मानिनी कुछ अधिक प्रगल्भ भी है । तभी तो वह अपने प्रिय को डाँटती हुई दूसरी के पास ही जाने की सलाह देती है–

सूधिये बात सुनी समुझौ अरु सूधी कहौ करि सूधो सबै अग ।
ऐसी न काहू के चातुरता चित जो चितवै कवि देव दई सग ।
वाही के जैयै बलाइ ल्यो बालम हौं तुम्है बतावति हौं ढग ।
देव कहै यह जाको सनेह महा उर बीच महाउर को रग ॥[1]

अन्य स्त्री के साथ रमके आये हुये प्रिय से नायिका कोप करती हुई कहती है कि नायक सीधी बात को समझ सकता है, अत. वह उस (प्रिय) से अगों को सीधा करके ही बात कहे तो ठीक है, नायक मे जितना चातुर्य है, वैसा चातुर्य अन्यत्र दिखाई भी नहीं पडता अर्थात् अन्य किसी मे भी नही है । अन्त मे वह अपना धैर्य त्यागकर कह ही देती है कि "हे प्रिय उसी प्रिया के पास जाकर उसी की बलैया लो, जिसका स्नेह आपके महान् हृदय के मध्य मे महावर के रूप मे प्रकट हो रहा है । इसीलिए मैं तुम्हें यही अच्छा ढग बतला रही हूँ ।" देव के इस प्रसग की प्रथम दो पक्तियों में नायिका की धीरता एव अन्तिम दो पक्तियो में व्यग्योक्तियो द्वारा उसका अधीर गुण द्योतित हो रहा है । अत नायिका धीराधीरा है ।

देव के प्रसग पर गीत गोविन्द के प्रस्तुत अवतरण का प्रभाव लक्षित होता

---

१. देवग्रन्थावली–भाव विलास–चतुर्थ विलास–छन्द ५७

है । गीत गोविन्द की खण्डिता राधा भी इसी प्रकार प्रिय को तिरस्कृत करती हुई कहती है कि–

चरणकमलगलदलक्त सिक्तमिदं तव हृदयमुदारम् ।
दर्शयतीव वहिर्मदनद्रुमनवकिसलयपरिवारम् ॥४॥

+ + +

तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम् ॥ध्रु०॥१॥[1]

स्पष्ट है कि पर-स्त्री के चरण-कमलों में लगे हुए महावर से आर्द्र कृष्ण का हृदय-पटल ऐसा दृष्टिगत होता है मानों, मदनरूपी वृक्ष से नवीन-नवीन पातों का समूह बाहर आ गया हो । अतः प्रिया कोप करती हुई कृष्ण से तिरस्कार भरे शब्दों में कहती है कि "हे कृष्ण ! आप उसी प्रेमिका के पास जाइये जो कि आपके विषाद को हरती है ।

जिस प्रकार गीति गोविन्द की नायिका प्रिय की छाती पर लगी महावर को देखकर रुष्ट होती है, उसी प्रकार देव की नायिका भी प्रिय के वक्ष पर पर-स्त्री के महावर को देखकर मान करती है । दोनों कवियों की नायिकायें अपने-अपने प्रिय को फटकारती हुई पुनः पराङ्गना के पास जाने की व्यंग्योक्ति कहती है । दोनों ही कवियों के प्रसंग भाव भाषा की दृष्टि से सुन्दर हैं । इतने पर भी देव ने प्रसंग को कुछ अधिक विशदता के साथ ग्रहण कर वर्णन में अधिक से अधिक मार्मिकता प्रदान की है, क्योंकि नायक द्वारा दूसरी नायिका की वलैया लेने और हृदय के मध्य में पर-स्त्री के स्नेह के प्रकट होने की उक्ति निस्सन्देह मार्मिक तथा रमणीय वन पड़ी है । अतः गीत गोविन्द की छाया ग्रहण करते हुये भी कवि देव ने प्रसंग में अपनी मौलिक सूझ को भी सुन्दर ढंग में अनुस्यूत कर दिया है ।

पद्माकर की भी धीराधीरा खण्डिता दर्शनीय है जो कि प्रियतम के एक-एक प्रश्न का उत्तर देती हुई अपनी विह्वलता प्रकट करती है ।

ए वलि कहौ हो किन का कहत कन्त, अरी
रोस तजि, रोस कै कियो मैं का अचाहे कौं ।
कहै पद्माकर यहै तौ दुख दूरि करौ
दोस न कछू है तुम्हे नेह निरवाहे कौं ।
तौ यौ इन रोवति कहा है, कहौ कौन आगै
मेरेइ जु आगैं किये आसुन उमाहे कौं ।
को हौं मैं तिहारी, तू हमारी प्रानप्यारी, अजू
होती जौ पियारी तौऽब रोती कहो काहे कौं ॥[2]

---

१. गीत–गोविन्द–आठवां सर्ग–अष्टपदी १७, पृ० ४४
२. पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द ६४

पद्माकर का यह प्रसंग अमरुशतक के प्रस्तुत श्लोक का अनुवाद मात्र दिखाई देता है, देखिये–

> बाले ! नाथ ! विमुच मानिनि ! रुष रोषान्मया किं कृत
> खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधामयि ।
> तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
> नन्वेतन्मय का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥[1]

अन्य स्थान पर रमण करके आया हुआ नायक मानिनी नायिका को व्यथित देखकर समझाने का प्रयत्न करता है, नायिका एक-एक प्रश्न का व्यंग्य के माध्यम से उत्तर देती चली जाती है–

नायक–बाले, नायिका–नाथ, नायक–हे मानिनी रोष का परित्याग कर दो, नायिका–रोष करके मैंने तुम्हारा कर ही क्या लिया ? नायक मुझे कष्ट मे डाल दिया है । नायिका–कष्ट तो उसे होना चाहिये जो अपराधी हो, आपने तो कोई अपराध किया ही नही है, सब अपराध तो मुझसे हुये हैं ! नायक–तो इस प्रकार गद्गद कण्ठ से रो क्यो रही हो ? नायिका–किस के आगे रो रही हूँ ? नायक–मेरे आगे, नायिका–मैं तुम्हारी क्या हूँ ? नायक–प्राण प्रिया, नायिका–प्राण प्रिया नही हूँ इसीलिये तो रो रही हूँ ।"

अमरु और पद्माकर के उक्त दोनो प्रसगो मे न केवल भाव की समानता है, बल्कि पद्माकर ने अमरु के श्लोक का ज्यो का त्यो अनुवाद कर दिया है । कही कही पर तो पद्माकर ने शब्दो को भी स्वीकार कर लिया है । उदाहरणार्थ पद्माकर ने अमरु क इस श्लोक प्रयुक्त रोष शब्द को ज्यों का त्यो अपना लिया है । पद्माकर ने अन्य कई स्थानो पर अमरुशतक के प्रसगो का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे अनुवाद किया है किन्तु यदि वे कही अमरु का ऋण स्वीकार करते तो अच्छा होता । रीतिकालीन कवियो ने संस्कृत कवियों के समान मध्या और प्रौढा के धीरा, अधीरा और धीराधीरा इन भेदो को यद्यपि अलग-अलग रूपो मे ग्रहण किया है किन्तु विस्तार भय के कारण उनके उदाहरणो के आधार पर तीनो मानिनी नायिकाओ को स्वभाव चेष्टा के अनुसार यहाँ सम्मिलित रूप मे ही ले लिया है । रीतिकालीन कवियो ने कही पर तो संस्कृत कवियो से भाव रूप मे इन नायिकाओ के लक्षण देते हुये उदाहरण प्रस्तुत किया किन्तु कही-कही पर अनुवाद ही कर दिया है । उदाहरणार्थ पद्माकर के उदाहरण को लिया जा सकता है जिसमे कि अमरुशतक के श्लोक का पूर्ण अनुवाद है । ये तीनो नायिकायें खण्डिता की कोटि मे आती हैं क्योंकि अपने नायको के अन्यत्र रमण पर तीनों ही विह्वल हो गई हैं । भाव और भाषा की दृष्टि

---

1 अमरुशतक–श्लोक ५७

से रीतिकालीन कवियों के समस्त छन्द रमणीय बन पड़े हैं।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा नायिकाएँ

रसमंजरीकार के अनुसार विवाह संस्कार के सम्पन्न होने पर जो पति का अधिक स्नेह प्राप्त करती है, उसे ज्येष्ठा और जो न्यून स्नेह का भाजन बनती है उसे कनिष्ठा नायिका कहते हैं।[1]

रीतिकालीन काव्यों में पद्माकर के उदाहरण को लिया जा सकता है, यथा—

> दोऊ छवि छाजती छबीली मिलि आसन पै
> जिनहि बिलोकि रह्यो जात न जितै जितै।
> कहै पद्माकर पिछौ हैं आइ आदर सो
> छलिया छबीलो कंत बासर बितै बितै।
> मूंदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग
> सु दृगमिचावने के ख्यालनि हितै हितै।
> नैसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धनि दूसरी कौं
> औचुका अचूक मुख चूमत चितै चितै ॥[2]

किसी नायक की दो प्रियतमायें एक ही आसन पर बैठी हुई सुशोभित हो रही हैं, जिन्हें देखे बिना वहाँ नहीं रहा जाता है। तभी छलिया एवं रसिक नायक अवसर बिताकर पीछे से आदर के साथ आकर वहाँ एक अलबेली के अनोखे दृगों को तो बन्द कर लेता है, जो कि अपने सुन्दर नेत्रों के मिचवाने मे ही हित का विचार करती है। तब वह धूर्त नायक थोड़ी-सी गर्दन नीचीकर दूसरी को अचानक ही बिना किसी भूल के बार-बार देखकर चुम्बित करता हुआ धन्य बनाता है।

अमरु का भी इसी से मिलता-जुलता भाव भी दर्शनीय है जिसमें नायक के इसी कार्य-कलाप का उल्लेख है—

> दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
> देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबंधच्छलः;
> ईषद्वक्रितकन्धरः सुपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
> मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥[3]

---

1. परिणीतत्वे भर्तुरधिकस्नेहाज्ज्येष्ठा, परिणीतत्वे भर्तुर्न्यूनस्नेहाकनिष्ठा।
   रसमंजरी—ज्येष्ठा—कनिष्ठा लक्षण—१७—१८ उदाहरणों के मध्य, पृ० २५
2. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द ७६, पृ० ९५
3. अमरुशतकम्—श्लोक १९

अमरुशतक के नायक की दो प्रियतमाएँ एक ही स्थान पर बैठी हुई हैं और ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ विनोदालाप कर रही हो। इतने ही मे कही स नायक आ जाता है। वह चुपके से पीछे जाकर उनमे से एक की आँखें आँख मिचौनी के बहाने मूंद लेता है। तब यह नायिका समझती है कि नायक मुझी पर अधिक आसक्त है तभी तो इसने मेरी आँखें बन्द की है और दूसरी की नही, किन्तु बात कुछ दूसरी ही प्रमाणित होती है। चतुर नायक थोड़ा झुककर बगल मे बैठी हुई अपरा नायिका का चुम्बन कर पुलकित हो रहा है। नायक के इस काय-कलाप पर चुम्बित की जाने वाली नायिका मन ही मन प्रसन्न होती है।

पदमाकर और अमरुशतक के उक्त प्रसंगो के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि पदमाकर का वर्णन अमरुशतक के प्रसग का छायावाद है किन्तु अनुवाद भी अत्यन्त मनोहर बन पड़ा है। कवि ने यहाँ शब्दश अनुवाद न कर भावानुवाद द्वारा अपनी कुशलता का परिचय दिया है। क्योकि दोनो ही नायक अपनी एक प्रियतमा की आँख मूदते हैं और दूसरी का चुम्बन करते हैं, किन्तु कवि अमरु ने नायिका की प्रसन्नता का वर्णन कर दिया है जबकि पद्माकर के प्रसग मे वह स्थिति केवल व्यञ्जित हो जाती है। अत पदमाकर का प्रसग अमरु के श्लोक का शब्दश अनुवाद न होकर भावानुवाद ही है। रीतिकाल मे इस प्रकार के वर्णन बहुत से हैं, किन्तु वे शब्दश अनुवाद न होकर छाया अथवा भाव के रूप मे ही अभिव्यक्त हुये हैं।

ज्येष्ठा, कनिष्ठा केवल स्वकीया नायिका ही हो सकती हैं क्योकि परकीया के तो ज्येष्ठा, कनिष्ठा होने का कोई प्रश्न ही नही उठता। इन दोनो नायिकाओं के वर्णन मे संस्कृत काव्यो म जिन भावो को दर्शाया गया है, रीतिकालीन कवियो ने उन्ही से प्रेरणा लेकर अपने अपने भावो की अभिव्यक्ति दी है किन्तु रसमंजरीकार ने ज्येष्ठा और कनिष्ठा को धीरा अधीरा धीराधीरा तीनो को मानवतियो के रूप मे अंकित किया है जबकि रीतिकालीन कवियो ने केवल परम्परा के निर्वाह मात्र के कारण ज्येष्ठा कनिष्ठा कहकर ही इनके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं।

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत तथा हिन्दी के काव्या मे स्वकीया अथवा स्वीया के मुग्धा, मध्या तथा प्रौढा अथवा प्रगल्भा के विशद रूप मे अनेक भेदोपभेदो का वर्णन किया गया है। इन तीन भेदो के अनुसार संस्कृत काव्यो मे प्रियतम के प्रति स्वकीया के अपार प्रेम के कारण जिन शीलादि गुणो की चर्चा की गई है, रीतिकालीन कवियो ने भी अधिकतर उन्ही का समर्थन किया है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे एक ओर स्वकीया के गुणो का उल्लेख है तो दूसरी ओर इन्ही के उदाहरणो और अन्य काव्यो मे स्वकीया नायिकाओ का प्रत्यक्ष वर्णन है। आलोच्य रीतिकालीन कवियो द्वारा प्रस्तुत स्वकीया मुग्धा के अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना के

शारीरिक अंग-प्रत्यंगों के उभार के वर्णन संस्कृत की रूप वर्णन की परम्परा से ही प्रमुखतया प्रभावित हैं । किन्तु इन नायिकाओ की अलग-अलग स्थिति का अंकन करने के लिए हिन्दी कवियों ने जिन प्रसगो की योजना की वे अधिकतर मौलिक ही हैं। यही बात नवोढ़ा और विश्रब्धनवोढा के विषय में कही जा सकती है । संस्कृत के कवियों ने नववधू की प्रिय के सम्मुख प्रारम्भ में लज्जा और धीरे-धीरे प्रिय के प्रति विश्वास के अनुसार स्वकीया नायिका के जिन चित्रों की कल्पना की, उनका अधिकतर रीतिकालीन कवियों ने अनुसरण किया है । मध्या और प्रौढ़ा के वर्णनो में भी यही बात दृष्टिगत होती है । प्रिय के प्रति नायिकाओ के मानानुसार किए गए धीरादि तथा प्रिय-प्रेम की मात्रा के अनुसार ज्येष्ठा कनिष्ठा ये भेद सस्कृत के मुक्तक तथा शास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरित होकर रीतिकालीन कवियो ने अंकित किए हैं ।

इन स्वकीया नायिकाओं के वर्णनों के तुलनात्मक अध्ययन से दो बातें मुख्य रूप से सामने आती है । प्रथम तो यह कि रीतिकालीन कवियो ने संस्कृत के विभिन्न लक्षणों तथा भावों से प्रेरणा लेकर स्वतन्त्र वर्णनों की योजना की । अत. यहाँ इन कवियों की मौलिकता को देखा जा सकता है । ऐसे प्रसंग भाव की उन्मुक्त धारा के प्रवाह की दृष्टि से अत्यन्त ही सरस है । दूसरी बात यह है कि रीतिकाल मे कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें पूर्ववर्ती मुक्तक काव्य अमरुशतक इत्यादि के कुछ प्रसंगो का भावानुवाद अथवा छायानुवाद है ।

कहीं-कहीं पद्माकर जैसे कवियों के कुछ उदाहरणो में ज्यो का त्यो शब्दानुवाद भी प्राप्त होता है; परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से ऐसे प्रसग अपवाद स्वरूप ही पाए जाते है । इस प्रकार स्वकीया नायिकाओ के विभिन्न भेदोपभेदो का वर्णन अधिकतर संस्कृत के शास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थो का अनुगमन होते हुए भी युगीन वातावरण, प्रसंगों की योजना तथा स्वाभाविकता के सन्दर्भ मे निश्चय ही सरस एवं विशेषता लिए हुए हैं ।

परकीया नायिका

रसमंजरीकार ने परकीया नायिका की परिभाषा करते हुए कहा है—

"अप्रकटपरपुरुषानुरागा परकीया ।"[1]

अर्थात् जिस नायिका का परपुरुष में होने वाला अनुराग प्रकट नहीं होता, उसे परकीया कहते हैं । उज्ज्वलनीलमणि के अन्तर्गत रूप गोस्वामी ने लिखा है कि जो अपने आपको लोक परलोक की अपेक्षा न रखने वाले प्रेम के वशीभूत होकर अर्पित कर देती है और धर्म अर्थात् विवाह-संस्कार रूप धार्मिक कार्य द्वारा जो

---

१. रसमंजरी—"सुषमा" हिन्दी व्याख्या सहित—परकीया लक्षण—उदाहरण २० के पश्चात्, पृ० २७

स्वीकृत नहीं, ऐसी नायिकाओं को परकीया कहते हैं।[1] रसमंजरीकार ने परकीया के दो भेद किए हैं– कन्यका और परोढा ।[2] मतिराम ने परकीया का लक्षण देते हुए परोढा को ऊढा और कन्यका को अनूढा कहा है।

कन्यका परकीया

रसमंजरीकार ने पिता के आधीन परकीया को कन्या की संज्ञा दी है तथा उसकी समस्त चेष्टाओं को भी गुप्त कहा है।[3] कन्या का प्रेम प्राय नवीन ही होता है और नवीन प्रेम से वही आकर्षित होकर वह प्रिय को बार-बार देखती है। इस सम्बन्ध में बिहारी का प्रस्तुत दोहा दर्शनीय है–

> पल न चलैं जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
> अबही तन रितयौ, कहौ, मनु पठयौ किहि पास ॥[4]

सखी नायिका से पूँछती है कि नायिका की पलकें चलती नहीं हैं, टकटकी बांधने से वह स्तम्भित सी हो गयी है, श्वांसें थक सी रही हैं अर्थात मंद-मंद चलने लगी हैं। तात्पर्य यह है कि नायिका इस प्रकार किसको देख रही है ? ऐसा लगता है कि नायिका ने अपने मन को किसी के पास भेजने से शरीर को रिक्त कर दिया है।

प्रथम प्रेम करने वाली देव की नायिका की आँखें तो प्रिय को देखने के लिये चारों ओर को देखनी हुयी चंचल बनी हुई है यथा–

> झूमि घटा उझकै कहूँ देव सु दूरितें दौरि झरोखनि झूली।
> हास हुलास बिलास भरी मृग खंजन मीन प्रकासनि तूली।
> चारिहु ओर चलै चपलै सु मनोज के तेज सरोज सी फूली।
> राधिका की अँखियाँ लखिकै सखियाँ सब संग की कौतुक भूली ॥[5]

कहीं घटाओं को झूमते हुए देखकर नायिका दौड़कर घर के झरोखो के समीप उसे देखने को खड़ी हो जाती है, नयनों में हास, उल्लास एवं विलास से भर कर वह ऐसी प्रतीत होने लगी है मानो उसने मृग, खंजन और मीन के प्रकाश को भर लिया हो। तात्पर्य यह है कि प्रिय को देखने में उसके नयनों में प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। तब प्रिय को देखकर मनोज के तेज के कारण सरोज के समान प्रफुल्लित

---

१ रसमंजरी – "सुषमा" हिन्दी व्याख्या से उद्धृत – परकीया लक्षण पृष्ठ २७

२ सा द्विविधा परोढा कन्यका च। रसमंजरी, पृष्ठ २७

३ कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता। अस्याः गुप्तैव सकलाचेष्टा। रसमंजरी – पृष्ठ – ५१-५२

४ बिहारी रत्नाकर – दोहा ५३४

५. देव ग्रन्थावली – भावविलास – चतुर्थ विलास – छन्द ७४, पृष्ठ १०७

होकर चारो ओर चंचल होकर दौड़ती है। राधा की आँखो की ऐसी दशा देखकर साथ की समस्त सखियाँ कौतुक अर्थात् खेल भी भूल जाती हैं।

अमरुशतक की नायिका भी प्रथम प्रणय का अनुभव करती है। अतः उसकी सखी उसके द्वारा नायक को उत्सुकतापूर्वक देखे जाने पर प्रश्न करती हुई पूँछती है कि–

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुली कृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते ॥[1]

सखी के पूँछने का आशय यह है कि अयानी बताओ तो सही किस भाग्यशाली को तुम आज इन नजरों से देख रही हो, जो बे सँभाल होने के कारण तिरछी तिरछी हुई जा रही हैं, जो प्रेम से भीग-भीगकर मुदी मूँद जा रही हैं, फिर कुछ अधिक उत्कंठा जगने पर एक क्षण के लिए जो सीधी और अपलक हुई जा रही हैं, पर लाज से फिर विधी जा रही हैं, और इस प्रकार जो हृदय में प्रेमाभिलाषाओं का उँड़ेल सी दे रही हैं।

उक्त बिहारी और देव–दोनों कवियों की नायिकायें अपने प्रिय के प्रति प्रथमानुराग में रँगी होने के कारण बार-बार अपने प्रणयी नायिकाओ के ऊपर दृष्टिपात करती हैं, उसी प्रकार अमरुशतक की नायिका उत्सुक होकर अपने प्रिय को बार-बार देखती है। प्रिय को देखने में एक ओर बिहारी की नायिका पूर्णरूप से स्तम्भित हो गयी है तो देव की नायिका की दृष्टि चंचल होकर झरोखे में से बार-बार प्रिय का बड़ी आतुरता से अवलोकन करने में समर्थ बन चुकी है। अतः अवलोकन में औत्सुक्य की दृष्टि से बिहारी, देव और संस्कृत कवि अमरु तीनों के भाव समान ही हैं। अमरु की नायिका की दृष्टि जिस प्रकार लज्जा से पूर्ण है उसी प्रकार बिहारी और देव की नायिकाओं की दृष्टियों में लोक लाज है क्योंकि देव की नायिका की लज्जा तो झरोखे में खड़े होने से प्रकट हो रही है और बिहारी की नायिका की शरीर के रिक्त होने से। अमरु की नायिका जिस प्रकार उत्सुक होकर प्रिय को देखती अपने हाव-भाव को प्रदर्शित करती है। उसी प्रकार देव की नायिका के हाव भाव भी प्रकट हो रहे हैं। इतना साम्य भाव होते हुए भी दोनों रीतिकालीन कवियों के भावों में अधिक रमणीयता आ गयी है क्योंकि बिहारी के वर्णन में नायिका द्वारा मन किसी के पास भेजने पर शरीर का रिक्त होना और देव के प्रसंग में "खंजन मीन प्रकासन तूली" तथा "राधिका की अँखियाँ लखिकै सखियाँ सब संग की कौतुक भूली"-- ये उक्तियाँ

---

१. अमरुशतक – श्लोक ४

अतीव मनोरम एवं स्वतन्त्र बन पड़ी हैं।

अपने प्रियतम नंदकुमार को प्राप्त करने की इच्छा से मतिराम की अविवाहित नायिका गौरी की पूजा कर किस प्रकार प्रार्थना करती है, देखिए—

गोपसुता कहै गौरि गुसाईंनि ! पाँय परौं विनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नेकु सुचित दया-रस भीजै।
देहि जो ब्याहि उछाह सों मोहनै, मात-पिताहू को सो मन कीजै।
सुन्दर साँवरो नन्दकुमार, बसै उर जो वह सो वर दीजै॥[1]

अनूढा नायिका गौरी पूजन कर उससे प्रार्थना करती है कि हे स्वामिनि ! मैं पैरों पड़ती हूँ। मेरी एक विनती सुन लीजिए। आप तो दयामयी हैं, मुझ दासी पर आपका चित्त कुछ दया से कुछ पसीजे तो आप मेरे माता-पिता का ऐसा मन कर दीजिये कि जिससे वे उत्साहपूर्वक मेरी कृष्ण से शादी कर दें। नायिका के कहने का तात्पर्य यह है कि माँ बाप अभी तो कृष्ण के साथ विवाह करने को तैयार नहीं है किन्तु यदि गौरी माँ की कृपा हो जाय तो उनका चित नायिका के मन के अनुकूल बन सकता है। अतः अन्त में नायिका अपना अभीष्ट प्रकट करती हुई गौरी से प्रार्थना करती है कि गौरी उसे ऐसा वरदान प्रदान करें जिससे मन में जो सुन्दर श्यामल नन्द नन्दन है, वह वर रूप में प्राप्त हो जाय।

नैषधकार की नायिका दमयन्ती भी इसी प्रकार अभिलाषित वर नल की प्राप्ति के लिए देवताओं की पूजा करती है, यथा—

अथानिनंसु निषधेश्वर सा प्रसादनामाद्रियतामराणाम्॥ १॥
+ + +
यतान् निजे सा हृदि भावनाया बलेन साक्षादकृताखिलस्थान्।
अभूदभीष्टप्रतिभूः स तस्या वरं हि दृष्टा ददते परं ते॥ ४॥[2]

यह अवतरण उस समय का है जिस समय नल को वरण करने की इच्छुक दमयन्ती स्वयंवर में इन्द्रादि देवताओं को भी नल का वेश धारण किए हुए देखती है। तब वह नल की प्राप्ति के लिये देवताओं का आदर-पूर्वक परितोष करती है। सर्वव्यापी देवताओं का ध्यान के बल अपने हृदय में साक्षात्कार करती है। साक्षात्कार ही मानो दमयन्ती को नल प्राप्ति के अभीष्ट वरदान की स्वीकृति प्रदान करता है क्योंकि प्रसन्न किए हुए देवता अभीष्ट वर अवश्य देते हैं।

मतिराम और श्रीहर्ष के उक्त दोनों प्रसंगों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि दोनों कवियों की नायिकायें अपने-अपने प्रिय के प्रति पूर्वानुराग में रँगी होने के कारण

१. मतिराम ग्रन्थावली — रसराज — छन्द ६३
२. नैषध — चौदहवाँ सर्ग — श्लोक १ व ४

येन केन प्रकारेण प्रिय प्राप्ति के लिए अपने-अपने इष्ट से प्रार्थना करती हैं । मतिराम की गोपसुता गौरी से वरदान माँगती है तो दूसरी ओर श्रीहर्ष की दमयन्ती देवताओं से वरदान की कामना करती है । अतः नायिका द्वारा अपने मनोनुकूल वर प्राप्ति की कामना करने की दृष्टि से दोनों प्रसगो में समानता है। किन्तु परिस्थिति के आयोजन की दृष्टि से दोनों वर्णन पर्याप्त भिन्न है । एक ओर मतिराम की नायिका के माता-पिता प्रिय की प्राप्ति में बाधक है तथा दूसरी ओर नैषधकार की नायिका के माता-पिता तो बाधक नही बल्कि स्वयं वे देवता ही बाधक है जिनसे कि वह प्रिय प्राप्ति का वरदान माँगती है । भारतीय साहित्य मे लौकिक दृष्टि से ऐसे अनेक प्रसंगों की प्राप्ति हो सकती है जिनमे कन्या इसी प्रकार अपने अनुरूप वर की प्राप्ति के लिए किसी भी देवी या देवता से प्रार्थना करती है ।

परोढ़ा परकीया

जो नायिका अपने विवाहित पति के अतिरिक्त दूसरे पुरुष से प्रेम करती है, उसे परोढ़ा परकीया की सज्ञा दी जाती है । रीतिकालीन अधिकतर आचार्यो ने इसे ऊढ़ा कहा है । उनके लक्षणों मे स्वकीया की परपुरुष सम्बन्धी प्रीति का स्पष्ट उल्लेख है ।[1] यह नायिका अन्य लोगों से बातचीत करने में किसी भी प्रकार की झिझक नहीं करती तथा यह परपुरुष से की गयी अपनी प्रीति को सदैव छिपाने का प्रयास करती है । रसमंजरीकार ने स्वभाव और गुण को ध्यान मे रखते हुये परोढ़ा के क्रमशः (१) गुप्ता, (२) विदग्धा, (३) लक्षिता, (४) कुलटा, (५) अनुशयाना, (६) मुदिता –ये छः भेद किये है ।[2] हिन्दी के आचार्यो ने प्रायः इन्ही भेदों को स्वीकार किया है ।

गुप्ता-परोढ़ा

जो नायिका परपुरुष के साथ किये गए अपने प्रेम का गोपन करती है, उस परकीया को गुप्ता कहा जा सकता है । यह अपने सुरत और भाव दोनो का ही सामान्य रूप से गोपन का प्रयत्न करती है। मतिराम ने तो इसे 'सुरति' छिपाने वाली नायिका के रूप मे स्वीकार किया है ।[3] पद्माकर ने इसे सुरति गोपना के रूपों मे ही क्रमशः भूत सुरति गोपना, वर्तमान रति गोपना तथा भविष्यत रति गोपना–कहकर

---

१. उदाहरण के लिए देखिए – मतिराम ग्रन्थावली – रसराज – छन्द ५९ तथा पद्माकर ग्रन्थावली – जगद्विनोद – छन्द ७८

२. गुप्ताविदग्धालक्षिताकुलटाऽनुशयाना मुदिताप्रभृतीना परकीयामेवान्तर्भावः । रसमजरी – सुषमा हिन्दी व्याख्या सहित

३. मतिराम ग्रन्थावली – रसराज – छन्द ६७

अपना कथन स्पष्ट किया है।[1] रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने गुप्ता को सुरत गोपन के आधार पर ही ग्रहण किया है।

बिहारी का प्रस्तुत वर्णन दर्शनीय है। नायक के साथ निर्भय क्रीडा करने के पश्चात् वन से लौटते समय सखियाँ उसे देख लेती हैं। नायिका उनके सामने सफाई देती हुयी बतलाती है कि वन की राह मे भटकते हुए मुकुट-मणियो की छाया से सुशोभित लटक-लटक कर चलता हुआ वह रसीला नायक मिल गया जो उसे वन के बाहर पहुँचा गया है–

> लटकि लटकि लटकतु चलत, डटत मुकट की छाँह।
> चटक भर्‌यौ नटु मिलि गयौ, अटक भटक वट माँह॥[2]

देव की नायिका भी अपनी अन्य नायक के साथ की गई सुरति-क्रीडा के अन्तर्गत रति-चिह्नो को अत्यन्त कौशल के साथ छिपाती हुयी कहती है कि–

> झँझरी के झरोखनि ह्वै कै झकोरति रावटीहू मैं न जाति सही।
> कवि देव तहाँ कहौ कैसे कै सोइये जी की बिथा सु परै न कही।
> अधरान को फोरति अंग मरोरति हारनि तोरति जोर यही।
> घर भीतर बाहिरहू बन बागनि बैरिनि बीर बयार बही॥[3]

तात्पर्य यह है कि नायिका के शरीर पर परपुरुष के साथ किए रमण के रति-चिह्नों के रूप मे अधर का खण्डन, अगो का टूटना, हारो का टूटना –ये विद्यमान हैं। अत वह जब देखती है कि ऐसा न हो कि सखियाँ भाँप लें और सब पोल खुल जाय, तब सखियो के कुछ पूछे बिना ही वह अपनी अवस्था को छिपाने के लिए झँझरी अर्थात् बारहदरी के झरोखो मे से आती हुई बयार को दोष देती है। बयार उसके कमरे मे आती है जिसे नायिका सहन नही कर पाती क्योंकि वह उसके शरीर को झकझोर देती है। अत वहाँ कमरे म उसे कितनी व्यथा होती है, वह कहते नही बनती। अधरो को फोडकर तथा शरीर के अगों को मरोडती हुई वह हवा नायिका के हारो को तोड देती है। इस प्रकार घर के भीतर, बाहर, वन और बागो मे वही बैरिन बयार प्रवाहित होती रहती है।

पद्माकर की नायिका को भी प्रिय के साथ पहले की गई सुरति का स्मरण कर कम्पन का अनुभव होता है, किन्तु वह उस सुरतिजन्य कम्पन को सखी के सामने छिपाने के लिये हेमन्त की वायु को दोष देती हुयी कहती है कि–

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली – जगद्विनोद – छन्द ८७, ८८
२ बिहारी रत्नाकर – दोहा १६२, पृष्ठ ७१ (चतुर्थ संस्करण)
३ देव ग्रन्थावली – भाव विलास –चतुर्थ विलास –छन्द २५, पृष्ठ १०५

छुटत कंप नहिं रैन दिन विदित विदारत काइ ।
अति सीतल हेमन्त की अरी जरी यह बाइ ॥[1]

रसमंजरीकार की नायिका भी अब दर्शनीय है । वह भी उपपति द्वारा किए गए नखक्षत का आलाप मार्जारी के प्रसंग से करती है जिससे सखी उसके उपपति के साथ की गयी रति-क्रीड़ा को न समझ सके, यथा—

श्वश्रूः कुध्यतु विद्विषन्तु सुहृदो, निन्दन्तु वा यातरः,
तस्मिन् किन्तु न मन्दिरे सखि ! पुन. स्वापो विधेयोमया ।
आखोराक्रमणाय कोणकुहरादुत्फालमालवती ।
मार्जारी नखरैः खरै. कृतवती, का का न मे दुर्दशाम् ॥[2]

नायिका सखी से अपनी उपपति के साथ हुई सुरति को छिपाती हुई कहती है कि चाहे तो उसकी सास नाराज हो जाय, भले ही सखियाँ द्वेष करे, या देवरानियाँ भी भले ही शिकायत की बात फैलाये, तब भी नायिका उस घर में फिर से सोने नही जा सकती है क्योकि घर के न जाने किस छिद्र से झपट्टा मारने के लिये उछाल मारती हुई मार्जारी ने उसके स्तनो को ही चूहे समझकर अपने तीखे नखों से कौन सी गति नही की है ।

उपर्युक्त तीनो हिन्दी कवियो— विहारी, देव, पद्माकर एवं संस्कृत कवि भानुदत्त के निरूपण से पता चल जाता है कि परपुरुष के साथ की सुरति को समस्त नायिकाये सखियों के समक्ष छिपाने का प्रयास करती हुई अनेक वहाने बनाती है । विहारी की नायिका स्वयं के वन मे भटकते समय नायक द्वारा मार्ग इंगित करने का वहाना वनाती है, तो देव की नायिका सुरति मे हुये रति-चिन्हो को छिपाने के लिए वायु को दोष देती है एव पद्माकर की हेमन्त की शीतल वायु को ही परपुरुष के साथ की गई सुरति के स्मरण जन्य कम्पन के लिये दोषी ठहराती है। इसीप्रकार रसमंजरीकार की नायिका भी उपपति के साथ किए रमण मे नखक्षत के लिए समस्त दोषारोपण मार्जारी के ऊपर करती है । इन दृष्टियो से समस्त प्रसंग आपस मे वहुत कुछ साम्य लिये हुए है । इतने पर भी इनमे पर्याप्त भेद भी है, क्योंकि वर्णनो की दृष्टि से जो सरसता हिन्दी कवियो के काव्यों मे वर्तमान है, वह संस्कृत कवि भानुदत्त के के काव्य मे नही । विहारी की नायिका के वर्णन में वन मे भ्रमण करते हुए नायिका को नायक के मिलने की सूझ नवीन है तथा "लटकि लटकि', "अटक भटक" इत्यादि शब्दो मे ध्वनि के साथ भावों की उठान भी सराहनीय है । उसी प्रकार देव के प्रसंग में झँझरी के झरोखों से सोती हुयी नायिका को झकझोरने वाली बयार की कल्पना

१. पद्माकर ग्रन्थावली – जगद्विनोद – छन्द ९०
२. रसमंजरी – सुपसा – उदाहरण २२

भी उनकी अपनी है तथा उसमे ध्वनि के अनुरूप "झंझरी", 'झकोरति", "मरोरति" आदि शब्दो की गति भी अत्यन्त रमणीय है। इसी प्रकार पद्माकर के प्रसग मे हेमन्त की शीतल वायु की कल्पना भी अच्छी बन पडा है। अत हिन्दी कवियो का अनुकरण तो संस्कृत कवियो का है किन्तु वर्णन की सूझ उनकी अपनी है।

मतिराम की नायिका भी अपनी चौर्य सुरति को अपनी चतुर सखी से समक्ष छिपाने मे बडी ही कुशलता का परिचय देती है, यथा—

भलो नही यह केवरो, सजनी ! गेह अराम।
बसन फटै कटक लगैं, निसि दिन आठो जाम ॥[1]

उपनायक के साथ की सुरति को छिपाने के लिये चतुर नायिका अपने वसन फटने और शरीर पर व्रन चिन्ह का कारण केतकी पे उपर समस्त दोष मढती हुई सखी से चतुराई के साथ कहती है कि घर के सामने अथवा पीछे की फुलवाडी मे लगा केवडा अच्छा नहीं है। क्योंकि नायिका के वस्त्र उलझकर फट जाते हैं और काँटो के खरोच से नायिका का शरीर क्षत विक्षत हो जाता है।

कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित ने इसी भाव की अभिव्यक्ति व्याजोक्ति अलकार का उद्धरण प्रस्तुत करते हुये इस प्रकार दी है—

"सखि ! पश्य गृहारामपरागैरस्मि धूसरा।"[2]

कोई गुप्ता नायिका चौर्यरत के समय भूपृष्ठ पर लुण्ठन करने से धूलि धूसरित हो गई है, वह अपनी दशा का गोपन करने के लिये अन्य हेतु बताती हुई सखी से कह रही है, 'हे सखि, देख ! घर के बगीचे के पराग से मैं धूसरित हो गई हूँ।" किन्तु धूसरित होने का कारण कुछ दूसरा ही है जिसे कि नायिका स्पष्ट नही कर सकती है।

मतिराम और कुवलयानन्दकार के भावो मे साम्य है क्योकि दोनो नायिकायेँ अपनी-अपनी चौर्यरत को छ्लप्रपंच के साथ छिपाती हैं। इतने पर भी दोनो के वर्णनो मे विभेद यह है कि मतिराम की नायिका के कचुकादि वस्त्र और शरीर के अग केवडे द्वारा खरोंच युक्त होते हैं और अप्पय दीक्षित की नायिका घर के आगे अथवा पीछे के बगीचे के पराग मे धूल धूसरित होती है। अत यह कहा जा सकता है कि मतिराम ने प्रभावित होते हुये भी भाव अपना ही ग्रहण किया है।

विदग्धा परोढा

जो नायिका अपनी आन्तरिक भावना को वाणी अथवा क्रिया द्वारा प्रस्तुत करती है, उसे विदग्धा परकीया की सज्ञा दी जाती है। रसमंजरीकार ने वाणी और क्रिया के अनुसार विदग्धा के वाग्विदग्धा और क्रिया विदग्धा ये दो उपभेद किए हैं।[3]

---

१ मतिराम ग्रन्थावली—रसराज-छन्द ६९

२ कुवलयानन्द—व्याख्याकार डा० भोलाशकर व्यास-कारिका १५३, पृ० २४९

३ रसमजरी—सुषमा—विदग्धा लक्षण--पृ० ३१

विहारी की नायिका कितनी चतुराई से प्रिय के सम्मुख अपनी रमणेच्छा को व्यक्त करती है, देखिये–

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि पुज ।
जमुनातीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज ।।[1]

यहाँ स्वयं रति का नायिका चातुरी से अपना अभिप्राय प्रकट करती हुई रमणोपयुक्त स्थल का निर्देश करती है कि यमुना के किनारे पर तमाल वृक्षों से मिले हुए मुन्दर भ्रमरो के समूह से युक्त मालती-कुंज में विश्राम करके आप दुपहरी की कड़ी घाम का निवारण कीजिए। नायिका का उद्देश्य यही है कि दोपहर का समय है। अतः किसी के घर मे निकलने की भी कोई शंका नहीं है तथा संकेतिक स्थल सम्भोग के लिए भी उत्तम रहेगा।

मतिराम की विदग्धा भी चतुराई के साथ कृष्ण को वछड़ा ढूँढ़ने के वहाने वन मे चलकर रमण करने का संकेत देती है–

आई है निपट साँझ गैयाँ गई घर-माँझ,
 ह्वातौ दौरि आई मेरो कह्यौ कान्ह कीजिए।
हौं तौ अकेली और दूसरो न देखियत,
 वनकी अँधेरी मैं अधिक भय भीजिये ।
कवि 'मतिराम' मन मोहन सौ पुनि-पुनि,
 राधिका कहत वात साँचौ यै पतीजिए ।
कव की हौ हेरति न हेरे हरि ! पावति हौं,
 वछरा हिरानौ सो हिराय नैक दीजिए ।[2]

संध्या के समय नायिका के प्रिय के सामने घर मे गायो का चला जाना, वछड़ा खोने पर वन में ढूँढ़ने के लिये अकेली जाने में असमर्थता की वात, पुनः कृष्ण से वछड़ा ढुँढ़वाने के लिये प्रार्थना आदि परिस्थितियों को प्रकट कर वन के एकान्त स्थान में सुरति-क्रीड़ा का आमन्त्रण देती है क्योंकि प्रथम तो संध्या में वन मे कोई आयेगा नही और दूसरे वछड़ा ढूँढ़ने की वात सुनने से किसी को शंका भी नही होगी।

रसमञ्जरीकार की विदग्धा भी किसी पथिक को रमण स्थल का संकेत वड़े ही कौशल से देती है, यथा–

निविडतमतमालवल्लिवल्ली-विचकिलराजविराजितोपकण्ठे ।
पथिक ! समुचितस्तवाद्य तीव्रे, सवितरितत्र सरित्तटे निवासः ।।[3]

---

१. विहारी रत्नाकर–दोहा १२७
२. मतिराम सतसई–रसराज–छन्द ७२
३. रसमञ्जरी-सुषमा–उदाहरण २३

मध्याह्न में ठहरने को पूँछने समय पथिक को सूर्यताप की प्रखर गर्मी में साधारण लताओं और चारों ओर से घिरी मल्ली लताओं से सुशोभित तमाल-वन के समीप नदी तट को विश्राम स्थल बतलाती हुई व्यञ्जना से नायिका उस पथिक से अपनी रमणेच्छा प्रकट कर उसे सम्भोग के लिये आमन्त्रित करती है।

अब तीनों कवियों–बिहारी, मतिराम और भानुदत्त के वर्णनों का परीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तीनों नायिकायें अपने-अपने प्रिय को रमण के लिये आमन्त्रित करती हैं, सम्भोग के उपयुक्त एकान्त स्थलों का संकेत देती हैं। अत साकेतिक दृष्टि से तीनों प्रसंग बहुत ही साम्य लिये हैं। बिहारी की नायिका यमुना के किनारे तमाल वन के एकान्त स्थान का, मतिराम की नायिका सन्ध्या के समय एकांत वन-प्रदेश को तथा रसमंजरीकार की नायिका भी एकान्त तमाल वन को ही रमण के लिये उपयुक्त समझकर अपने-अपने प्रिय को सम्भोग का आमन्त्रण देती हैं। वर्णनों में हिन्दी कवियों ने अपनी-अपनी सूझ से काम लेते हुये भी प्रेरणा संस्कृत काव्य से ही ली है। मतिराम ने बछड़ा ढूँढने का वर्णन अपनी मौलिक दृष्टि द्वारा लिया किन्तु संकेत की दृष्टि संस्कृत कवियों की प्रेरणा से ही प्राप्त हुई। बिहारी का प्रसंग तो रसमञ्जरीकार के प्रसंग के पूर्ण अनुकरण पर ही लिखा गया प्रतीत होता है।

इसी प्रकार देव[1] तथा पद्माकर[2] की विदग्धा परकीया नायिकाओं की तुलना क्रमश कुट्टनीमतकार[3] तथा गीत-गोविन्द[4] के प्रसंगों से की जा सकती है। भाव की दृष्टि से ये बहुत कुछ समान हैं। रीतिकालीन अन्य कवियों के विदग्धा के ऐसे अनेक वर्णन हैं जो संस्कृत काव्यों से अनुप्राणित हैं किन्तु विस्तार भय से यहाँ उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।

लक्षिता-परोढा

जिस परकीया नायिका पर पुरुषानुराग सखी के समक्ष सहज में ही लक्षित हो जाता है अर्थात् जो नायिका अपने नायक के प्रति किए गये प्रेम को नहीं छिपा पाती वह लक्षिता नायिका कही जाती है।[5]

बिहारी ने लक्षिता के प्रेम का सखी द्वारा लक्षित करने के प्रसंग में एक सुंदर दोहा अंकित किया है जिसका आशय यह है कि नायिका मन्दिर में देव के ऊपर सुन्दर माला चढ़ाती है, वहीं उसका उपनायक आकर माला चढ़ाता है। पुजारी

---

१ देव ग्रन्थावली–भाव विलास-चतुर्थ विलास-छन्द ६८, पृ० १०६
२ पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद-छन्द १०३
३ कुट्टनीमत–काव्य-श्लोक ८६८ (अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार)
४ गीत गोविन्द–प्रथम सर्ग-अष्टपदी ४ के पश्चात्-श्लोक २
५ मतिराम ग्रन्थावली–रसराज-छन्द ७६

ने प्रसाद रूप में उनकी मालायें उनको पहना दी । तब संयोग ऐसा हुआ कि पुजारी ने नायिका को वही माला पहना दी । जिसे नायक ने चढ़ाया । बस फिर क्या था नायिका के शरीर में विजली सी दौड़ गई । उसे रोमांच हो आया । उसकी सखी स्थिति को भांप लेती है । कवि ने इस भाव को सखी के माध्यम से स्पष्ट किया है, यथा—

मैं यह तोहि मैं लखी भगति अपूरब बाल ।
लहि प्रसाद-माला जुभौ तन् कदम्ब की माल ॥[1]

सखी का आशय यह है कि हे बाले यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझी में देखी है कि प्रसाद की माला को प्राप्त कर शरीर कदम्ब की माला के समान अर्थात् रोमांचित हो गया । यहाँ उल्लेखनीय एक बात यह है कि नायिका को माला पहनाने वाला स्वयं पुजारी भी तो उसका उपनायक स्वरूप हो सकता है ।

जिस प्रकार विहारी की नायिका का शरीर प्रिय की माला पहनने से रोमांचित होने पर सखी के समक्ष उसका प्रेम प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार मतिराम की नायिका की कुचित भौह प्रकट कर देती है—

सतरौही भौंहन नहीं, दुरै दुरायो नेह ।
होत नाम नन्दलाल के, नीप माल सी देह ॥[2]

सखी नायिका मे पर पुरुष के साथ किये गये प्रेम के सम्बन्ध में पूँछती है । इस पर नायिका रुष्ट हो जाती है और भौहें टेढ़ी कर लेती है । तब सखी उससे कहती है कि भौह टेढ़ी करने के साथ किया गया प्रेम किसी भी प्रकार नही छिप सकता क्योकि कृष्ण का नाम श्रवण मात्र से ही बाला का शरीर कदम्ब की माला सा कंटकित हो जाता है ।

रसमंजरीकार भानुदत्त की नायिका भी विहारी और मतिराम की नायिकाओं की भाँति अपने परनायक के साथ किये गये प्रेम को छिपाने का प्रयत्न करती है । तब उसकी सखी कहती है छिपाना व्यर्थ है, क्योकि—

यद् भूतं तद् भूतं यद् भूयात्तदपि वा भूयात्
मद्भवति तद्भवति वा विफलस्तव कोऽपि गोपनायासः ॥[3]

नायिका से सखी के कथन का आशय यह है कि नायिका ने परनायक से मिलन किया, वह तो होने ही वाला था, तो हो चुका और जो होने वाला है वह भी हो, अर्थात् फिर-फिर मिलने के लिये प्रयत्न करने वाली है, वह भी करे, और जो

---

१. विहारी रत्नाकर—दोहा ४७०
२. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ७८
३. रसमञ्जरी—'सुषमा'—हिन्दी व्याख्या सहित-उदाहरण २५, पृ० ३२

हो रहा है वह भी हो, किन्तु नायिका जो सखी से प्रेम का गोपन करती है, वह व्यर्थ है क्योंकि सखी को सब कुछ मालूम हो ही चुका है।

अब बिहारी, मतिराम और भानुदत्त इन तीनो कवियो के प्रसगों का परीक्षण करने पर पता चल जाता है कि तीनो वर्णनो में नायिकाओं की प्रीति छिपाने की चेष्टाओ का वर्णन किया गया है, किन्तु उनमे से एक की भी प्रीति सखी के सामने नहीं छिपती बल्कि तीनो की सखियाँ उनके प्रेम से परिचित हो जाती हैं। यहाँ तक तीनो कवियो के भाव समान हैं किन्तु वर्णन मे परिस्थिति तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से तीनो मे पर्याप्त वैषम्य है। रसमञ्जरीकार का वर्णन बिल्कुल सीधा-सादा है जब कि रीतिकालीन कवियो के प्रसगो मे कुछ अधिक सरसता है। बिहारी के भावों मे पुजारी द्वारा नायिका के गले मे डाली गई कदम्ब की माला से उसका रोमाचित होना, तथा मतिराम की नायिका के शरीर का नन्दलाल का नाम सुनते ही नीप माल अर्थात् कदम्ब की माला के समान होना, ये उक्तियाँ सरस और अत्यन्त माधुर्ययुक्त हैं, दोनो कवियो की सूझ रसमजरीकार से आगे पहुँची हुई प्रतीत होती है। अत इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत कवियो ने लक्षिता के वर्णन मे प्रेरणा तो ली है किन्तु वर्णनों के विषय मे अपनी सूझ से काम किया है। पद्माकर और देव के भाव भी इसी स्वतन्त्र वृत्ति को लिये हुये हैं।

कुलटा-परोढा

आचार्यों के अनुसार कुलटा वह है जो नायिका रति के लिए अनेक पुरुषो की इच्छा करती रहती है।[1] इस नायिका को गुरुजन अथवा लोक-लज्जा का कोई भय नही रहता। आचार्य देव ने कुलटा की इन्ही विशेषताओ को दृष्टिगत करते हुये किसी नायिका के स्वभाव का वर्णन करते हुये कहा है कि—

> लाज की गाँठ गई छुटिकै नहिं गाँठ तेँ काहू छुटै न छुटाये।
> आठहू याम उतै उठि धावति साठौ घरी सु ठई है सुठाये।
> ठान कुठान अठान ठनी ठहरौली रहै गुरु लोग रुठाये।
> ऐंठनि औठ उठी अँगियाँ अठिलानी फिरै भुजमूल उठाये॥[2]

नायिका की लाज की गाँठ का समाप्त होना, किसी भी सम्पर्क मे आये हुये व्यक्ति को छूटने न देना, आठो क्षण इधर-उधर उठकर दौडना, किसी भी अच्छे अथवा बुरे स्थान पर चटक-मटक के साथ रहने से सदा गुरु लोगों को अप्रसन्न रखना, अँगिया के उठे रहना एव भुज मूल उठाकर इठलाते हुये फिरना इत्यादि नायिका की समस्त भाव-भगिमायें उसके कुलटापन को ही व्यक्त करती हैं। देव ने

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद-छन्द १०८, पृ० १०७

२. देव ग्रन्थावली–रसविलास आठवां विलास–छन्द ५, पृ० २४१

जिस कुलटा का चित्रण किया है, उसका सम्बन्ध किसी एक से नही होता वल्कि अनेकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ही वह घूमती रहती है। देव की 'अठिलानी फिरैं भुजमल उठाये' से कुलटा विषयक यही ध्वनि निकलती है कि उसका कोई एक व्यक्ति अपना नहीं होता वलिक बहुत से होते है।

भर्तृहरि ने इसी प्रकार की कुलटा का चित्रण करते हुये कहा है कि—

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्य सविभ्रमाः।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यंप्रियः को नाम योषिताम् ॥[1]

कुलटा नायिका द्वारा वातें तो किसी अन्य पुरुष से करना, विलास सहित किसी अन्य की ओर दृष्टिपात करना तथा हृदय मे किसी अन्य से मिलने की चाह रखना, ये समस्त वातें उसके विषय मे इस वात की शंका उत्पन्न कर देती हैं कि न जाने उस नायिका का प्यारा कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर इसी श्लोक में इस प्रकार व्यंजित हो रहा है कि उक्त व्यक्तियो मे कोई भी इस नायिका का प्रिय नही होता है।

निर्लज्ज होकर देव की नायिका के घूमने एव हाव-भाव द्वारा दूसरों को आकर्षित करने इत्यादि वातें भर्तृहरि के कथन को ही व्यञ्जित करती हैं। लोक लाज न होने पर ही तो देव की नायिका इधर-उधर आठों प्रहर घूमती रहती है। जिससे गुरुजन भी अप्रसन्न रहते हैं। भर्तृहरि की नायिका की अन्य पुरुष से वातें करने में, चाह से अन्यत्र देखने और किसी अन्य से मिलन की इच्छा रखने मे इन समस्त चेष्टाओं में देव द्वारा कही गई उक्तियों की ही व्यञ्जना लक्षित हो रही है। इन सब कारणो से दोनों कवियों के प्रसंगों में थोड़ी समानता है तो सही किन्तु भाव भाषा की रमणीयता की दृष्टि से देव का प्रसंग पूर्णरूप से स्वतन्त्र ही है।

इसी प्रकार पद्माकर का कथन भी दर्शनीय है जो कि भर्तृहरि के उक्त प्रसंग से वहुत कुछ मिलता-जुलता है, यथा—

यों अलवेली अकेली कहूँ सुकुमार सिगारन कै चलै कै चलै।
त्यों पद्माकर एकन के उर में रसवीजनि वै चलै वै चलै।
एकन सों वतराइ कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै।
एकन कों तकि घूँघट में मुख मोरि कनखिन दै चलै दै चलै ॥[2]

पद्माकर की कुलटा नायिका-विषयक समस्त उक्तियाँ अत्यन्त संयमित होकर उतरी हैं। अलवेली नायिका का अकेले सिगार करके चलना, एक व्यक्ति के हृदय में रस-वीज का रोपण कर पुनः एक दूसरे से कुछ क्षण तक वात करना, फिर एक तीसरे मन को लेकर चले जाना, और एक चौथे को कटाक्ष देकर वहाँ से प्रस्थान

१. भर्तृहरि विरचितम्—शृंगारशतक—श्लोक ८१
२. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद-छन्द १०९

करना—ये समस्त कथन एक नाटकीयता के भाव को प्रस्तुत करके अंकित हुए हैं तथा इस कथन पर पूर्ण रूप से उपरोक्त भर्तृहरि के प्रसंग की छाप विद्यमान है क्योंकि जिस प्रकार भर्तृहरि की नायिका के सम्पर्क में आये नायकों में से नायिका का प्रिय-पात्र नहीं जाना जा सकता उसी प्रकार पद्माकर की नायिका के सम्पर्क में आये इन चारों पात्रों में से नायिका का अधिक स्नेही पहचानना कठिन ही है। पद्माकर ने नायिका को अलबेली, रसबीजनि इत्यादि शब्दों तथा उसके लिए "सुकुमार सिंगारन" से सजने तथा "नायिका द्वारा घूँघट में से देखने" इत्यादि उक्तियों का प्रयोग सरस और सजीव बन पड़ा है जिससे प्रसंग में अधिक गति आ गई है।

अनुशयाना परोढ़ा

अनुशयाना वह नायिका होती है जो पश्चाताप करती है। इसी आधार पर ये तीन प्रकार की अनुशयाना बतलाई गयी हैं—एक तो वह जो वर्तमान के संकेत स्थान के विघटन से पश्चाताप करती हो, दूसरी वह जो भविष्य के संकेत स्थान के न मिलने की शंका से खिन्न होती हो और तीसरी वह जो पूर्वनिर्दिष्ट संकेत स्थान पर अपने प्रिय का गमन जानकर स्वयं न पहुँचने से खिन्न होती हो।

अनुशयाना की सभी स्थितियों में प्रकृति एक ही पश्चाताप की होती है। अतः यहाँ उसे तीनों रूपों में अत्यन्त विस्तार पूर्वक न देखकर संक्षिप्त रूप में ही देखा गया है। एक बात और विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य यह है कि संकेत-स्थल रूप में साहित्य के अन्तर्गत वाटिका भग्न देवालय या खंडहर इत्यादि प्रसिद्ध होते हैं। इन्हीं संकेत स्थलों पर पहुँचकर प्रेमीजन विहार करते हैं।

संस्कृत काव्यों में अनुशयाना की समस्त स्थितियों को ध्यान में रखते हुए नायिका भेद की परम्परा में अनेक मुक्तक तथा लघु काव्यों में चित्र अंकित किये गये हैं। हिन्दी कवियों के वर्णन भी संस्कृत काव्यों से ही अनुप्राणित रहे हैं। उदाहरण के लिए मतिराम और रसमंजरीकार के एक एक प्रसंग को तुलनात्मक दृष्टि से लिया जा सकता है। सर्वप्रथम मतिराम का प्रसंग द्रष्टव्य है। सन्दर्भ इस प्रकार है—नायिका जब पति गृह को जाती है, उसे इस बात का दुःख होता है कि वह अब अपने कान्हा से नहीं मिल सकती। तब सखी नायिका को धैर्य बँधाती हुई कहती है कि—

> बेलनि सों लपटाय रही है तमालनकी अवली अतिकारी।
> कोकिल-केकी कपोतन के कुल, केलि करैं जहाँ आनन्द भारी।
> सोच करो जिन होहु सुखी "मतिराम" प्रवीन सबै नर-नारी।
> मंजुल वंजुल कुंजन में घन पुंज सखी ससुराल तिहारी॥[1]

सखी का आशय यह है कि भविष्य में नायिका प्रिय से अवश्य ही मिल

---

१ मतिराम सतसई-रसराज-८९

सकती है क्योंकि जहाँ उसकी शादी हुई है, वहाँ अनेक लतिकाओं से लिपटी हुई बहुत से श्यामल तमाल वृक्षों की पंक्ति है, जिसमें कोकिल, केकी और कपोत आनन्द के साथ क्रीडा करते हैं। इसीलिए सखी समझाती है कि नायिका को दुखित न होकर प्रसन्न होना चाहिए क्योकि सुन्दर वेंल के कुजो मे ही तो उसकी ससुराल है जो कि संकेत स्थल के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त है और जहाँ नायिका प्रिय से विना किसी रोक टोक के मिल सकती है।

रसमंजरीकार का भाव भी इसी से मिलता जुलता भाव है--

निद्रालुकेलिमिथुनानि कपोतपोत–
व्याधूतनूतनमहीरुहपल्लवानि ।
तत्रापि तन्वि ! न वनानि कियन्ति सन्ति
खिद्यस्य न प्रियतमस्य गृहं प्रयाहि ।।[1]

पति के घर जाने के समय जव सुर चौर्यरत न मिलने की शका से नायिका दुखित होने लगी तो सखी उसको धैर्य वँधाती हुई कहती है कि तन्वि का सोच मे पड़ना व्यर्थ है क्योंकि पति के गाँव में भी अनेक वन ऐसे हैं जिनमें निःशंक होकर भौरों के जोड़े रहते हैं और कबूतरों के वच्चे वृक्षों के नये-नये पल्लवों को कम्पित करते रहते है। नायिका को सखी समझाती है कि इन सभी दृष्टियों से उसे खेद न करते हुए प्रियतम के घर चले जाना चाहिए।

मतिराम और रसमजरीकार के भाव का सम्यक् ईक्षण करने पर पता चल जाता है कि दोनों कवियों के भाव प्रायः समान ही हैं क्योंकि दोनो की नायिकायें जव पति गृह जाने मे चौररत की शका से व्यथित होती हैं तो दोनों की सखियाँ उन्हें समझाती हैं कि पति के गाँव मे भी चौररत के लिए उपयुक्त वनस्थल विद्यमान हैं। अतः शंका की कोई आवश्यकता नही है। अत स्पष्ट हो जाता है कि इस भाव के वर्णन में मतिराम ने पूर्ण रूप से रसमजरीकार का अनुकरण किया है। फिर भी "वेलिन सोलपटाय रही है तमालनकी अवली अतिकारी"–जैसी उक्तियाँ प्रसंग में सरसता उत्पन्न कर देती हैं।

पद्माकर का एक भाव रसमजरी के उक्त भाव से वहुत कुछ मिलता है।[2] इसी प्रकार विहारी के भाव को रसमजरीकार के लक्षण की कसौटी पर उतारकर परखा जा सकता है।[3] देव और रसमंजरी के एक एक भाव की तुलना करने से

१. रसमंजरी–सुषमा हिन्दी व्याख्या-श्लोक २८, पृष्ठ ३४
२. पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द ११९
३. विहारी रत्नाकर—छन्द १३८ तथा रसमंजरी–छन्द सं० २६ से नीचे अनुशयाना का लक्षण।

उनमें आपस में बहुत कुछ साम्य दृष्टिगत होता है। देव के एक ही छन्द में अनुशयाना की दो स्थितियों का निरूपण है, तथा ये दोनों स्थितियाँ रसमंजरी के दो श्लोकों में आई हैं।[1]

मुदिता परोढा

जिस परकीया नायिका को उपपति के साथ सम्भोग सुख प्राप्त करने की आशा होती है उसे मुदिता परोढा कहा जाता है।[2] मुदिता नायिका सब की आँखों में धूल झोंककर भी अपनी मनोभिलाषा के पूर्ण होने का स्वप्न देखती है। उदाहरणार्थ बिहारी की नायिका अपने पति के परदेश गमन पर खुशी के प्रसन्नता सूचक आँसू बहाती है क्योंकि वह पति के जाने के पश्चात् पड़ोसी के साथ खुलकर मिल सकती है, यथा–

चलन देत आभारु सुनि उहिं परोसिहिं नाह।
लसी तमासे की दृगनु हाँसी आँसुन माँह ॥[3]

मतिराम की नायिका भी पति के चलने से खुशी के आँसू बहाती है, यथा–

बिछुरत रोवत दुहुन को सखि यह रूप लखै न।
दुख-अँसुवाँ प्रियनैन हैं, सुख अँसुवाँ तियनैन ॥[4]

एक सखी दूसरी से कहती है कि हे सखि! आपस में एक दूसरे से विमुक्त होने के कारण दोनों रो रहे हैं। थोड़ा देखो तो सही। प्रिय के नेत्रों में तो प्रिया विश्लेष के कारण दुख के आँसू हैं और नायिका के नयनों में परपुरुषानुरक्त होने के कारण प्रसन्नता के आँसू हैं। तात्पर्य यह है कि नायिका इसलिए आनन्दाश्रु बहा रही है क्योंकि उसे पति के पश्चात् परपुरुष के साथ सम्भोग सुख प्राप्त होगा।

रसमंजरीकार का प्रसंग तो दूसरे ढंग का है, किन्तु नायिका की परपुरुषानुरक्त भावना को व्यक्त करने के उद्देश्य में रीतिकालीन कवियों के उक्त प्रसंगों के साथ तोला जा सकता है, यथा–

गोष्ठेषु तिष्ठति पतिर्बधिरा ननान्दा
नेत्रद्वयस्य न हि पाटवमस्ति यातुः।
इत्थं निशम्य तरुणी कुचकुम्भसीम्नि
रोमाञ्चकञ्चुकमुदञ्चितमाततान ॥[5]

---

१ देव ग्रन्थावली–भावविलास–चतुर्थ विलास–छन्द ७२ तथा रसमंजरी–श्लोक २७ तथा २९, पृष्ठ ३३

२ मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ८२

३ बिहारी रत्नाकर–दोहा–५५१, पृष्ठ २२८

४ मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ८६

५ रसमंजरी–सुषमा हिन्दी व्याख्या–श्लोक ३०

अर्थात् तरूणी जब यह सुनती है कि ससुराल में उसका पति हमेशा बधान में रहता है, नन्द बिल्कुल बहरी है और जेठानी की आंखों में धुंध रहता है तो उसके स्तनों के चारों ओर कंचुक के रूप में रोमांच ऊपर ऊपर भर आया।

बिहारी, मतिराम, रसमंजरीकार तीनों कवियों के भावों पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि तीनों में पूर्ण रूप से मतभेद है क्योकि प्रथम तो प्रसंगों में ही विभिन्नता है क्योंकि बिहारी और मतिराम के वर्णनों की नायिकाओं के प्रियतम परदेश जाते हैं और उनके अभाव में नायिकायें उपपतियों के साथ मिलन की आशा से प्रसन्न होती है जबकि रसमजरी के अन्तर्गत इस प्रसग की नायिका ससुराल में पति की अनुपस्थिति और नन्द और जेठानी की असमर्थता पर उपपति के साथ विहार करने की कल्पना कर प्रफुल्लता से युक्त हो जाती है। किन्तु इतनी विषमता होते हुए भी तीनो की प्रसन्नता का केवल एक ही कारण--परपुरुष से मिलन की कल्पना है। इस दृष्टि से तीनो प्रसंगों में जहाँ असमानता है वहाँ समानता भी आ गई है। किन्तु रसमंजरीकार का दोनों पर प्रभाव नहीं है बल्कि रीतिकालीन कवियों के ये प्रसंग मौलिक है।

सारांश

परकीया नायिका के कन्यका और परोढ़ा-ये दो भेद ही प्रमुख रूप से सामने आते हैं। इनमें कन्या का स्वरूप प्रिय के प्रति पूर्वानुरागिनी कुमारी का है। अतः रीतिकालीन और संस्कृत काव्यों में कन्यका के कुमार जीवन में किये गये प्रेम का उल्लेख विस्तार से हुआ है। यह नायिका माता-पिता के अधीन रहने के कारण अपने मनोनुकूल नायक से प्रेम तो कर सकती है किन्तु अपनी इच्छानुसार विवाह नही कर सकती। सम्भवतया इसी दृष्टि से आचार्यों ने इसे परकीया के अन्तर्गत रखा है।

दूसरी ओर आचार्यों ने परोढ़ा के जो भी चित्र उन्मीलित किये, उनके आधार काव्यात्मक ग्रन्थ ही रहे। अतः संस्कृत के लघु अथवा मुक्तक काव्यों पर दृष्टिपात करने पर पता चल जाता है कि इन ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में परोढ़ा के समस्त भेदोपभेद प्राप्त हो सकते है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के महाकाव्यों में शृंगारिक प्रसंगों के समानान्तर ही यत्र-तत्र ऐसी बहुत-सी नायिकाये प्राप्त हो जाती है जिन्हें परोढ़ा परकीया के विभिन्न भेदोपभेदो की श्रेणी मे सरलता से स्थान दिया जा सकता है। अतः आचार्यों ने संस्कृत के काव्यों से प्रभावित होकर ही परकीया के विभिन्न भेदोपभेदों की कल्पना की। इसी परम्परा का रीतिकाल में खूब अनुकरण हुआ तथा वहाँ पर भी परकीया के लाक्षणिक दृष्टि से बहुत से भेदोपभेद निरूपित किये गये। विशेष बात यह है कि पहले से ही समस्त परोढ़ायें उपपति से मिलन की प्राप्ति के लिए लोक-लाज गुरुजन–इनमें से किसी की भी चिन्ता न कर उन्मुक्त रूप से विहार करती है।

सामान्या नायिका

धन मात्र के उद्देश्य से सभी प्रकार के लोगों मे अनुराग रखने वाली नायिका को सामान्य वनिता या सामान्या कहते हैं। अर्थात् जो पुरुष उसे धन देता है वही उसके स्नेह का पात्र बन सकता है। यह नायिका वेश्या होती है।[1]

संस्कृत काव्यो मे इसके अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनी-मत काव्य' मे और आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'कला विलास' मे वेश्याओं की अनेक चेष्टाओं का वर्णन किया है। रीतिकालीन कवियो ने भी नायिकाओं की परम्परानुसार सामान्या की चेष्टाओं को व्यक्त किया है किन्तु सामान्या का वर्णन उन्होंने इतने विस्तार से नही किया जितना कि स्वकीया और परकीया का किया है।

पद्माकर की सामान्या के उत्सुकता पूर्वक देखने की कल्पना कितने सुन्दर ढंग से प्रकट होती है, देखिए--

आरस सो आरत सम्हारत न सीस पट
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै पद्माकर सुगन्ध सरसार बेस
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर।
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर
भोर उठि आई केलि मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे
एक कर कंज एक कर है किवार पर॥[2]

रमण के हेतु आने वाले युवकों की आशा मे नायिका द्वारा सिर के वस्त्र का न सम्भाला जाना, सुगन्ध को लिए हुए सरस वेष एवं हीरों के हार पर बिखरे हुए केशों से सुशोभित सामान्या का भोर के समय केलि मन्दिर के द्वार पर उठकर आना, तथा एक पग भीतर और एक पग का बाहर देहली पर रखे हुए स्थिर रहना, एवं कर-कमल से किवाड का सहारा लेना इत्यादि अवस्थायें अनुपम चित्र उपस्थित करती हैं।

कुट्टनीमतकार की सामान्या की दूती भी किसी तरुण को फँसाने के लिए नायिका की इसी प्रकार की प्रतीक्षारत अवस्था का चित्रण करती हुई कहती है कि—

"उत्सृज्य सकलकार्यं तिर्यग्ग्रीव विलोकयन् भवतीम्॥"[3]

दूती के नायक के समक्ष नायिका की अवस्था का वर्णन करने का आशय यह

---

१ रसमंजरी—सुषमा हिन्दी व्याख्या सहित--पृष्ठ ३७
२ पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द १२४
३ कुट्टनीमत—सम्पा० अत्रिदेव विद्यालंकार—श्लोक ८२९

है कि "नायिका समस्त कार्यों को छोड़कर गवाक्ष आदि में बैठकर ग्रीवा को थोड़ा टेढ़ा करके, स्मित नेत्रों से आपको देखती रहती है।"

अब दोनों वर्णनों का परीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि पद्माकर की सामान्या जिस प्रकार द्वार पर खड़ी होकर अपने रूप के चहेतों की प्रतीक्षा करती है, उसी प्रकार कुट्टनीमतकार की नायिका भी गवाक्षों से अपने इस नायक की प्रतीक्षा करती है। अतः इस दृष्टि से दोनों प्रसंग समान हैं किन्तु सर्वप्रथम तो वैषम्य इसी में है कि पद्माकर की नायिका बहुत से नायकों की प्रतीक्षा द्वार पर खड़ी होकर करती है जबकि कुट्टनीमत की नायिका गवाक्षादि में बैठकर नायक का अवलोकन करती है। भाव नियोजन एवं शब्द योजना की दृष्टि से भी दोनों प्रसंगों में पर्याप्त मतभेद है क्योंकि पद्माकर ने अपने वर्णन में भावों के जिस क्रम को लिया है, वह समस्त अति रमणीय बन पड़ा है एवं अत्यन्त मनोरम चित्र को भी सहज ही प्रस्तुत कर देता है। अस्तु--"एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे एक कर-कंज एक कर है किवार पर"--यह चित्र अत्यन्त स्वाभाविक है और रमणीय बन पड़ा है। इसके अन्तर्गत प्रतीक्षाकुल सामान्या के हृदय की विह्वलता का संकेत अत्यन्त सरलता के साथ प्राप्त हो जाता है। शब्द योजना की दृष्टि से भी यह प्रसंग अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़ा है क्योंकि "छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर" इस कथन के अन्तर्गत शब्दों की प्रसंगानुरूप ध्वनि योजना देखी जा सकती है।

बहुत से आचार्यों ने सामान्या अथवा वेश्या के भी बहुत से भेदोपभेदों की कल्पना की है। यह तो वह नायिका है जिसका समस्त प्रेम पैसे की मात्रा पर केन्द्रित रहता है। अर्थात् यह नायिका केवल धनिक नायक से ही प्रेम कर सकती है, अन्य से नहीं। अतएव इसके लिए किसी भी व्यक्ति के सौन्दर्य, शील, सौजन्य---आदि विशिष्ट गुण कोई महत्त्व नहीं रखते। यह पैसे वाले किसी भी निम्न श्रेणी के व्यक्ति से प्रेम करती हुई अपना शरीर प्रदान कर सकती है। वेश्या अथवा सामान्या नायिका के इसी गुण को लेकर अनेक स्वतन्त्र काव्यों की रचना की गई। एवं लगभग सभी युगों के काव्यों मे इसका इसी दृष्टि से उल्लेख किया गया है। आचार्यों ने भी इसी दृष्टि से तीसरी मुख्य नायिका के रूप में स्थान दिया है। रीतिकालीन आचार्यों के सामान्या विषयक वर्णन संस्कृत काव्यों की परम्परा से प्रभावित परम्परा युक्त हैं किन्तु अभिव्यक्त करने का ढंग उनका स्वतन्त्र है।

दशाभेद के अनुसार नायिका भेद

रसमंजरीकार ने दशाभेद के अनुसार सामान्य रूप से नायिकाओं को तीन रूपों में विभाजित किया है---अन्यसम्भोग दुःखिता, गर्विता तथा मानवती।[1]

---

१. एता अन्यसम्भोगदुःखिता वक्रोक्तिगर्विता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवत्यश्चेति तिस्रो भवन्ति।
रसमंजरी--सुषमा हिन्दी व्याख्या--सामान्या के पश्चात्, पृष्ठ ४०

अन्य सम्भोग दुःखिता

जो नायिका किसी सपत्नी अथवा अन्य स्त्री के शरीर पर अपने पति के रति चिन्ह देखकर दुःखित होती है उसे अन्य सम्भोग दुःखिता कहते हैं।

नायिका के प्रिय के साथ सम्भोग करके आई दूती को नायिका व्यंग्यपूर्वक उलाहना देती हुई कहती है, कि—

खलित बचन, अधखुलित दृग, ललित स्वेद कनजोति।
अरुन बदन छबि मदन की, खरी छबीली होति॥[1]

अभिप्राय स्पष्ट है कि अर्थशून्य वचन, अधखुले अर्थात् रतिश्रम के कारण अलसित दृग, स्वेद कणों की ललित कम्पित चमक एवं अरुण बदन से मदन छवि अर्थात् काम क्रीड़ा से उत्पन्न शोभा को धारण किए हुए दूती की हरकत भाँपकर उसे व्यंग्य करते हुए अत्यन्त सुन्दर कहकर यह ध्वनित किया है कि दूती को नायिका के साथ किए गये विश्वासघात पर शर्म आनी तो चाहिए।

मतिराम की नायिका भी दूती की समस्त हरकतों को भाँपती हुई उसको धिक्कारती है—

याही कों पठाई भलो काम करि आई बडी,
तेरी ये बडाई लखे लोचन लजीले सों।
सांची क्यों न कहे कछू मोको किधौं आपहि कों,
पाइ बकसीस लाई बसन छबीले सों।
मतिराम सुकवि सँदेसा अनुमानियत,
तेरे नख सिख अंग हरष कटीले सों।
तू तो है रसीली रस बातन बनाय जानें,
मेरे जान आई रस रसिकें रसीले सों॥[2]

नायिका अपनी अधमा दूती को फटकारती हुई कहती है कि तुझे प्रिय को को बुलाने के लिए इसीलिए भेजा था कि तू बहुत अच्छा कार्य करके आई है अर्थात् प्रिय के साथ जो तूने सुरत सम्पादित की है, क्या वह अच्छा काम है ? तेरे लजीले नेत्रों को देखकर ही तेरा बड़प्पन ज्ञात हो जाता है। सच-सच क्यों नहीं बतलाती कि ये वस्त्र उस रसिक ने तुझे इनाम में दिए हैं अथवा मुझे ? नायिका का तात्पर्य दूती के रति-क्रीड़ा मे फटे हुए वस्त्रों की ओर है। मेरे लिए जो संदेश लेकर आई है, उसका तो तेरे सिर से पैर तक हर्ष से पुलकित कंटकित शरीर से ही अनुमान किया जा सकता है। तू जो इतनी रसीली निकली कि अपनी रसीली बातों के जाल

---

१ बिहारी रत्नाकर—दोहा ६५३

२ मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द ९९

में प्रिय को फँसाकर उनसे रति की स्थापना करके आई है।

कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित की नायिका ने भी ऐसी ही दूती पर व्यंग्य करते हुए व्याजस्तुति द्वारा उसकी निन्दा की है, यथा—

साधु दूति ! पुनः साधु कर्त्तव्यं किमतः परम् ।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ॥[१]

नायिका का अभिप्राय यह है कि हे दूती, तूने बहुत अच्छा किया, इससे बढ़कर और तेरा क्या कर्तव्य था कि तू मेरे लिए दाँतों और नाखूनों द्वारा काटी गई अर्थात् अप्रकट रूप में यहाँ नायिका दूती का कर्तव्य याद दिलाकर प्रिय के साथ किए गए सम्भोग जन्य रति चिन्हों की निन्दा करती है जिससे दूती स्वयं ही लज्जित हो जाय।

उक्त प्रसंगों में जिस प्रकार बिहारी और मतिराम की नायिकायें दूतियों द्वारा उनके प्रियतमों के साथ सम्पादित रति-क्रीड़ा जन्य सात्विक भावों की निन्दा करती हैं उसी प्रकार कुवलयानन्द की नायिका भी प्रिय के साथ किए गए सम्भोग से उत्पन्न रति चिन्हों की निन्दा करती है। अतः प्रसंगों में यहाँ बहुत कुछ समानता है। मतिराम ने प्रसंग को विस्तार देकर भावों को अधिक विस्तार और सुन्दर शैली के माध्यम से प्रकट किया है।

देव की नायिका ने भी प्रिय को बुलाने को जो सखी भेजी थी, वह भी प्रिय के साथ यही करतूत करके लौटती है। अतः नायिका उसकी करतूत देखकर उस पर बरस पड़ती है—

साँझ ही स्याम को लेन गई सु बसी बन में सब जामिनि जाइ कै।
सीरी बयार छिदे अधरा उरझे उर झाँखर झार मझाइ कै।
तेरी सी को करि है करतूत हुती करिबे सो करी तैं बनाइ कै।
भोरही आई भटू इत मो दुखदाइनि काज इतो दुख पाइ कै ॥[२]

साँझ से ही सखी नायिका के आदेश पर नायक को वन में बुलाने के लिए जाकर स्वयं ही नायक से उलझ जाती है और प्रातःकाल के समय रति चिन्ह लेकर नायिका के समीप लौटती है। जिससे नायिका को अत्यन्त ही दुःख होता है। अतः नायिका उसे धिक्कारती है कि उसकी जैसी करतूत इस संसार में और कौन कर सकता है। इतने पर भी दूती अपने रति चिन्हों मे अधर खण्डन और स्तनों पर बने नाखूनों के चिन्ह के लिए शीतल वायु को दोष देती है किन्तु नायिका तो सब कुछ समझ लेती है कि वास्तव में बात क्या है ?

---

१ कुवलयानन्द-व्याख्याकार डॉ० भोलाशंकर व्यास—पृष्ठ १२९

२. देव-ग्रन्थावली-भावविलास-चतुर्थविलास-छन्द ८१, पृष्ठ १०८

रसमजरीकार की नायिका भी अपनी दूती को इसी प्रकार निरस्कृत करती है यथा--

त्व दूति ! निरगा कुज न तु पापीयसो गृहम् ।
किशुकाभरण देहे दृश्यते कथमन्यथा ॥[1]

प्रिय को बुलाने के लिए भेजी गई दूती के लौटने पर उसके शरीर पर सभोग चिन्ह देखकर नायिका उसकी भत्सना करती हुई कहती है कि अरी दूती ! तू इधर से कुज की ओर चली गई, उस पापी के घर नही गई । अगर यह बात नही तो तेरे शरीर पर टेसू के लाल-लाल पुष्पो का आभरण कैसे दिखाई दे रहा है । यहाँ किशुकाभरण से तात्पय नायिका के शरीर पर लगे नखक्षतो से है ।

देव और रसमजरीकार दोनो के प्रसग आपस मे भावो की दृष्टि से पूर्ण रूप से मिलते हुए हैं । देव ने नखक्षतो को स्पष्ट कर दिया है किन्तु रसमजरीकार ने टेसू के फूलो के आभरण की कल्पना कर काकु वक्रोक्ति द्वारा प्रसग को स्पष्ट किया है । दोनो ही कवियो के प्रसग रमणीय बन पडे हैं । इसी प्रकार अन्य सम्भोग दु खिता विषयक पद्माकर के कतिपय छन्दो[2] पर अमरुशतक[3] का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है ।

गर्विता नायिका

इसके नाम से ही स्पष्ट होता है कि यह अपने रूप सौन्दय आदि पर गर्व करने वाली नायिका होती है । अपने रूप एव प्रेम के गर्व मे भरी रहने के कारण आचार्यों ने इसके प्रमुखत दो भेद किए हैं-सौ दर्य गर्विता और प्रेम गर्विता ।[4]

यदि नायिका अपने पति के प्रेम के कारण अथवा सौन्दय के कारण गव करती है । गर्विता विषयक रीतिकालीन कवियो के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । उदाहरण के लिए देव का उदाहरण कितना सुन्दर बन पडा जबकि प्रिय नायिका को अनेक विशेषण से सम्बोधित करता है, यथा--

हरि जू सो हहा हटकोगी भटू जनि बात कहै जिय सोचनि की ।
कहि पकजनैनी बुलाइ कै मोहि दई सुषमा दुख मोचन की ।
उनही सो उराहनो देऊ ततो उमगै हरि रासि सकोचन की ।
बलि बारौं री बीरजु बारीज की जु बराबरि बीर बिलोचन की ॥[5]

---

१ रसमजरी—श्लोक ३३
२ पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द १२९, १३०
३ अमरुशतक–श्लोक ११३ तथा १०५
४ रसमजरी–गर्विता–लक्षण
५ देव ग्रन्थावली–भावविलास–चौथा विलास–छन्द ८३

नायिका अपनी सखी को बतलाती हुई कहती है कि हे सखी ! हरी से मना तो करो जो मन में अपनी बात कहकर चिन्ता उत्पन्न कर देते है क्योंकि उन्होने मुझे पंकजनैनी कहकर बुलाने से दुख मोचन की सुषमा प्रदान कर दी है यदि मैं उनको उला-हना देती हूँ तो मेरे हृदय में लज्जा की राशि उत्पन्न हो जाती है अर्थात् मैं अपार लज्जा का अनुभव करने के कारण उनसे मना भी नही कर सकती। अन्त मे नायिका सखी से कहती है कि उस कमल पर मैं बलिहारी होती हूँ जो कि नेत्रो की बराबरी करता है। यहाँ नायिका काकु वक्रोक्ति द्वारा यह दर्शाती है कि उसके नेत्र कमल के समान है। अत: नायक की उक्ति द्वारा वह अपने नयन विषय अभिमान को व्यक्त करने के कारण रूप गर्विता हुई।

रसमंजरीकार की गर्विता भी इसी प्रकार अपने रूप पर गर्वित होती हुई अपनी सखी से कहती है—

कलयति कमलोपमानमक्ष्णो:
प्रथयति वाचि सुधारसस्य साम्यम्।
कथय सखि ! किमाचरामि कान्ते
समजनि तत्र सहिष्णुतैव दोषः ॥[1]

नायिका का आशय यह है कि हे सखि ! तू ही बता, मैं अपने प्रिय के विषय में क्या करूँ ? वह मेरी आँखो को कमल के सदृश बतलाता है और वाणी में सुधा-रस का साम्य प्रकट करता है अर्थात् वह कहता है कि तेरी आँखें कमल के समान सुन्दर तथा वाणी अमृत के समान मधुर हैं। मै जो सब कुछ सहन करती जा रही हूँ, यही बहुत बड़ा दोष हो गया है। नही तो कुछ न कुछ उसके इस दु सह अपराध का दण्ड अवश्य देती। यह क्या कम अपराध है ? जो मेरी आँखों को कमल के समान और मेरी वाणी को सुधा के समान कहता है। कमल से या सुधा से मेरी आँखें या वाणी किस अश में कम है जो वह उन्हे उपमान अर्थात् अधिक गुणवाला और मेरी आँखो और वाणी को उपमेय अर्थात् न्यून बतलाता है।

देव के उक्त प्रसग पर सम्यक् दृष्टिपात करने पर पता चल जाता है कि देव का वर्णन रसमंजरीकार के अनुकरण पर ही आधारित है क्योकि जिस प्रकार रस-मंजरीकार की नायिका अपने नयनो और आँखो का वर्णन काकु वक्रोक्ति द्वारा सखि के सामने प्रिय को माध्यम बनाकर प्रकट करती है, और इस तरह नयनो और वाणी के प्रति अपने गर्व को प्रकट कर देती है वही स्थिति देव की नायिका की भी है। अन्तर इतना है कि देव की नायिका केवल नयनों का ही वर्णन करती हुई उपमान रूप कमलों की सराहना करती है जबकि रसमजरीकार की नायिका नयन विषयक

---

१. रसमंजरी–सुषमा हिन्दी व्याख्या–श्लोक ३५, पृ० ४२

गर्वोक्ति मे नयनो के समक्ष कमल और वाणी के समक्ष सुधा को भी हेय समझती है।

मानवती

जो नायिका कभी अपने प्रिय के किसी अपराध से और कभी अकारण क्रोधित हो जाती है, वह मानवती कहलाती है। संस्कृत काव्यो और हिन्दी काव्यो के अन्तर्गत मानिनी नायिका विषयक अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जिनमे कही कही नायिकाओ के किसी बात पर मान करने और पति द्वारा मनाने के अनेक प्रसग आये हैं। विरह की मान विषय अवस्था मे पिछले विरह के अध्याय म मानिनी नायिकाओ के कुछ प्रसगो को देखा गया है।

बिहारी की मानिनी मुग्धा की दशा प्रिय क वक्ष पर किसी अन्य स्त्री के वेणी के चिह्नो को उभरे देख कितनी विचित्र हो गई है, यथा--

बिलखी लखै खरी भरी भरी अनख, बैराग।
मृगनैनी सैनन भजे लखि बेनी के दाग ॥[1]

तात्पय यह है कि प्रियतम के अग म अन्य स्त्री की वेणी के चिह्न देखकर मृगनयनी नायिका सैन नही गिराती और क्रोध, वैराग्य स भरी एक ही स्थल पर पुतली सी खडी व्यथित हुई एकटक देख रही है।

अमरुशतक की मानिनी नायिका दुख से भरकर प्रिय के अग मे अन्य स्त्री के सम्भोग चिह्न की छाप लगी देखकर फटकार देती है, यथा--

"वक्षस्त मलतैलपङ्कशबलैर्वेणीपदैरङ्कितम् ॥"[2]

नायक के वक्ष पर अन्य स्त्री के साथ सम्भोग करने से तल आदि की पक से चित्रित छाती पर आलिङ्गन के समय उसकी वणी की छाप लग जाती है जिससे नायिका समस्त बातें पहचान लेती है कि सही परिस्थिति क्या हो सकती है। और इसीलिए नायक को फटकार देती है।

बिहारी और अमरु दोनो की नायिकायें अपने अपने प्रिय के वक्ष पर अन्य स्त्री के रति चिह्न देखकर व्यथा का अनुभव करती हैं। बिहारी की नायिका तो मुग्धा होने के कारण प्रिय के व्यवहार पर चुपचाप दुखी हो लेती है किन्तु बोल नही पाती, जबकि अमरु की नायिका अधिक प्रगल्भा है। इसके अतिरिक्त बिहारी के नायक के वक्ष मे अन्य स्त्री के साथ सम्भोग क कारण पहल स ही माला की छाप बनी है और अमरु के नायक के वक्ष मे बाद मे लग पाती है। वेणी की कल्पना बिहारी ने सम्भवतया अमरु से ही लेकर अपने भावो के माध्यम से सरस रूप में अभिव्यक्ति की है।

---

१ बिहारी रत्नाकर--दोहा ५८७

२ अमरुशतक--श्लोक १७

पद्माकर की अनुरागवती नायिका को सखियाँ मान की शिक्षा देती हैं किन्तु प्रिय के सम्मुख पहुँचकर नायिका सब कुछ भूल जाती है । यथा—

जाके मुखसामुहै भयोई जो चहत मुख
लीन्हौं सो नवाइ डीठि पगन अवांगीरी,
बैन सुनबै की अति व्याकुल हुतें जे कान
तेऊ मूँद राखे मजा मनहू न माँगी दी;
झारि डार्यो पुलक, प्रसेद हू निवारि डार्यो;
रोकि रसनाहू त्यो भरी न कुछु हांगी री;
एते पै रह्यो न मान मोहन लटू पै भट;
टूक-टूक ह्वै कै ज्यों छटूक भई आँगीरी ॥[1]

भाव का आशय स्वतः ही ध्वनित हो रहा है । इसी से मिलता जुलता अमरु का भाव इस प्रकार है—

तद्वक्त्राभिमुख मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयो-
स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया;
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गंडयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कंचुके सचयः ॥[2]

अनुरागवती नायिका को सखियाँ मान के बहुत से पाठ पढ़ाती है किन्तु कोई बात कारगर नहीं होती है । अतः विवश होकर नायिका सखियों से कहने लगती है—मैंने उनके सामने आते ही मुख नीचा कर लिया और जब आँखें उनको देखने के लिए व्याकुल होने लगीं तो आँखो को अपने पैरों पर गड़ा दिया, उनकी वाणी सुनने के लिए उत्कंठा से आकुल कानो को बन्द कर लिया, कपोलो पर उमड़े हुए रोमांचों और झलकते हुए स्वेद बिन्दुओं को हाथो से ढक लिया, किन्तु यह अँगिया तो जोड़ों पर मसककर खुलती ही जा रही है, अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ ? निस्सन्देह चोली ही धोखा दे गई जिससे नायिका का मान नही ठहर सका ।

पद्माकर और अमरु दोनों ही कवियों की नायिकायें सखियों के सिखाने पर अपने-अपने प्रिय से मान करना चाहती हैं । अतः प्रिय के सम्मुख होने पर देखने के लिए व्याकुल दृष्टि को पैरों पर गड़ा लेती हैं, प्रिय की वाणी सुनने के लिए उत्कंठित कानों को बन्द कर लेती है, पुलक और प्रस्वेद को हाथो से अलग कर देती है, किन्तु अन्त में दोनों ही नायिकाओं की अँगिया स्वयं खुलकर धोखा दे जाती है । इस प्रकार पद्माकर का उक्त प्रसंग अमरुशतक के भाव का अनुवाद ही है, किन्तु

१. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द २७६
२. अमरुशतक—श्लोक ११

पद्माकर ने प्रिय के कुछ पूछने पर नायिका के उत्तर न देने तथा, वही 'मोहन लट्टू पै भट' की उक्तियों को अधिक कहकर भाव को अधिक उन्मेष दिया है। अनुवाद करते समय पदमाकर ने प्रसंग की रमणीयता और सरसता को हाथ से नहीं जाने दिया, बल्कि बड़े ही संयम से अमरुशतक के भाव का अनुवाद कर उसमें मौलिकता जैसा आनन्द भर दिया है।

विवेचन से स्पष्ट है कि दशा भेद के अनुसार आचार्यों ने अन्य सम्भोग-दुःखिता, गर्विता तथा मानवती—ये तीन भेद स्वीकार किये हैं। ये सभी नायिकायें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित मनोदशाओं में सामने आती हैं। सर्वप्रथम अन्य सम्भोग दुःखिता के विषय में यह बात सामने आती है कि कोई भी नायिका ये सहन नहीं कर पाती कि उसके प्रिय के साथ कोई दूसरी रमण करे चाहे रमण करने वाली नारी सपत्नी अथवा दूती ही क्यों न हो। सामन्ती युग में एक नायक की बहुत सी नायिकायें होने के कारण अनेक सम्भोग दुःखिता होती होंगी, जिससे संस्कृत के काव्यों में उनके अनेक चित्र उभर कर आ गये तथा रीतिकाल में उनको यथासम्भव परिवर्तित कर अपनाया गया। दूसरी गर्विता के भी संस्कृत काव्यों में अनेक चित्रों की भरमार है, वहाँ भी कभी यह अपने सौन्दर्य पर गर्व करती हुई दृष्टिगत होती है तो कभी प्रेम के ऊपर। कालिदास के कुमारसम्भव के पाँचवें सर्ग और सातवें सर्ग में नायिका पार्वती प्रेम और सौन्दर्य दोनों पर गर्व करने वाली दृष्टिगत होती है। मानवती नायिका के चित्रों से तो अमरुशतक और आर्यासप्तशती जैसे ग्रन्थ भरे पड़े हैं तथा रीतिकाल में इन्हीं ग्रन्थों का विशेष अनुकरण हुआ है। अन्त में कहा जा सकता है कि संस्कृत और रीतिकाल दोनों ही युगों के काव्यों में उक्त तीनों नायिकाओं का वर्णन यत्र तत्र निहित है।

परिस्थितियों के आधार पर नायिकायें

विभिन्न परिस्थितियों के आधार पर आचार्यों ने नायिकाओं के दस भेद किये हैं। इनमें कई भेद तो ऐसे हैं जो अभी तक किसी न किसी रूप में आ चुके हैं जैसे खण्डिता के रूप में धीरादि भेद वर्णित किए जा चुके हैं। अतः इस दृष्टि से केवल संक्षिप्त रूप ही प्रस्तुत कर अध्याय की समाप्ति की जायेगी।

स्वाधीन पतिका

जिस नायिका के आधीन पति हो उसे स्वाधीन पतिका कहते हैं। मतिराम की स्वाधीन पतिका का यह वर्णन दर्शनीय है, यथा—

> अपने ही हाथनों देत महावर, आपही बार सँवारत नीके।
> आपनु ही पहिरावत आनि कै हार सँवारि कै मौर सिरी के।

हौं सखी लाजन जात मरी, 'मतिराम' सुभाव कहा कहौं पी के।
लोग मिलै, घर घैरु करै, अबहीं ते ये चेरे भए दुलही के ॥[1]

महावर देने की कल्पना को कालिदास ने भी लिया जबकि उनका नायक अग्निवर्ण अपनी रमणी के पैरों मे स्वयं महावर देता है–"स स्वयं चरणरागमादधे-योषितां"[2] अतः महावर देने की उक्ति तो कालिदास से मिलती है और आभूषण पहनाने का जहाँ प्रश्न है, स्थान-स्थान पर संस्कृत काव्यो में इसका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ अश्वघोष का नायक स्वय अपनी प्रिया की सजावट करता है।[3] भानुदत्त की मुग्धा भी अपने सौभाग्य का प्रदर्शन अन्त में बड़े भोले प्रश्न में कर जाती है–"प्राणेशस्य तथापि मज्जति मनो मय्येव किं कारणम् ।[4] अर्थात् प्राणेश्वर का मन न जाने मुझ में इस प्रकार क्यों लगा है।" मतिराम ने इस प्रकार भावों को जगह-जगह बटोरकर अपने प्रसंग की सर्जना की। निर्वाह की दृष्टि तथा मुग्धा की समस्त चेष्टाओं को व्यक्त करने की दृष्टि से प्रसग सचमुच अतीव रमणीय है। स्वाधीन पतिका सम्बन्धी ऐसे अनेक प्रसंग संस्कृत काव्यों मे मिल जाते हैं।

कलहान्तरिता

जो पहले तो प्रिय के मनाने पर मान त्याग न करे और प्रिय के चले जाने के बाद पश्चाताप करे उसे कलहान्तरिता कहते हैं। इस दृष्टि से पद्माकर की कल-हान्तरिता नायिका प्रिय के चले जाने पर अत्यन्त ही पश्चाताप करती है—

ए अलि ! इकन्त आइ पाँयन परे ही आइ,
हौं न तव हेरी या गुमान बजमारे सों।
कहै 'पद्माकर' वे रूठिगे सु ऐसी भई–
नैनन ते नींद गई हाई के दवारे सों।
रैन-दिन चैन है न मैन है हमारे बस
ऐंन मुख सूखत उसास अनुसारे सों।
प्रानन की हानि-सी दिखान-सी लगी है हाय !
कौन गुण जानि मान कीन्हौं प्रानप्यारे सों ॥[5]

नायिका सखि से अपनी व्यथा कहती है कि प्रियतम घर पर जैसे ही आये

---

१. मतिराम ग्रन्थावली–रसराग–छन्द १७९
२. रघुवंश–सर्ग १९, श्लोक २६
३. विभूषयामास ततः प्रियां स सिषेवियुस्ता न मृजावहार्य ॥
सौन्दरनन्द–सर्ग ४, श्लोक १२
४. रसमंजरी–मुग्धा स्वाधीन पतिका–श्लोक ७०
५. पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द १७६

तो मान न छूटने के कारण वे चले गये और अब प्रिय के बिना अपार वेदना सहनी पड़ रही है। अत स्वत ही स्पष्ट हो रहा है।

यही भाव अमरुशतक मे भी दर्शनीय है। वहाँ भी नायिका इसी प्रकार पश्चाताप करती है—

"नि श्वासा वदन दहन्ति हृदय निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नति न दृश्यते प्रियमुख नक्तदिव रुदते।
अङ्ग शोषमुपैति पादपतित प्रेयास्तदोपेक्षित
सख्य ! क गुणमाकलय्य दयिते मान वयकरिता ॥"[1]

कलहान्तरिता नायिका प्रियतम के रूठकर जाने के बाद सखियो के सामने पछता रही है साथ ही उन्हें उलाहना भी दे रही है कि उन्होने क्यो ऐसी शिक्षा दी। नायिका कहती है कि अरी सखियो ! यह गरम गरम उसासें मुँह जला रही हैं, हृदय जड से उखडा चला जा रहा है, नींद ने भी साथ छोड दिया है, प्रिय मुख को देख न पाने के कारण आँखें रात-दिन रोती ही रहती हैं, और अग सूखते जा रहे हैं। उस समय तो मैंने पैर पर गिरे प्रिय का अनादर कर दिया था। अब तुम्हीं बताओ, भला कौन सा गुण सोचकर तुम लोगो ने मुझसे प्रियतम के प्रति मान कराया था।

अमरु के श्लोक का पद्माकर के प्रसग मे भावानुवाद ही दृष्टिगत हो रहा है क्योकि जो दशा प्रिय के तिरस्कार करने पर प्रिय के चले जाने पर अमरु की नायिका की है वही पद्माकर की नायिका की भी है। 'पद्माकर ने मैन है न हमारे वस' इसे और जोडकर प्रसग को बहुत ही सरस बनाया है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी पद्माकर का प्रसग रमणीय है। दोनो ही वर्णन भाव की दृष्टि से मनोरम बन पड़े हैं।

अभिसारिका

जो नायिका प्रिय के समीप सकेत स्थल पर पहुँचती है अथवा प्रिय को बुलाती है वह अभिसारिका कहलाती है।[2] यह अभिसारिका भी अनेक प्रकार की हो सकती है। आचार्यों ने इसके मुग्धादि तो वय के अनुसार और समय के अनुसार कृष्णाभिसारिका, शुक्लाभिसारिका आदि अनेक भेद किए हैं। पद्माकर की अभिसारिका का यह प्रसग दर्शनीय है जोकि अभिसारिकाओ के क्षेत्र में अत्यन्त ही प्रसिद्ध है—

कौन है तू कित जाति चली बलि बीती निसा अधिराति प्रमानै।
हौं पद्माकर भावती हौ निज भावते पैं अब ही मुहि जानै।

---

१ अमरुशतक–श्लोक ९२

२ पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द २२९, पृ० १३०

तौ अलबेली अकेली डरै किन क्यों डरो मेरे सहाइ के लानै ।
है सखिसंग मनोभव सो भर कान लौ वान सरासन तानै ।।[1]

पद्माकर ने यहाँ अभिसारिका और सखी के वार्तालाप को लेकर प्रसंग की सर्जना की है। सखी पूँछती है कि वह रात में कहाँ जाती है तब नायिका बतलाती है कि अपने मन भावन के पास। पुनः सखी पूँछती है कि अकेली ! नायिका उत्तर देती है कि मैं अकेली नही हूँ वल्कि मनोभव-सा योद्धा मेरे साथ है। भाव स्वयं ही स्पष्ट हो रहा है।

अमरुशतक की अभिसारिका और दूती भी इसी प्रकार बात करती है—

''क्व प्रस्थितासि करभोरु ! घने निशीथे,
प्राणाधिको वसति यत्र जनः प्रियो मे।
एकाकिनी वत कथं न विभेपि वाले।
नन्वस्ति पुङ्खितशरो मदनः सहाय ।।[2]

अर्थात् 'दूती–हे करभोरु इस घनी अँधियारी में कहाँ जा रही हो ? नायिका–जहाँ मेरे प्राणों से भी प्रिय मेरे प्रियतम रहते हैं। दूती–हे वाले, तुम अकेली होने पर भी क्यों नही डर रही हो ? नायिका–मै अकेली कहाँ हूँ, वाण चढ़ाये कामदेव जो हमारे साथ हैं।'

पद्माकर ने अमरुशतक के भाव को ज्यो-का-त्यो उठाकर अपनी शैली में प्रस्तुत कर दिया है। निस्सन्देह पद्माकर ने अमरुशतक के कथन में थोड़ा-सा हेर-फेर कर वहुत कुछ अनुवाद ही प्रस्तुत कर दिया है। किन्तु पद्माकर का भाव भी शिथिल नही है उसमें भी वही सरसता है जो अमरु के भाव मे है।

इसी प्रकार वहुत-सी अभिसारिकाओ के कवियों ने अपनी सूझ के अनुसार अनेक रूपो में उदाहरण दिए है। दिवसाभिसारिका, निशाभिसारिका और उसमें भी कृष्णाभिसारिका, शुक्लाभिसारिका आदि अभिसारिकाओ के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। इन अभिसारिकाओं के प्रसगो पर अधिकतर सस्कृत काव्यो की ही छाया विद्यमान है।

विप्रलब्धा

जो नायिका प्रिय मिलन की आशा से सकेत स्थल पर पहुँचती है परन्तु उस संकेत स्थल पर अपने प्रिय को न पाकर विरह व्याकुल हो जाती है उसे विप्रलब्धा कहते हैं।

विहारी की नायिका जव प्रिय को सकेत स्थल पर नही देखती तो उसकी

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली–जगद्विनोद–छन्द २३४, पृ० १३१

२. अमरुशतक–श्लोक ७१

दशा अत्यन्त ही दयनीय हो जाती है, यथा—

साहस करि कुंजन गई, लख्यो न नन्द किसोर।
दीप सिखा सी थरहरी लगैं बयार झकोर ॥[1]

भाव स्वतः ही स्पष्ट हो रहा है कि नायिका के बयार के झकोरों से उत्पन्न कम्पन को दीपशिखा के कम्पन के समान कहा है। इससे नायिका के हृदय की अपार वेदना व्यंजित होती है।

रसमंजरीकार की नायिका भी प्रिय को संकेत स्थल पर न देखकर इसी प्रकार व्यथित हो जाती है—

सङ्केत केलिगृहमेत्य निरीक्ष्य शून्यमेणीदृशो निभृतनिश्वसिताधरायाः।
अर्धाक्षरं वचनमर्धविकासि नेत्रं ताम्बूलमर्धकवली कृतमेव तस्थौ ॥[2]

तात्पर्य यह है कि जहाँ नायक ने मिलन के लिए पहले से निश्चय किया था मृगाक्षी ने उस संकेत के केलिगृह में पहुँचकर उसे सुनसान देखा और एकांत में निराश होकर मन्द-मन्द साँस भरने लगी। उसके मुख से वचन के आधे अक्षर ही निकल पाये, आँखें अर्द्धविकसित हो रहीं और उसने मुँह में जो ताम्बूल डाला था, उसे भी आधा ही चबा पायी।

उक्त प्रसंगों में बिहारी और रसमंजरीकार दोनों की नायिकायें अपने-अपने प्रिय के संकेत पर न मिलने के कारण व्यथा का अनुभव करती हैं। जिस प्रकार रसमंजरीकार ने नायिका द्वारा ताम्बूल के आधा चबाने की स्थिति का वर्णन कर प्रसंग में गति उत्पन्न की है, उसी प्रकार बिहारी ने "दीप सिखासी थर हरी" कहकर वर्णन को रमणीय बना दिया है। इस प्रकार दोनों प्रसंगों में भाव और परिस्थितियाँ समान हैं। वर्णनों में थोड़ा-सा अन्तर है। संस्कृत और हिन्दी काव्यों के अन्तर्गत इस प्रकार के अनेक प्रसंगों की भरमार है।

खण्डिता

जो नायिका अन्यत्र रमण करके आये हुए प्रिय के शरीर पर रति चिन्हों को देखकर व्यथित होती है, वही खण्डिता कहलाती है। खण्डिता का वर्णन पीछे धीरादि नायिकाओं के माध्यम से विस्तार में किया जा चुका है। फिर भी एकाध उदाहरण देख लेते हैं। देव की खण्डिता का दृश्य दर्शनीय है, यथा—

सेज सुधारि सँवारि सबै अंग आँगन के मग में पग रोपै।
चंद की ओर चितौन गई निसि नाह की चाह चढ़ी चित चोपै।

1 बिहारी रत्नाकर—दूसरा उपस्करण—दोहा १३३
2 रसमंजरी—सुषमा हिन्दी व्याख्यासहित—श्लोक ५५, पृ० ६२

प्रातही प्रीतम आये कहूँ बसि देव कही न परै छवि मोपै ।
प्यारी के पीक भरे अधरा तें उठी मनो कंपत कोप की कोपै ॥[1]

आशय स्पष्ट है। देव की नायिका रात भर प्रिय की प्रतीक्षा करती रही किन्तु प्रातः काल अन्य नायिका के साथ रमण करके आये प्रिय के अधरों पर पीक लगी देख दुःखित हो जाती है और उसी दुःख में उसे क्रोध आता है।

गीत-गोविन्द की नायिका प्रिय के अधरों पर परस्त्री संगम से प्राप्त दंतक्षत को निहारकर खरी-खोटी सुनाती है—

दशनपदं भवदधरगतं मम जनयति चेतसि खेदम् ।
कथयति कथमधुनापि मया सह तव वपुरेतद् भेदम् ॥[2]

नायिका कहती है कि हे कृष्ण ! आपके ओठों पर अन्याङ्गनाओं से किये हुए दन्तक्षत मेरे चित्त को क्लेशित करते हैं, क्या इतने पर भी आप कहेंगे कि मुझमें तथा तुममें अभेद सम्बन्ध है ?

देव की नायिका प्रिय के अधर पर अन्य नायिका द्वारा चुम्बन करने से पान की पीक देखकर व्यथित होती है तथा गीतगोविन्द की नायिका प्रिय अधर को दूसरी द्वारा खण्डित होता देख व्यथा का अनुभव करती है। फिर भी देव ने प्रसंग को विस्तार द्वारा लिया है, नायिका का सेज बिछाकर चन्द्र की ओर देखते हुए प्रिय की प्रतीक्षा में समस्त रात्रि बिताना आदि स्थितियों में नायिका की मनोव्यथा का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र है। इसमें सन्देह नहीं।

उत्कण्ठिता

जब नायिका स्वयं संकेत स्थल पर पहुँच जाय और प्रिय वहाँ न पहुँचे तो उस समय वह प्रिय के न आने का कारण विचारती हुई उत्कण्ठिता नायिका की श्रेणी में आती है।[3] विप्रलब्धा और उत्कण्ठिता में बड़ा ही सूक्ष्म अन्तर है। निर्धारित समय पर संकेत स्थल पर प्रिय को न पाकर तो नायिका विप्रलब्धा बनती है किन्तु संकेत-स्थल पर प्रिय के न आने के कारण पर विचार कर उत्कण्ठापूर्वक प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई नायिका उत्कण्ठिता बन जाती है।

मतिराम का एक उदाहरण दर्शनीय है जिसमें नायिका अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई दुःखित होती है—

कंत आज आवहि गेह जौं दुख देहुँगी जाय ।
ऐहैं पीव बिचारि यौं नारि फेरि फिरि जाय ॥[4]

---

१. देव ग्रन्थावली—भावविलास—चतुर्थविलास—छन्द ९६, पृ० १११
२. गीत-गोविन्द—आठवाँ सर्ग—अष्टपदी १७, पद ५
३. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द १९२
४. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द १६४

नायिका को प्रिय आगमन की चिन्ता बार-बार लगी हुई है, इसीलिए तो वह संकेत कुंज के द्वार पर आकर बार-बार लौट जाती है क्योंकि उसे बराबर शंका है कि प्रिय भी इसी प्रकार निराश होकर कहीं लौट न जाय।

इसी आशा और निराशा के मध्य दोलायमान अमरुशतक की नायिका का चित्र दर्शनीय है--

आदृष्टि प्रसारात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया।
विच्छिन्नेषु पथिष्व परिणतौ ध्वान्ते समुत्सपति।
दत्त्वैक सशुचा गृह प्रति पद पान्थास्त्रियास्मिन्क्षणे।
मा भूदागत इत्यमन्दवलितग्रीव पुनर्वीक्षितम्॥[1]

नायिका दुःखी होकर दूर दूर तक नेत्रों को प्रिय पथ पर दौड़ाती है पर वे थककर वापिस आ जाते हैं। शाम हो जाती है पथिक दिन भर की थकान उतारने के लिए विश्राम करने लगते हैं, अन्धकार छाने लगता है तो वह भी अपने घर की ओर उद्यत होती है किन्तु अभी उस ओर भी प्रिय की प्रतीक्षा करनी चाहिए ऐसा न हो कि वह आ रहे हो, यह सोचकर वह तिरछी गरदन से रास्ते की ओर बार-बार देख लेती है।

मतिराम और अमरुशतक का भाव आपस में बहुत कुछ साम्य लिए हुए है। मतिराम की नायिका प्रिय को देखने के लिए बार बार संकेत स्थल की ओर जाती है और बार-बार लौट आती है तथा अमरुशतक की नायिका भी प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई जब निराश होकर लौटती है तो बार बार उत्सुक होकर पुनः-पुनः लौटकर इसलिए देखती है कि कहीं प्रिय पीछे से आ तो नहीं रहा हो। इस प्रकार भावों की दृष्टि से दोनों में समानता है किन्तु वर्णन तथा परिस्थिति की दृष्टि से आपस में थोड़े भिन्न भी हैं।

वासकसज्जा

जो नायिका अपने प्रिय के निश्चित आगमन को जानकर शृंगार प्रसाधन करती है, अपने मन-भावन की शय्या को सुसज्जित करती हुई अनेक प्रकार के मनोरथों से प्रसन्न होती है, वही वासक सज्जा कहलाती है।

इस सम्बन्ध में मतिराम का प्रस्तुत उदाहरण दर्शनीय है, यथा--

"केसरि, कनक कहा ? चम्पक-कनक कहा ? दामिनी यों दुरिजात देह की दमक तें।
कवि "मतिराम" लौने लोचन लपट लाज अरुन कपोलकाम तेज की तमक तें।
पग के धरत कल किंकिनी नूपुर बाजें, बिछिया भनक उठै एक ही झमक तें।
नाह-सुख चाहि चित औचक हँसति, चौंक-परै चन्द-मुखी निज चौकाकी चमक तें॥[2]

---

1 अमरुशतक--श्लोक ७६

२ मतिराम ग्रन्थावली--रसराज-छन्द १७०

सखी द्वारा प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई वासक सज्जा नायिका की सुन्दरता का वर्णन है। प्रिय आने वाला है, इसीलिए तो नायिका ने प्रसन्नता पूर्वक वेष-विन्यास किया है। अतः दीर्घ प्रतीक्षा के उपरान्त प्रिय मिलन की सुखानुभूति ही तो नायिका को मुदित किए हुए है।

प्रिय के नयन पंथ का पथिक होने वाली पार्वती की भी शृंगार से शोभा दर्शनीय है--

"आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शविम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता वभूव स्त्रीणां प्रियालोक-फलो हि वेषः॥"[1]

स्पष्ट है कि कालिदास की नायिका पार्वती विवाह के समय जब स्वयं के रूप को दर्पण में वेष-भूषा से सुसज्जित देखती है तो आश्चर्य चकित रह जाती है क्योंकि आभूषणों से सजने पर उसकी रूप शोभा द्विगुणित हो जाती है। उस समय उसकी अभिलाषा शीघ्र ही अपने प्रिय शंकर के समीप जाने की होती है क्योंकि स्त्रियों की शोभा पति द्वारा देखने पर ही तो सार्थक होती है।

मतिराम और कालिदास के प्रसंगो पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि मतिराम की अन्तिम पंक्तियों का भाव कुमारसम्भव के भाव से वहुत कुछ साम्य लिए हुए है क्योंकि आभूषणो से सुसज्जित होकर जिस प्रकार मतिराम की नायिका आश्चर्य चकित होकर प्रिय के सुख की इच्छा करती है, वहुत कुछ वही अवस्था कालिदास की नायिका की भी है। किन्तु नायिका के सौन्दर्य-वर्णन की दृष्टि मतिराम की अपनी है। "कनक महा ?", "चम्पक-वनक महा", "दामिनी यो दुरि जात देह की दमक तें", एवं नायिका के "लाज से लावण्य पूर्ण नेत्र", "अरुण कपोलतवों के काम के तेज से चमकना" इत्यादि समस्त कल्पना कवि की मौलिक उद्भावना को व्यक्त करती है जोकि अत्यन्त ही रमणीय वन पड़ी है।

प्रोपित पतिका

प्रियतम के विदेश में रहने पर विरहिणी नायिका प्रोपित-पतिका कहलाती है।[2]

प्रिय के अभाव में पद्माकर की नायिका कितनी विह्वल है--इसका पता सहज ही अधोलिखित उदाहरण से चल जाता है, यथा--

ऊवत हौ, डूवत हौ, डगत हौ, डोलत हौं,
वोलत न काहे प्रीति-रीतिन रितै चले।
कहै "पद्माकर" त्यों उससि उसासन सों
आंसू वै ऊपर आइ आँखिन इतै चले

---

१. कुमारसम्भव--सातवाँ सर्ग
२. रसमंजरी--प्रोपित भर्तृका लक्षण--सुपमा हिन्दी व्याख्या

औधि के आगम लौं रहत बने तो रहौ,
बीच ही क्यो बैरी ! बँध-बेदनि विते चले ।
एरे मेरे प्रान ! प्रानप्यारे की चला चलि में,
तब तो चले न, अब चाहत कितै चले ॥[१]

पद्माकर के इस कवित्त मे नायिका के हृदय की प्रिय के अभाव में मार्मिक संवेदना का आभास व्यक्त हो रहा है ।

अमरुशतक मे यही भाव कुछ दूसरे ढग से उपस्थित हुआ है—

प्रस्थान वलयै कृत प्रियसखैरस्रैरजस्र गत
धृत्या न क्षणमासित व्यवसित चित्तेन गन्तु पुर ।
यातु निश्चित चेतसि प्रियतमे सर्वे सम प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थं किमु त्यजते ॥[२]

अमरुशतक की विरहिणी नायिका विह्वल होकर पद्माकर की नायिका के समान अपने प्राणों को उलाहना देती हुई कहती है कि हे प्राण, जब प्रियतम ने जाने की ही मन मे ठानी तो उसके सभी मित्र एक साथ चल पडे । कंकण हाथो से चल पडा अर्थात् शरीर दुर्बल होने से खिसक गया, आँसुओ का तार बँध गया, धैर्य क्षण भर भी न ठहर सका और मन आगे जाने को उतारू हो गया । फिर हे जीवन ! जब तुम्हें भी जाना जरूरी है तब प्रियतम के साथियो का साथ क्यो छोड रहे हो ।

प्रिय की वियोग-जन्य विह्वलता का समावेश उपर्युक्त दोनो नायिकाओ मे विद्यमान है, तथा भाव की दृष्टि से देखा जाय तो पद्माकर ने पूर्ण रूप से अमरुशतक का ही अनुकरण किया है । अमरुशतक के भाव के समान ही पद्माकर का भाव भी अत्यन्त रमणीय है तथा "उबत हौं, डूबत हौं, डगत हौं, डोलत हौं" इत्यादि पदों में ध्वनि के माध्यम से भाव स्वत ही उद्वेलित होते हुए प्रतीत हो रहे हैं । रीति-काल के काव्यो में आगतपतिका के कितने ही अवतरण ऐसे ही हैं जो इसी प्रकार उमड कर आये हैं ।

प्रवत्स्यत्पतिका

जो नायिका प्रिय के भविष्य मे होने वाले प्रवास से विह्वल हो जाती है, वह प्रवत्स्यत्पतिका कहलाती है। रसमजरीकार ने भी प्रवत्स्यत्पतिका को नायिका के रूप मे स्वीकार किया है ।[३]

स्वकीया के लिए प्रिय का एक क्षण का वियोग ही अतीव वेदना-दायक होता

१ पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द १५०
२ अमरुशतक—श्लोक ३५
३ रसमजरी—सुषमा हिन्दी व्याख्या सहित—प्रवत्स्यत्पतिकादि पृ० ८९

है, फिर इतने पर भी उसका पति यदि सौ दिन के मार्ग पर जाये तो उसकी कैसी दशा हो जायेगी, इसका अनुमान कोई सहृदय ही कर सकता है। अस्तु प्रिय के सौ दिन के मार्ग पर जाने को प्रस्तुत विह्वला-प्रेयसी कितनी मार्मिकता के साथ अपनी मनोव्यथा व्यक्त करती हुई कहती है कि प्रिय संध्या को लौटोगे अथवा अब कब लौटोगे ? इसका आभास पद्माकर के प्रस्तुत छन्द से अनायास ही हो जाता है, यथा--

"सौ दिन को मारग तहाँ कों वेगि माँगी,
विदा प्यारे पद्माकर प्रभात रात वीते पर।
सो-सुनि प्यारी प्रिय-गमन वराइवे कों,
आँसुनि अन्हाइ वोली आसन सुतीते पर।
वालम विदेस तुम जात होतो जाउ पर,
साँची कहि जाउ कव ऐहों भौन रीते पर।
पहर के भीतर कै दुपहर के ऊपर ही,
तीसरे पहर कैंधौं साँझ ही वितीते पर॥"[1]

इसी भाव से मिलता हुआ अमरुशतक का भाव भी दर्शनीय है, यथा--

प्रहर विरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय ! त्वमिहैष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं वालालापैः सवाष्पगलज्जलैः॥[2]

नायिका अत्यन्त ही अनुभवशून्य है अर्थात् नयी नवेली होने के कारण यह नहीं जानती कि वह अपने सौ दिन के प्रवास पर जाने वाले प्रिय को कैसे रोके। अतः अत्यन्त सादगी तथा सरल शब्दों में वह प्रिय से पहले ही लौटने का वायदा लेना चाहती है और पूँछती है कि प्रिय, तुम एक प्रहर वाद लौट आओगे, या दोपहर तक या तीसरे प्रहर तक, सच वतलाओ क्या तुम दिन के चारों पहर ढल जाने पर ही यहाँ लौट सकोगे, इस प्रकार आँसू तथा उसाँसो से भरी वाणी कहकर वाला सौ दिन की लम्बी राह पर जाने वाले पति को रोक रही है।

उक्त प्रसंगों के अन्तर्गत दोनों कवियों--पद्माकर और अमरु की नायिकायें अपने-अपने प्रिय को रोकने के लिए जिस उक्ति का प्रयोग करती हैं. वह अत्यन्त ही मार्मिक है। दोनों ही नायिकाओं के प्रिय से प्रत्यागमन विषयक प्रश्नों में जिस अधीरता और विह्वलता का समावेश है, वह सचमुच ही दोनों कवियों के हृदय की

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली--जगद्विनोद--छन्द २५२
२. अमरुशतक--श्लोक १२

सहृदयता की प्रतीक हैं। दोनो कवियो के कथन अतीव सहृदयता पूर्ण हैं। अमरुशतक की उक्ति "किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय ! त्वमि हैष्यसि।" एव पद्माकर की उक्ति "बालम बिदेस तुम जात हो जाउ, पर साँची कहि जाउ कब ऐहो भौन रीते पर।" अत्यन्त ही लाघव और लावण्यपूर्ण है।

आगतपतिका

जो नायिका प्रिय के विदेश से आने पर प्रसन्नता का अनुभव करती है वह आगत पतिका कहलाती है। सस्कृत के लक्षण ग्रन्थो मे इसका उल्लेख नही के बराबर ही है, किन्तु लक्षणेतर काव्यो मे उसके उदाहरण प्रभूत मात्रा मे प्राप्त हो जाते हैं। रीतिकालीन कवियो ने तो इसे अवस्था के अनुसार दसवी नायिका के रूप मे स्वीकार किया है। मतिराम की आगतपतिका प्रिय के आने पर कितनी हर्षित है—

आये बिदेस तै प्रानप्रिया, "मतिराम" अनन्द बढाय अलेखै।
लोगन सौ मिलि आँगन बैठि घरी-ही-घरी सिगरो घर पेखै।
भीतर भौन के द्वार खरी, सुकुमार तिया तन कप बिसेखै।
घूँघट को पट ओट दिएँ, पट ओट किए पिय को मुख देखै॥[1]

भाव स्वत ही स्पष्ट हो रहा है। नायिका प्रिय को नजर भरकर न तो देख ही सकती है और प्रिय से प्रत्यक्ष रूप मे भेंट करने में भी असमर्थ है। अत दरवाजे पर ही खडी हुई घूँघट की ओट से प्रिय को थोडा-सा देख लेती है।

अमरुशतक की आगतपतिका कुछ दूसरे ही ढग की है। अमरु ने अपनी प्रिया के हाव भावो को प्रिय के आगमन निमित्त साज-बाज से मगलयुक्त मागलिक विधि मे स्वीकार किया है—

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरै
पुष्पाणा प्रकर स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभि।
दत्त स्वेदमुचा पयोधर भरेणार्घो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवै प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृत मङ्गलम्॥[2]

अर्थात् आगतपतिका नायिका का प्रिय जब घर आता है तो सुकुमारी नायिका अपने ही अगों से उसका मागलिक रचती है, अपनी दृष्टियो के वितान मे लम्बी वन्दनवार रचती है, नील कमलो से नही बल्कि मुस्कान से ही प्रिय को पुष्पाजली देती है भरे मङ्गल कलश से नही अपितु प्रस्वेद से भीगकर अपने कुचकलशो से ही मानो प्रिय को अर्घ्य देती है। कुच-कलशों से अर्घ्य देने से तात्पर्य नायिका के कम्पन से है।

---

१ मतिराम-ग्रन्थावली-रसराज छन्द ६७
२ अमरुशतक-श्लोक ४५

प्रिय के प्रत्यागमन पर जिस अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करती हुई मतिराम की नायिका अपने शरीर में जिन सात्त्विक भावों का अनुभव करती है वे उसके कम्पन के माध्यम से व्यक्त होते है । अमरु की नायिका के मन मे भी प्रिय के आने पर उसी अकथनीय सुख की अनुभूति विद्यमान है क्योंकि नायिका की दृष्टि-वितान अर्थात् झुकी हुई नजरों से पिय को देखने पर मुस्कान, शारीरिक प्रस्वेद एवं वक्ष-कम्पन इत्यादि से समस्त बातें स्वयं ही ध्वनित है । इस प्रकार मतिराम और अमरुशतक के प्रसंग प्रिय-आगमन पर नायिका के हृदय में निहित सुख जन्य सात्त्विक भावों की दृष्टि से वहुत कुछ समान हैं । किन्तु अमरुशतक मे नायिका के इस आंगिक क्रिया कलाप को मंगल विधि की सज्ञा देकर एक रूपक का निर्वाह किया है, जोकि उचित ही है । लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि मतिराम का वर्णन अमरुशतक से कम है। सत्य वात यह है कि दोनों प्रसग अपने अपने स्थान पर सरस और रमणीय है ।

स्वाधीन-पतिका से आगत-पतिका तक परिस्थितियों के अनुसार आचार्यों ने नायिकाओं के ये दस भेद किये हैं । इनमें प्रोषित-पतिका तक आठ भेद तो संस्कृत के लगभग सभी आचार्यों ने अष्टनायिका-भेद के रूप में स्वीकार किये हैं तथा रस-मंजरीकार ने नवी नायिका प्रवत्स्यत्पतिका का संकेत ही दिया है किन्तु आगत पतिका संस्कृत के लक्षण ग्रन्थो में प्राय: अछूती ही रही है । संस्कृत के मुक्तक एवं लघु काव्यों में प्रिय के प्रवासजन्य वियोग की आशंका से जहाँ प्रवत्स्यत्पतिका की अधीरता और विह्वलता का सजीव अंकन है, वही प्रिय के विदेश से आगमन की प्रतीक्षा करती हुई नायिका के आनन्दातिरेक का रमणीय चित्रण विद्यमान है । यही कारण है कि रीतिकालीन लगभग सभी कवियों ने अष्ट नायिकाओ के साथ ही इन दोनो नायिकाओं को मिलाकर दस भेद किए है । ये समस्त नायिकाये स्वकीया और परकीया मे ही समाहित हो सकती है, किन्तु आचार्यो ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से परिस्थिति के अनुसार ही इनके भेदो की कल्पना की है ।

नायक-वर्णन

रीतिकालीन कवियों की जिस तूलिका ने नायिकाओ के वर्णन मे अपनी कलात्मकता व्यक्त की, उसीने नायक-वर्णन में उतनी विशेष रुचि नही ली । कल्पना, सहृदयता एवं भावना-कवित्त निर्माण की ये तीनों शक्तियाँ नारी-स्वरूप है । कवि हृदय मे पनपने वाली इन तीनों शक्तियों ने नायिका-हृदय की जिस सूक्ष्म ढंग से परीक्षा की, उस ढंग से पुरुष-हृदय की नही । यही कारण है कि केवल रीतिकाल मे ही नही वल्कि संस्कृत के ग्रन्थों में भी नायिका-भेद की तुलना में नायक-भेद वर्णन विस्तार न पा सका ।

आचार्यों ने नायक के अनेक भेदों की कल्पना की है । स्वभावानुसार नायक

चार प्रकार के हो सकते हैं-धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त।[1] इसी प्रकार शृंगारी नायकों के तीन भेद किए गए हैं, जो क्रमश पति, उपपति और वैशिक-रूप मे आते हैं।[2] इन नायकों के भेदोपभेद के अतिरिक्त मानी, चतुर और प्रोषित-ये तीन भेद भी आचार्यों ने अलग से किये हैं। यद्यपि नायिका-वर्णन के अन्तर्गत तीनों प्रकार के नायकों का अप्रत्यक्ष रूप से समावेश हो चुका है, किन्तु नायक वर्णन के सन्दर्भ मे सक्षिप्त रूप मे प्रकाश डालना आवश्यक ही है।

पति

जो नायक नायिका का विधिपूर्वक पाणि ग्रहण करता है, उसे पति की सज्ञा दी जाती है।[3] आचार्यों ने पति का वर्णन करते हुए उसके-अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ-इस क्रम से चार भेद किए हैं।[4] इन चारों भेदों मे नायक के स्वभाव को ही विशेष रूप से ध्यान मे रखा गया है तथा उसी दृष्टि से आचार्यों ने अपने वर्णनों को प्रस्तुत किया है। अपनी पत्नी से अत्यन्त प्रेम करता हुआ परनारी से विमुख अनुकूल[5] नायक तथा सभी युवतियों से [समान प्रेम] करने वाला दक्षिण नायक[6] कहलाता है। इसी प्रकार पत्नी के मान की चिन्ता न कर निर्भयता पूर्वक अपराध करने वाला धृष्ट[7] नायक एव अपराध करने मे थोड़ा भी भयभीत न होकर वाक्-चातुर्य और स्वार्थ सम्पादन की क्रिया मे अत्यन्त कुशल शठ-नायक कहलाता है।[8]

इस प्रकार आचार्यों ने पति के इन भेदों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न प्रसगों की कल्पना की है किन्तु विस्तार भय के कारण यहाँ केवल हिन्दी और संस्कृत के केवल एक युग्म को ही लिया जा रहा है। उदाहरणार्थ देव का धृष्ट नायक दर्शनीय है जबकि नायिका अपने अपराधी प्रियतम को बहुत बार हार मे बाँधकर मृणाल से मारती है किन्तु इतने पर भी धृष्ट नायक अपराध का परित्याग नहीं करता है—

द्वार तें दूरि करी बहु वारनि हारनि बाँधि मृनालनि मार्‌यो।
छांडत ना अपनो अपराध असाधु सुभाव अगाध निहार्‌यो।[9]

---

१ काव्य-दर्पण—प्रणेता प० रामदहिन मिश्र—पृष्ठ ४८ (चतुर्थ सस्करण)
२ रसमजरी—पृष्ठ ९८
३ "विधिवत्पाणिग्राहक पति"—रसमजरी—पृष्ठ ९९
४ रसमजरी—पृष्ठ ९९
५ वही — वही
६ वही — वही
७ वही — वही
८ वही — पृष्ठ १०१
९ देव-ग्रंथावली—भावविलास—चतुर्थविलास—छन्द ११, पृष्ठ ९६

इसी प्रकार भानुदत्त की नायिका भी प्रिय के हाथों को हारों से जकड़ देती है और जब देखती है कि इतने पर भी वह अपनी धृष्टता से बाज नही आता तो द्वार तक ले जाकर भीतर आने की रोक लगा देती है, यथा–

"बद्धो हारैः करकमलयोर्द्वारितो वारितोऽपि ।"[1]

दोनों भावों में बहुत कुछ साम्य है क्योंकि देव की नायिका जिस प्रकार प्रिय को दूर कर देती है और पुनःहारों से उसके हाथ बांध देती है, उसी प्रकार भानुदत्त की नायिका भी प्रिय के हाथ बांध देती है तथा द्वार से भी दूर कर देती है। देव ने नायिका द्वारा नायक को मृणाल से मारने की बात कहकर वर्णन को कुछ और भी आगे बढ़ा दिया है। अतः साम्य होते हुए भी देव के प्रसग में अधिक माधुर्य उत्पन्न हो गया है।

उपपति

पति के पश्चात् नायक की दूसरी श्रेणी उपपति के रूप में हमारे समक्ष आती है। यह वह नायक है जो अन्य नायिकाओ से प्रेम करता है अथवा जो पति स्त्री के आचार और धर्मानुष्ठान के नाश का कारण बनता है, उसे उपपति कहते हैं।[2]

मतिराम के नायक की किसी अन्य नायिका के प्रति आसक्ति की चेष्टाओं का निम्नलिखित कवित्त में कितना भावपूर्ण चित्र अकित है–

सुन्दरि सरस सब अंगन सिंगार साजे,
सहज सुभाव निसि नेह कछु कै गई ।
कीने "मतिराम" विहसौंहैं से कपोल गोल,
बोल न अमोल इतनोई दुख दै गई ।
मेरे ललचौंहैं मुख फेरि कै लजौहैं,
ललचौहै चारु चखनि चितै के सोचली गई ।
निपट निकट ह्वै कै कपट छुवाय अग,
लाय की-सीलपटि लपेटि मनु लै गई ।।[3]

नायक किसी परकीया सुन्दरी की विलास चेष्टा और रूप सुषमा पर आकर्षित होकर उसका वर्णन करता है जिससे उसका नायिका के प्रति प्रेम व्यंजित हो जाता है। इसीलिए नायक उपपति है और नायिका को यहाँ परकीया माना जा सकता है। बिहारी की भी परकीया नायिका, परकीय नायक को इसी प्रकार दृष्टि

---

१. रसमंजरी–श्लोक १०३, पृष्ठ १०१

२. आचारहानिहेतुः पतिरुपपतिः ।
रसमंजरी–पृष्ठ १०२

३. रसराज–सम्पा : राम जी मिश्र–छन्द २५७

विक्षेप द्वारा घायल कर जाती है—

चितई ललचौहैं चखनु डटि घूँघट-पट मांह ।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छांह ॥[1]

भाव स्वत ही स्पष्ट है । नायिका के घूँघट पट मे से कटाक्षपात करने से उसके परकीयात्व गुण का आभास हो रहा है । संस्कृत काव्यो में ऐसे वर्णन स्थान-स्थान पर अनेक रूपो मे प्राप्त होते हैं, जबकि नायिका किसी नायक पर अनायास मोहिनी डाल जाती है । उदाहरण के लिए कालिदास का प्रस्तुत उदाहरण देखा जा सकता है जबकि उर्वशी विक्रम के ऊपर अपने रूप की मोहनी डालकर आकाश मे उडकर स्वर्ग की ओर जाती है तो मानो उसके साथ ही नायक विक्रम का मन भी चला जाता है, अर्थात् उर्वशी ही मानो उसका मन लेकर चली जाती है, यथा—

एषा मनो मे प्रसभ शरीरात्पितु पद मध्यममुत्पतन्ती ।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्र मृणालादिव राजहंसी ॥[2]

राजा कहता है कि उर्वशी भगवान् वामन के मध्यम पद आकाश की ओर उडती हुई हमारे शरीर से हमारे मन को बलपूर्वक इस प्रकार खींचे लिए जा रही है जैसे कोई हंसिनी टूटे हुए कमल नाल के अग्रभाग से उसका तन्तु लिए चली जा रही हो । प्रथम अक के इसी प्रकार तेरहवें श्लोक मे उर्वशी के स्पर्श से राजा के शरीर मे प्रेमाङ्कुरो के निकलने की कल्पना की गई है ।

कालिदास ने वर्णन मे उपमा का सहारा लिया है, जिससे प्रिया द्वारा प्रिय-मन के पूर्ण रूप से खींचने का चित्र प्रत्यक्ष रूप मे प्रकट हो जाता है । मतिराम और बिहारी के उक्त वर्णनो में भी प्रियतम का मन प्रिया के प्रति आकर्षित है । अतएव हिन्दी और संस्कृत कवियो के प्रसग नायक और नायिका के आकर्षण की दृष्टि से साम्य रखते हैं । किन्तु अन्य समस्त बातो मे तीनो वर्णन एक दूसरे से पूर्ण-तया भिन्न हैं । प्रथम तो भिन्नता की बात यह है कि मतिराम की नायिका छल पूर्वक नायक का निकट से स्पर्श करती है, और बिहारी की नायिका भी छल से नायक की छाया का स्पर्श करके चली जाती है, एव कालिदास के नायक का नायिका उर्वशी के शरीर से स्वत ही रथ मे स्पर्श हो जाता है—इस प्रकार तीनो प्रसगो मे स्पर्श की अवस्थायें अलग-अलग हैं, किन्तु यह विभिन्नता होते हुए भी तीनो म ही अपनी अपनी जगह पर प्रणय की उत्पत्ति की ओर निर्देश किया गया है । मतिराम के प्रसग मे सुन्दरी के अगो की सरसता के साथ, सहज स्वभाव से विहँसना, मुख फेर कर पुन लज्जित होना इत्यादि क्रियायें अतीव ही रमणीय बन पडी हैं । इसी

१ बिहारी—रत्नाकर—दोहा १२
२ विक्रमोर्वशीयम्—प्रथमोङ्क—श्लोक २०

प्रकार विहारी की नायिका द्वारा घूँघट के मध्य से लालायित होकर नायक को देखने एवं उसके दृष्टि विक्षेप द्वारा नायक-हृदय की परिवर्तित अवस्था इत्यादि का विहारी के वर्णन में सुन्दर निदर्शन हुआ है।

वैशिक

जो नायक गणिकाओ से प्रेम करता है वह वैशिक कहलाता है।[1]

मतिराम ने रसमजरीकार के लक्षण को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अपने उदाहरण में सार्थक वना दिया है क्योंकि गणिका के रूप पर मुग्ध होकर नायक अत्यन्त ही उन्मत्त हो जाता है—

आगमन चाहि चक चौंधि रह्यौ जब तक,
जगर मगर आभरन के नगन भो।
जोवन के मद, रूप-मद वाके मैन-मद,
छकि मतवारो ह्वै के थकित पगन भो।
कहै "मतिराम" लोल लोचन विसाल वक,
तीछन कटाछन सौ छिदि कै लगन भो।
वार-वार भ्रमि वारवधू-वार-भौरन मैं
मांग की मुकतमाल-गंग मैं मगन भो।[2]

गणिका के आभूपणों के नगों की जगमगाती ज्योति को देखकर वैशिक नायक चौंधिया जाता है। पुनः उसके यौवन, रूपकान्ति की कादम्बिनी का पान कर एवं तृप्त होकर उन्मत्त हो जाता है और काम की मुग्धकारी मदिरा से तो उसके पैरों में थकान उत्पन्न हो जाती है अर्थात् उसके शरीर मे कामजन्य शैथिल्य विद्यमान हो जाता है। केवल इतना ही नही अपितु उस गणिका के विशाल, वंकिम एव सुन्दर नेत्रों के तीक्ष्ण कटाक्षों से छिदकर वह वही लगा रहता है। वह नायक वार-वार नायिका के घुँघराले वालों के भँवर से भ्रमित होकर अन्त में सिर की माँग में लगी मुक्तामाला रूपी श्वेत गगा में मगन अर्थात् निमग्न हो जाता है।

मतिराम का उक्त वर्णन यद्यपि स्वतन्त्र है किन्तु प्रेरणा सम्भवतया संस्कृत के काव्यों से ही प्राप्त हुई है। अतः कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त की प्रस्तुत उक्ति दर्शनीय है—

का गणना विपयवशे पुंसि वराके, वरांगना स्पृह्या।
व्याजेन वीक्षमाणा ध्यानधिया स्पृशति संज्ञानम् ॥[3]

---

१. "बहुलवेश्योपभोगरसिकोवैंशिकः ।"
रसमंजरी—सुषमा हिन्दीव्याख्यासहित—पृष्ठ १०३

२. रसराज—सम्पा० : रामजी मिश्र—छन्द २६०

३. कुट्टनीमत काव्यम्—सम्पा० : अत्रिदेव विद्यालंकार—श्लोक ८५८ (स० १९६१ ई०)

अर्थात् यदि वरांगना उत्तम स्त्री-सुगात्री किसी बहाने से समागम की चाह के साथ देखती है, तब एकाग्रचित्त मुनियों का भी ज्ञानचक्ल हो जाता है, फिर भोग्य-वस्तु के विषय में दीन पुरुषों की बात ही क्या ?

मतिराम का कथन निस्सन्देह कुट्टनीमतकार की उक्ति पर ही घटित हो रहा है, क्योंकि वहाँ नायक, वेश्या के विभिन्न आभूषणों द्वारा सज्जित, माधुर्य पूर्ण रूप-सौंदर्य तथा उसके लीलापूर्ण हाव-भाव द्वारा ही मुग्ध हुआ है। अत स्पष्ट है कि मतिराम ने सम्भवतया संस्कृत के ऐसे ही वर्णनों से प्रेरणा ली हो और अपनी स्वतन्त्र कल्पना द्वारा उसे लावण्य के विभिन्न रंगों से अलंकृत कर प्रस्तुत किया हो। मति-राम के वर्णन में जहाँ कथन की दृष्टि से मौलिकता का समावेश है, वहीं कुट्टनीमत-कार का कथन भी सार्थक है ।

अन्य नायक-भेद

नायकों के रीतिकालीन आचार्यों ने तीन भेद और भी स्वीकार किये हैं। वे क्रमश मानी, वचन-चतुर तथा क्रिया चतुर हैं ।[1]

इस प्रकार तीन नायक भेद आते हैं किन्तु क्रिया चतुर और वचन चतुर का केवल एक ही भेद 'चतुर' रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार मानी और चतुर—ये दो भेद ही मुख्य हैं। रसमंजरीकार ने दोनों की परिणति शठ-नायक के अंतर्गत ही कर दी है। अत उन्होंने इन दोनों को अलग भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया है, यथा—

"मानी चतुरश्च शठ एवान्तर्भवति।"[2]

इसके अतिरिक्त प्रोषित भी आचार्यों के अनुसार नायक का एक अलग भेद स्वीकार किया गया है। इस प्रकार मुख्य रूप से तीन अन्य भेदों में मानी, चतुर तथा प्रोषित को लिया जा सकता है।

मानी

जिस प्रकार मानिनी नायिका नायक से मान करती है, उसी प्रकार मानी नायक अपराधी होते हुए भी नायिका से मान करता है।[1] पद्माकर का वर्णन इस सम्बन्ध में दर्शनीय है। दूती काली नायक के सम्मुख नायिका की अवस्था का वर्णन कर नायक को समझाती है कि "कोकिल की सुन्दर वाणी सुनकर" उसका मान स्वत ही नष्ट हो जायगा। यथा—

---

१ रसराज—छन्द २६२

२. रसमंजरी—पृष्ठ १०६

३. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज–छन्द २६३

बाल विहाल परी कब की दबकी यह प्रीति की रीति निहारी ।
त्यों पद्माकर है न तुम्हैं सुधि बैरी बसन्त जू कीन्ह बगारी ।
तातें मिलौ मनभाउती सोंचलि ह्याँ तें हहा बच मानि हमारी ।
कोकिल की कल बानि सुने पुनि मान रहैगो न कान्ह तिहारी ।।[1]

भाव स्वतः ही स्पष्ट हो रहा है । सखी या दूती मानी नायक के मान करने पर विरह में जलती हुई नायिका का चित्रण कर रही है जिससे नायक मान का परित्याग कर नायिका के समीप पहुँचने को उत्सुक हो जाय । इसी प्रकार गीत-गोविन्द की नायिका की दूती भी नायिका की विरह दशा का नायक के समक्ष वर्णन करती हुई कहती है कि---

किन्तु क्षान्तिवशेन शीतलतनु त्वामेकमेव प्रियं ।
ध्यायन्ती रहसि स्थिता कथमपि क्षीणा क्षणं प्राणिति ।।[2]

स्पष्ट है कि नायक से दूती नायिका की अवस्था का वर्णन करती है कि शीतल देह वाले एक आप ही का ध्यान करती हुई वह एकान्त मे क्षान्ति के वशीभत येन केन प्रकारेण जीवित है । इस अवस्था में केवल आप ही उसे शीतलता प्रदान कर सकते है ।

गीत-गोविन्द के इस कथन से पद्माकर के प्रसग की प्रथम पंक्ति कुछ मेल खाती है । पद्माकर के प्रसग मे दूती नायक को समझाती है कि नायिका, नायक के विरह ज्वर से इतनी "विहाल" हो गई है कि निरन्तर दुबकी हुई पड़ी रहती है, इसीलिए दूती नायक से कहती है कि वह उसकी प्रीति को परम्परानुसार एक बार जाकर देख तो ले । इसी प्रकार गीत-गोविन्द के नायक को भी दूती, नायक का ध्यान करती हुई नायिका के समीप चलने को बाध्य करती है । इस दृष्टि से प्रथम वर्णन मे दोनो पक्तियां मिलती हुई हैं । शेष तीनो पंक्तियाँ कवि की यद्यपि मौलिक उद्भावना की द्योतक हैं किन्तु इनकी प्रेरणा भी संस्कृत काव्यों से ही ग्रहण की गई है ।

चतुर नायक

चतुर नायक अपनी चतुराई द्वारा नायिका के समक्ष अपना अभिप्राय व्यक्त कर देता है । वह चतुराई वचन अथवा क्रिया में से किसी भी प्रकार की हो सकती है । प्रस्तुत उदाहरण दर्शनीय है जिनमें नायक अपनी किसी इच्छा को किस निपुणता के साथ व्यक्त करता है । यथा---

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली---जगद्विनोद--छन्द ३०८, पृष्ठ १४७

२. गीतगोविन्द---चतुर्थ सर्ग--अष्टपदी--९ के पश्चात्, श्लोक ३

दूसरे की बात सुनि परत न ऐसी जहाँ
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है।
छाई रहे जहाँ द्रुम वेलिन सौं मिलि
'मतिराम' अलि-कुलनि अँध्यारी अधिकाति है।
नक्षत से फूल रहे फूलन के पुंज घन
कुंजन मे होति जहाँ दिन ही मैं राति है।
ता वन की बाट कोऊ संग न सहेली साथ,
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है।।[1]

आशय स्वत ही स्पष्ट है। नायिका को वन में अकेली देखकर नायक बड़ी ही निपुणता के साथ समागम की अभिलाषा को व्यक्त कर देता है। नायक के कहने का अर्थ यह है कि कोकिल और कपोतो की ध्वनि तथा लताओ का लिपटना इत्यादि से वातावरण उद्दीपक हो जाता है और ऐसे एकान्त समय मे हम बिना कठिनाई से अपनी सुरत का सम्पादन कर सकते हैं। कवि भानुदत्त की भी उक्ति इसी प्रकार व्यक्त हुई है—

तपोजटाले हरिदन्तराले काले निशायास्तव निर्गताया।
तटे नदीना निकटे वनाना घटेत शातोदरि! क सहाय ।।[2]

नायक, नायिका से कहता है कि हे कृश मध्यभाग वाली, रात्रि के समय जब दिगन्तराल अधकार की काली जटा बढा लेता है तब जगलो के समीप नदी तट पर तू निकलेगी तो तेरा सहायक कौन होगा?

यहाँ नायक के कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे भयकर स्थान पर मैं ही तेरा सहायक बन जाऊँगा और हम दोनो का समागम भी ऐसे एकान्त स्थान मे बिना किसी रोक टोक के हो सकता है। उक्त कवित्त मे मतिराम का नायक भी नायिका को इसी सकेत द्वारा मिलन के उपयुक्त स्थान का निर्देश करता है। अतएव यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि मतिराम ने रसमजरीकार से प्रेरणा लेकर अपने प्रसग का निर्माण किया। किन्तु स्वतन्त्रता पूर्वक नायिका द्वारा दधि बेचने की उक्ति नवीनता की द्योतक बनी है। एव 'कोकिल कपोत की ध्वनि से सरस, लताओ से लिपटे सघन वृक्षो द्वारा आच्छादित, भ्रमर समूह के अधकार युक्त, नक्षत्रो के समान श्वेत पुष्पों के पुज से पुष्पित"—वन के जिस रमणीय वातावरण की कल्पना का समावेश मतिराम ने अपने अवतरण मे किया है, इससे वह अधिक से अधिक सरसता लिए हुए है। अत यह सत्य है कि मतिराम का प्रसग रसमजरीकार की अपेक्षा कहीं अधिक सरस

---

१ मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द २६७

२ रसमजरी—सुषमा हिन्दी व्याख्या सहित—श्लोक १११

वन पड़ा है। संस्कृत के मुक्तक काव्यों–आर्यासप्तशती आदि में ऐसे प्रसंगों की भर-मार है जहाँ पर नायक अथवा नायिका एक दूसरे को इस प्रकार के संकेत करते हैं। रीतिकालीन कवियों ने इन्ही से प्रेरणा लेकर प्रसंगवशात् स्थान स्थान पर अपनी कल्पना द्वारा वर्णनों को रमणीयता के साथ प्रकट किया है।

प्रोषित नायक

जब नायक विदेश में जाकर अपनी प्रियतमा के वियोग मे व्याकुल होता है तो वह प्रोषित कहलाता है।[1]

पद्माकर के प्रोषित नायक के वियोग की उक्ति वर्षाकाल के बादलों को देख-कर कितनी सुन्दर बन पड़ी है—

सांझ के सलोने घन सबज सुरंगन सो
कैसे तौ अनंग अंग अंगनि सताउतो।
कहै पद्माकर झकोर झिल्लीसोरन को
मोरन को महत न कोऊ मन ल्याउतो।
काहू विरही की कही मानि लेतौ जो पै दई
जग मे दई तौ दयासागर कहाउतो।
विरह बनायो तौ न पावस बनाउतो
जो पावस बनायो तौ न विरह बनाउतो॥[2]

पावस ऋतु में सचमुच ही विरहीजनों को प्रिय का वियोग असहनीय हो जाता है, तभी तो वर्षाऋतु में संध्या के सलोने बादल गर्जन के साथ विरही के मन को बेचैन कर देते हैं और उसके हृदय को कामदेव सताना प्रारम्भ कर देता है। पुनः वह कह देता है कि झिल्ली के शोर की झकोर और मोरों की ओर भी कोई ध्यान नही दे सकता था। ईश्वर भी यदि किसी विरही की बात मान लेत, तो वह संसार मे दयासागर कहला सकता था तथा उसे विरह बनाना था तो पावस न बनाता और यदि पावस का निर्माण करना था तो विरह का निर्माण नही करना चाहिए था। पद्माकर की यह उक्ति विरही के पावस ऋतु जन्य सन्ताप को सुन्दर ढंग से व्यक्त करती है। कालिदास ने भी पावस के मेघों को विरहीजनों के लिए सन्ताप-कारक बतलाया है—

बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः
सुरेन्द्र चापं दधतस्तडिद्गुणम्।

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द २७२, पृष्ठ ३१२
२. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द ३१६, पृष्ठ १४८

सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकै-
—स्तुदन्ति चेत प्रसभ प्रवासिनाम् ॥[1]

स्पष्ट है कि मृदंग के समान शब्द करते हुए, बिजली की प्रत्यंचा से युक्त मानरंगा का इन्द्रधनुष चढ़ाए हुए बादल अपनी तीक्ष्ण धारा के पैने बाणों की वृष्टि करके, प्रवासी जनों के चित्त को बड़ा क्लेश पहुँचाते हैं।

कालिदास की इस उक्ति के अनुसार पद्माकर के प्रवासी नायक का कथन पावस के मेघों को देखकर पूर्णरूप से चरितार्थ हो जाता है, इसीलिए तो वह पावस और उसके मेघों से व्यथित हो जाता है। अत प्रकट है कि पद्माकर जैसे कवियों ने ऐसी ही उक्तियों से प्रेरणा लेकर माधुर्य पूर्ण रचनायें कीं। पद्माकर की निस्सन्देह उक्त उक्ति अत्यन्त लावण्य पूर्ण है तथा स्वाभाविकता की दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। अन्तिम "विरह बनायौ तौ न पावस बनाउतो" तथा "जो पावस बनायौ तौ न विरह बनाउतो"–यह भाव बहुत ही गतिशील है, जिसमे विरही के हृदय के सक्षम भाव स्वत ही ध्वनित होते हुए दृष्टिगत होते हैं।

समग्र रूप मे अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि पति और उपपति के सभी वर्णन संस्कृत तथा हिन्दी के शृंगारिक काव्यों मे प्राप्त हो जाते हैं। जहाँ स्वकीया नायिका का आदर्श एव विभिन्न गुणों को लेकर विवेचन है, वहीं स्वकीया नायक की उपस्थिति भी स्वाभाविक रूप से प्राप्त होती है। संस्कृत के कवियों के पति, उपपति के वर्णनों मे आचार्यों ने जिन विशेषताओं की कल्पना की, वे रीतिकालीन कवियों के वर्णनों मे भी समान रूप से प्राप्त होते हैं। दोनों कवियों के प्रसगों मे कथन की दृष्टि से कहीं तो पूर्ण समानता है और कहीं पर प्रसग की एकाध पंक्ति ही समान दृष्टिगत होती है। वैशिक नायक के विषय मे यह बात कही जा सकती है कि संस्कृत मे जहाँ गणिका की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए स्वतन्त्र काव्यों और विभिन्न प्रसगों की योजना की गई, वहाँ वैशिक के अनेक चित्र उतरते हुए चले आये हैं। हिन्दी के रीतिकालीन काव्यों मे प्रसगवश वैशिक-नायकों का वर्णन यत्र तत्र प्राप्त होता है। इसी प्रकार इन नायकों के अतिरिक्त जो भेद किये गये हैं उनमें मानी, प्रोषित तथा चतुर—इन नायकों का वर्णन संस्कृत तथा हिन्दी दोनों काव्यों मे मानिनी, प्रोषित-पतिका, तथा खण्डिता के साथ ही प्राप्त होता है। इनसे सम्बन्धित कवियों के लगभग सभी वर्णन ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत काव्यों से प्रभावित हैं तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि इन कवियों की अपनी है।

---

१ ऋतुसंहार—सर्ग द्वितीय—श्लोक ४

निष्कर्ष

रीतिकालीन कवियों ने नायक-नायिकाओं के वर्णन में जिस विशाल भित्ति की कल्पना कर उसके ऊपर भिन्न-भिन्न चित्रों का निर्माण किया, उन सभी की प्रेरणा संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों से प्राप्त हुई है। और विशेष रूप से प्रेरणा का मूल-आधार भानुदत्त की रसमंजरी ही रही। अतएव संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्त करके तो लक्षणों और कही–कही पर उदाहरणो की सर्जना हुई, किन्तु अधिकतर उदाहरण ऐसे है जो संस्कृत के अन्य ग्रन्थों से प्रेरित होकर अंकित किए गए हैं। तथा कहीं पर संस्कृत के विभिन्न प्रसंगों का छायानुवाद है तो कहीं भावानुवाद तो कहीं पर पूर्ण से सरस अनुवाद के रूप में कवित्त दृष्टिगत होते हैं जैसा कि पीछे स्थान–स्थान पर अमरु के उदाहरणों को प्रकट किया जा चुका है। मतिराम, देव, पद्माकर ने लक्षणों की प्रेरणा संस्कृत के लक्षण काव्यों से विशेषकर रसमंजरी से प्राप्त की और लक्षणों के उदाहरणों को स्वतन्त्र रूप में अंकित कर भिन्न–भिन्न कवित्तों में सँजो दिया। इन वर्णनों में न केवल शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह है अपितु कवियों की अनुभूति की गहराई, नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का प्रयोग, एवं भावना का स्वतन्त्र उल्लेख भी विद्यमान है। इन वर्णनों की प्रेरणा अवश्य संस्कृत के भिन्न–भिन्न प्रसंगों से प्राप्त हुई, किन्तु इनमें वैसी ही सुषमा व्याप्त हुई जैसी कि बालरवि की किरणों के संसर्ग से किसी सरोवर की लहरों में स्वतः ही सुन्दरता विभिन्न रंगों के साथ उन्मेषित हो जाती है।

बिहारी ने यद्यपि लक्षणों का निर्माण नही किया, किन्तु अपनी सतसई में नायक-नायिकाओ की एक ऐसी चित्रशाला निर्मित की जिसके समस्त चित्र लक्षण-कार कवियों से किसी भी प्रकार कम नहीं रहे। इन समस्त चित्रों के पात्र पूर्ण रूप से सजीव हैं तथा स्वतन्त्र होकर आचार्य कवियों के नायक-नायिकाओं की भाँति ही प्रणयात्मक अनुभूति प्राप्त करते है।

नायिकाओं के ऊपर दृष्टिपात करने पर हमारे समक्ष सर्वप्रथम स्वकीया और उसके आदर्श आते है। भारतीय संस्कृति मे पतिव्रता के जिस आदर्श की कल्पना की जाती है, उसका स्वरूप इस नायिका में पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। रीतिकालीन कवियों ने स्वकीया के समस्त गुणों एवं आदर्शों को ध्यान में रखते हुए ही उसके चित्र उपस्थित किए है। इन्हें इन चित्रों की प्रेरणा संस्कृत के विविध ग्रन्थों से प्राप्त हुई जिनमें पतिव्रता के उच्चादर्शों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। रस-मंजरीकार भानुदत्त ने भी उन्ही उच्चादर्शों की कल्पना की है तथा उससे प्रेरणा लेकर रीतिकालीन कवियों ने अपने भावों को व्यंजित किया है। वय क्रम के अनु-सार स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा—ये तीन रूप स्वीकार किए गए हैं तथा

धीरादि उपभेद इस नायिका के परिस्थिति के अनुसार किए जाते हैं। संस्कृत लक्षण-कारो के अनुसार ही रीतिकालीन कवियो ने भेद और उपभेदो की कल्पना कर अपने काव्यो का सृजन किया है।

परकीया की कल्पना का आधार भी पूर्व प्रचलित संस्कृत ग्रन्थो की प्रणाली ही है। अपने प्रियतम को छोड़ परपुरुष से प्रेम करने वाली नायिकायें पहले से ही प्रचलित हैं। दुनियाँ की आँखो में धूल झोंककर यह नायिका उपपति के द्वारा किए गए संकेत स्थल पर पहुँचती है। इस नायिका के वैवाहिक और अविवाहित जीवन को ध्यान मे रखते हुए कन्या और परोढा—ये दो भेद किए गये हैं। कन्या क्योंकि अविवाहित रहने पर किसी पुरुष के प्रति प्रेम की भावना से उन्मुख होती है, इस लिए प्रथमानुराग का अनुभव करने के कारण इसे निम्न श्रेणी में नही रक्खा जा सकता। शेष समस्त परकीयायें कुलटा के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं। वे सभी किसी न किसी प्रकार परपुरुष के साथ की गई रति अथवा प्रेम को छिपाने का प्रयत्न करती हैं। इसीलिए तो उन सभी को गुप्ता अथवा परोढा की श्रेणी में रखा जाता है। रीतिकालीन कवियो ने इन समस्त नायिकाओ के चित्रो की प्रेरणा संस्कृत काव्यो के विभिन्न प्रसगो मे प्राप्त की है तथा अपनी कल्पनानुसार उन्हें विस्तार से अंकित किया है।

सामान्या अथवा वेश्या नायिका के वर्णन भी संस्कृत काव्यो के विभिन्न प्रसगो द्वारा विस्तार पूर्वक अंकित किए गए हैं। भारतीय इतिहास के अन्तर्गत कोई भी युग ऐसा नही रहा, जिसमे वेश्यायें नहीं रही हों। वे अपनी विभिन्न चेष्टाओं द्वारा धनिक नायक को आकर्षित करके तथा उसकी वासना की तुष्टि करने मे अपना मुख्य कर्त्तव्य समझती हैं। संस्कृत मे गणिका की चेष्टाओं के ऊपर स्वतन्त्र रूप में ग्रन्थो की सर्जना हुई। आचार्य क्षेमेन्द्र कृत "कला विलास" और दामोदर गुप्त कृत कुट्टनीमत—ये ग्रन्थ इसी श्रेणी के हैं।

परिवर्तित मनोदशा के आधार पर विभाजित नायिकायें यद्यपि नायिकाओ के उक्त तीनो भेदो (स्वकीया, परकीया, साधारणी) में ही समाहित हो जाती हैं। इसी प्रकार अन्य संभोग दुःखिता, गर्विता और मानवती के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। भेद करने को भले ही और विस्तार पूर्वक करते चले जाओ किन्तु वे सभी तीनो मुख्य भेदो मे ही जुड़े हुए हैं। रीतिकालीन कवियो ने रस-मंजरीकार के आधार पर अधमादि जो तीन भेद किए हैं, वे भी नायिकाओ के तीनो मुख्य भेदो के परिणामस्वरूप हैं, इसलिए और अधिक विस्तार देना यहाँ उचित नहीं लगता।

नायकों की भूमिका तो नायिकाओं पर ही आधारित है । अतएव पति, उप-पति और वैशिक—इन तीनों की परिणति नायिकाओं के तीनों भेदों में हो जाती है, क्योंकि नायकों की विभिन्न चेष्टाओं के फलस्वरूप ही तो नायिकाओं की भित्ति खड़ी होती है । यही कारण है कि संस्कृत और हिन्दी कवियों ने इनके वर्णन में केवल परम्परा का निर्वाह ही किया है तभी तो नायक वर्णन उतना विस्तार नहीं ले सका जितना कि नायिका वर्णन ।

५ | नखशिख-वर्णन

मानव हृदय सौन्दर्य का उपासक होता है। पेट की बुभुक्षा तो अन्न से शान्त हो जाती है किन्तु मानसिक तृप्ति के लिए वह सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होता है। सौन्दर्य-पिपासु मनुष्य के चक्षु कभी तो प्रकृति के वाह्य उपकरणो के सौन्दर्य से प्रभावित होते हैं तो कभी किसी वस्तु विशेष के सौन्दर्य मे। फिर कवि तो अत्यन्त भावुक प्राणी होता है, इसीलिये उसकी दृष्टि सौन्दर्य की परख करने मे इतनी पैनी होती है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म लावण्य को भी निहार लेती है।

नारी पृथ्वी की समस्त वस्तुओ से अधिक लावण्यमयी मानी जाती है। उसके ऊपर प्रकृति ने इतना सौन्दर्य वार दिया कि अन्य वस्तुओ मे समाहित सुन्दरता भी उसके समक्ष फीकी पड गई। विधि ने मानो नारी के नख से शिख तक समस्त अगो के निर्माण मे अपनी सम्पूर्ण कलाकारी को ही ससार के सामने प्रकट कर दिया। सम्भवत इसीलिए समस्त कवि जगत् कामिनी के इस रूप के सौंदर्य पर अत्यन्त मुग्ध हो चुका है। "रूप वर्णन की यह परम्परा प्राचीन काल से प्रचलित है। सस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में यह प्रचुर मात्रा मे दृष्टिगत होती है।"[1]

नारी का नखशिख अथवा रूप सौन्दर्य शृगार के उद्दीपन अथवा आलम्बन रूप मे व्यक्त हुआ है। वैदिक काल के कवि का एक उदाहरण प्रमाण रूप मे यहाँ लिया जा सकता है। अत ऋग्वेद के दशम् मण्डल मे छियालिसवें सूक्त के अन्तर्गत इन्द्र द्वारा वर्णित इन्द्राणी का सौन्दर्य एक मानवी का ही है। तभी तो इन्द्र ने उसे सुन्दर भुजाओ, सुन्दर अँगुलियो, सुन्दर केशो और मासल जघाओ वाली कहा है, यथा—

> कि सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो प्रथजाघने।
> कि शूर पत्नी नस्त्वमभ्यमीषि वृषार्कपि विश्वस्मादिन्द्र उत्तर।[2]

---

१. भोसला राज दरबार के हिन्दी कवि – लेखक डॉ० कृष्ण दिवाकर पृष्ठ २५१ (प्रथम सस्करण)

२ ऋक् सूक्त – १०।८६।८

वेदों के पश्चात् रामायण और महाभारत के काल से होती हुई इस नखशिख-वर्णन की परम्परा ने कालिदास और श्रीहर्ष आदि कवियों के काव्यों में तो और भी अधिक विस्तार धारण किया। तत्पश्चात् लघु-काव्यों की रचना करने वाले अनेक संस्कृत कवियों से होती हुई यह परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में खूब रुचि के साथ ग्रहण की गई। हिन्दी में रीतिकाल के पूर्व चन्द, विद्यापति, सूर इत्यादि अनेक कवियों ने नखशिख-वर्णन में अपना खूब योगदान दिया। इन कवियो के काव्यों में नखशिख-वर्णन की पद्धति पर इनके पूर्वकालिक जैन अपभ्रंश काव्यों का प्रभाव है। अतः ये सभी वर्णन विलक्षणता प्रदर्शन की शैली से अनुप्राणित हैं।

रीतिकालीन काव्य अपने पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यों में वर्णित नखशिख-वर्णन की परिपाटी के प्रभाव से मुक्त न हो सके। अतः संस्कृत काव्यों में नारी के मांसल अंगों के उभार का जैसा चित्रण हुआ, वे उसी के आधार पर रीतिकालीन कवियों ने अपने वर्णन अंकित किये। अतः ये समस्त वर्णन परम्परा में बँधकर ही रह गये। डॉ० महेन्द्र कुमार ने अपना मत देते हुये लिखा भी है कि "रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने रूप के वस्तु परक वर्णन को केवल परम्परा मुक्त नखशिख-वर्णन तक ही सीमित रखा है, यही कारण है कि उसमे रुचि-वैशिष्ट्य का समावेश न हो पाने से प्रायः वह तन्मयता नहीं आयी, जो भाव परक वर्णन में दृष्टिगोचर होती है।"[1]

रीतिकालीन कवियों में भी नखशिख की दृष्टि से विलक्षणता प्रदर्शन खूब मिलता है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि– "रीतिकाव्यों का नखशिख वर्णन विलक्षणता प्रदर्शन की सीमा पर पहुँच गया। ...नायिका भेद के प्रसंग में रससिक्त मुक्तकों की जितनी बहुलता दिखाई पड़ती है, नखशिख सम्बन्धी उक्तियों मे उनकी उतनी ही विरलता।"[2]

इस युग में रसलीन जैसे अधिकतर ऐसे कवि हैं जिन्होंने एक एक अंग को लेकर नायिका के रूप का वर्णन किया किन्तु बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर–इन आलोच्य कवियो ने क्रमशः समस्त अंगों का वर्णन नहीं किया, बल्कि प्रसंगवश ही जहाँ तहाँ मुख्य अंगों पर दृष्टिपात कर अपनी मनोवृत्ति का परिचय प्रदान किया। इस अध्याय में इन कवियों द्वारा वर्णित नखशिख के कुछ तुलनीय एवं उत्कृष्ट उदाहरणों की विवेचना की जा रही है। यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भारतीय कवियों ने यद्यपि पैर के नाखून से लेकर मस्तक तक नखशिख की परिपाटी को अपनाया है, किन्तु नेत्र वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने अधिक रुचि दिखाई है, अतएव इस दृष्टि से अध्याय के अन्तर्गत नेत्रों से प्रारम्भ कर कुछ विशिष्ट अंगों पर

---

१. मतिराम – कवि और आचार्य – डॉ० महेन्द्रकुमार – पचम अध्याय, पृष्ठ ७४
२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास – भाग ६, खण्ड–२, अध्याय–५, पृ० २०३

ही यहाँ दृष्टिपात किया जा रहा है ।

नेत्र

शारीरिक-सौन्दर्य के लिए नेत्रों का होना अत्यन्त ही आवश्यक है । प्राणियों के जीवन मे समस्त कार्य व्यापार नेत्रों के माध्यम से सम्पादित होते हैं । यदि शरीर मे नेत्र न हों यो उसका कोई भी महत्त्व नही तथा ऐसी स्थिति में पृथ्वी के ऊपर जीवन का अस्तित्त्व ही व्यर्थ है । इसके अतिरिक्त दो प्रेमी भी नेत्रों की भाषा द्वारा ही अपने-अपने मनोभावों को एक दूसरे के समक्ष व्यक्त करने मे समर्थ होते हैं । यही कारण है कि कवियो ने नेत्र-सौन्दर्य से लेकर उनके द्वारा कटाक्ष-निपात का बड़े ही धैर्य से चित्रण किया है । इस प्रकार प्राचीन काल से ही कवियो ने नेत्र वर्णन में अपनी विशेष रुचि दिखाई है । सस्कृत के ग्रन्थों में नेत्रो के लिये अनेक उपमान ग्रहण किए गये हैं । केशव मिश्र ने अपने ग्रन्थ "अलकार शेखर" के अन्तर्गत मृग, मृगनेत्र, कमल, कमल-पत्र, मत्स्य खजन, चकोर, केतक, भ्रमर, कामवाण आदि उपमानो को नेत्रो के लिये प्रयुक्त किया है ।[1] कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित ने कटाक्षपात को कामदेव का वाण कहकर सम्बोधित किया है–

"स्मरनाराचा कान्तादृक्पातकैतवात् ॥"[2]

बिहारी ने नेत्र वर्णन के लिये सस्कृत काव्यो से उपमानो को ग्रहण कर अपने ढग से अकित कर उनमे अधिक से अधिक चमत्कार का समावेश किया । एक स्थान पर सखी नायिका के नेत्रो की विशेषता वतलाती है–

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न ।
हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन ॥[3]

बिहारी ने नयनमृगो द्वारा पुरुषो का शिकार करती हुई नायिका का चित्र भी रूपक और श्लेष के सहारे विशिष्ट पद्धति से उपस्थित किया है–

खेलन सिखए, अलि भलैं, चतुर अहेरी नार
कानन चारी नैन-मृग, नागर नरखु सिकार ॥[4]

इस प्रकार नायक द्वारा नायिका के नेत्रो की प्रशसा मे लिखा गया बिहारी

---

१. केशव मिश्र कृत अलकार शेखर – सम्पा० अनन्तराम शास्त्री वेताल, पृष्ठ ४४ (स० १९२७ ई०)

२ कुवलयानन्द – व्याख्याकार – डॉ० भोलाशकर व्यास – (द्वि० स०), पृ० ३४ सूत्र ३१

३ बिहारी रत्नाकर – छन्द ६७

४ वही – छद ४५

का यह दोहा भी उल्लेखनीय है जिसमें व्यक्त किया गया है कि नायिका के शृंगार-रस में निमान अर्थात् कटाक्षादि कलाओं में नैपुण्य को प्राप्त नेत्र कमल-पुष्पों का भी तिरस्कार करने वाले हैं। अपनी प्राकृतिक श्यामलता के कारण बिना अंजन का प्रयोग किये हुए भी खंजन पक्षी का अपमान करने में समर्थ हैं—

रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन ॥[1]

नायिका के नेत्रों की कवि ने संध्या के समान मायक तथा तीन रंगों में रंगा हुआ बतलाया है। अर्थात् श्वेत, श्याम तथा लाल इन तीन रंगों से नायिका के नेत्र अनुरंजित हैं जिन्हें देखकर मछली जल में जा छिपती है और कमल भी लज्जित हो जाता है—

"सायक सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥[2]

घूँघट के झीन पट से चमचमाते हुए चंचल नयनों की उपमा तो अत्यन्त ही रमणीय बन पड़ी है, जबकि उन्हे देखकर कवि सुरसरिता के विमल जल में उछलती हुई दो मछलियों की कल्पना करता है—

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुरसरिता विमल-जल उछरत जुगमीन ॥[3]

बिहारी ने नेत्रों के विषय में "तुरंग" का उपमान लेकर नेत्रों की चंचलता का अधिक से अधिक सुन्दर रूप में सजग होकर चित्रण किया है। अतएव 'नैन तुरंगम, अलक छवि, छरी लगी जिहि आइ'[4] द्वारा यह बतलाया है कि नायिका के नेत्र तुरंगों के समान चपल एवं तेज हैं—

बिहारी ने अपने युग से प्रभावित "किबलनुमा" को भी आँखों का उपमान बना दिया। यह आँख के लिए प्रयुक्त नया अप्रस्तुत ही है, क्योंकि इसके द्वारा नायिका के उस कौशल को व्यक्त किया गया है जिससे उसकी दृष्टि क्षण भर को तो सभी पर पड़कर अन्त में नायक के ऊपर ही ठहरती है—

सबही तन समुहाति छिन, चलति सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, "किबलनमा" लौं दीठि ॥[5]

---

१. बिहारी रत्नाकर—छन्द ४६
२. वही छन्द—५५
३. वही छन्द—५७६
४. वही छन्द १२८—उपस्करण २
५. बिहारी बोधिनी—छन्द सं० ६१, सम्पा० : लाला भगवान्दीन (सं० २०१० वि०)

इसके अतिरिक्त बिहारी ने आँखो के लिए एक "पनिहा" शब्द का प्रयोग कर नवीन उपमान चुना है—

लालन, लहि पाएँ दुरै चोरी सौंह करै न।
सीस-चढ़े "पनिहा" प्रगट कहैं पुकारै नैन ॥[1]

लाला भगवानदीन ने "बिहारी बोधिनी" मे "पनिहा" शब्द का अर्थ "चोरी का पता लगाने वाले" तथा बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने "बिहारी रत्नाकर" मे इसका अर्थ "गुप्तचर" बतलाया है। वस्तुत रीतिकाल के अतर्गत आँख के लिए प्रयुक्त होने वाले उपमानो मे यह "पनिहा" नवीन उपमान है।

"कुही" पक्षि का उपमान भी इस युग के कवियो ने बड़ी ही रुचि के साथ ग्रहण किया है। अर्थात् जिस प्रकार "कुही" पक्षि अपने शिकार की तलाश मे दौड़ लगाता है, उसी प्रकार सुदरी नारी की दृष्टि भी शायद मनोनुकूल नायक की खोज करती रहती है। उस सम्बन्ध मे बिहारी की कल्पना दर्शनीय है—

"नीचीयै नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि।"[2]

नयनो के लिए अग्नि उत्पन्न करने वाले पाषाण का उपमान इस युग का नवीन उपमान है जिसका प्रयोग बिहारी ने किया है—

कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन परवानु।
नतरुक कत इन बिय लगत, उपजतु बिरह-कृसानु ।[3]

बिहारी के नयन वर्णन के उपर्युक्त उदाहरणो के अनुसार नेत्रो के लिए काम-देव के बाण, हरिणी के नयन, मृग, नागर नरो का शिकार करने वाले (वधिक), कज अर्थात् कमल, खजन, सायक सम मायक, मछली, सुरसरिता के युगल मीन, तुरग, किबलनुमा, पनिहा, कुही, पाषाण—ये उपमान प्रसगानुसार उपमा, रूपक, श्लेष, यमक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक इत्यादि अलकारो के सहारे प्रकट किए गए हैं।

मतिराम ने तरुणी के नेत्रो की प्रशसा करते हुए एक साथ कई उपमानो को जुटा दिया है, तभी तो वे नयन प्रशसा के पात्र हो सकते हैं, क्योकि कोई वैशिष्ट्य ही किसी के लिए आकर्षण का केन्द्र बनता है—

खजन, कमल, चकोर, अलि, जितै मीन, मृग ऐन।
क्यों न बड़ाई को लहैं, तरुनि तिहारे नैन ॥[4]

नेत्र सौन्दर्य के लिए मतिराम ने समस्त विशेषताओ को प्रस्तुत कवित्त मे

१ बिहारी रत्नाकर—पृष्ठ ७९, चतुर्थ सस्करण
२ बिहारी रत्नाकर—छन्द स० २५७, चतुर्थ सस्करण
३ वही—छन्द ११८
४ मतिराम ग्रन्थावली—सतसई दोहा ११८

बड़े ही संयम के साथ सँजो दिया है—

आलस वलित कोरें काजर कलित
'मतिराम' वे ललित बहु पानिप धरत हैं ।
सारस सरस सोहैं सलज सहास सगरव
सविलास ह्वै मृगानि निदरत हैं ।
बरुनी सघन बंक तीछन तरल बढे
लोचन कटाच्छ उर पीर ही करत हैं ।
गाढे ह्वै गढ़े है न निसारे निसरत मैन
बान मे बिसारे न बिसारे बिसरत है ।।[1]

अतः मतिराम के वर्णनों के आधार पर नयनों के लिए—खंजन, कमल, चकोर, भ्रमर, मीन, मृग तथा हरिणी ये उपमान और आलस्ययुक्त, अनियारे, सकज्जल, सुन्दर, कान्तिवान, रतनार, लज्जायुक्त हासमय गर्वयुक्त, विलास की भङ्गिमाओं से सम्पन्न, सघन वरुनीमय, वक्र तीक्ष्ण कटाक्षयुक्त, मैन अर्थात् काम वाण के समान आदि विशेषताएँ है ।

नयन वर्णन में देव ने भी एक से एक बढ़कर उपमान जुटाये है । तभी तो एक स्थान पर नायिका के नेत्रों से निकले कटाक्षों को तीक्ष्ण वाण की संज्ञा दी है—

मिस सों मुसक्याइ चितै समुहै कवि देव दरादर सों दरसै ।
दृगकोर कटाछ लगे सरसान मनो सर सान धरे बरसै ।।[2]

बिना "बात" चले ही नवनील सरोज से नयन नाच भी तो उठते हैं अथवा नायिका उन्हे नचा भी देती है—

देव कहै बिनु बात चलैं नवनील सरोज से नैन नचैयत ।[3]

सफरी के मद को नष्ट करने वाले नयन "चितौत ही च्वैं" पड़ते हैं । जलजात रूपी नयन जलजात रूपी नयनों में ही घुल जाते हैं, तथा भावना के अतिरेक में कवि अत मे कह ही देता है कि ये नेत्र मयंक के अंक में बिलसते हुए मानो दो पंकज हैं—

यह तो कछु भामती को सो लसै मुख देखत ही दुख जात है ख्वै ।
सफरी मद मोचन लोचन ये परिहैं कहुँ मानो चितौत ही च्वै ।
कवि देव कहै कहियै जुग जो जलजात रहे जलजात मैं ध्वै ।
नमुनै न पै काहू कहूँ कबहूँ कि मयंक के अंक में पंकज द्वै ।।[4]

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—रसराज—छन्द संख्या ४०७
२. देव ग्रन्थावली—भावविलास—प्रथम विलास—छन्द २९, पृ० ६२
३. वही—छन्द ३१, पृ० ६२
४. वही—छन्द ९७, पृ० ७९

नायिका के दुख नष्ट करने वाले दो खजनो के रूप मे दो नयन निश्चित रूप से सुन्दर होंगे । तभी तो उन्हे दुख भजन कहा गया है—

जाहि लखै लघु अजभ दै दुख भजन ये दृगखजन दोऊ ॥[1]

नायिका के नयनो को देखकर कवि देव निश्चित नही कर पाते कि चचल नयन क्या कामदेव के बाण हो सकते हैं ? अथवा खजन और मीन भी हो सकते हैं ? तभी तो कवि को यह विश्वास है कि नयनो के विषय मे कोई कुछ नही बता सकता—

चचल नैन कि मैन के बान कि खजन मीन न कोई बतावै ॥[2]

प्यारी की आँखें बिना ही काजल के काली तथा नुकीली हैं तभी तो अवलोकन मात्र से चित्त मे चिपटती सी है—

"ये अँखियाँ बिनु काजर कारी अन्यारी चितै चित मे चपटै सी ॥"[3]

देव की नायिका के लोचन उसके रूप पर बटोहियो को आकर्षित करने मे दलाल का भी कार्य करने मे समर्थ हैं—

लोचन दलाल ललचावत बटोहिनको,
लाल चलि देखी लाल मोलनि लहात है ।[4]

चाचल्य भाव युक्त, सहज ही कजरारे, अनियारे नायिका के नेत्र सरलता पूर्वक गम्भीर रूप से चोट भी तो करते हैं—

पैने अनियारे पै सहज कजरार दृग
चोट सी चलाई चितवनि चचलाई की ।[5]

नायिका के साथ जहाँ नायक की आँखो का वर्णन आया है, वह भी नायिका की आँखो के तुल्य ही है । अत काली पुतली तो भौर का स्वरूप हो गई और बाह्य पलक सहित वे सरोज, यह उपमा अत्यन्त ही सुन्दर बन पडी है—

भौर भरे भीतर सरोज फरकत ऐसी
अधखुली अँखियानि उपमा बढाइयत ।[6]

देव ने एक स्थान पर नायिका के समस्त रूप का वर्णन करते हुए मुख्य अगो का एक साथ वर्णन कर दिया है जिसमे "नयनो" के लिए वही पुराना उपमान

---

१ देव ग्रन्थावली—भावविलास—द्वितीय विलास—छन्द २४, पृ० ८४
२ वही, पाचवाँ विलास—छन्द १२, पृ० ११६
३ वही, छन्द ३२, पृ० ११९
४ वही—रस विलास—प्रथम विलास—छन्द ४१, पृ० १७५
५ वही—छठवाँ विलास—छन्द ३९, पृ० २१५
६. वही—सातवाँ विलास—छन्द ९७, पृ० ७९

"खंजन" लिया है। एक स्थान पर कवि देव ने नेत्रों की दीप्ति का वर्णन बड़े ही सजग होकर किया है। उदाहरण के लिये इस सम्बन्ध में उनका प्रस्तुत छन्द लिया जा सकता –

खंजन मीन मृगीन की छीनी दृ`गचल चंचलता निमिखा की।
देव मयंक के अंक की पंक निसंक लै कंजललीक लिखा की।
कान्ह बसी अँखियान विषे बिसफूरति बीस बिसे बिसिखा की।
दीपति मैन महीप लिखाई समीप सिखा गहि दीप सिखा की ।।९४।।[1]

कवि देव ने अप्रस्तुत रूप में यहाँ खंजन, मीन, मृगी इत्यादि उपमानों को रक्खा है। यद्यपि ये उपमान भी पुरातन ही है किन्तु कवि के वर्णन का ढंग इतना सुन्दर है कि ये सभी उपमान स्वतः ही नवीन प्रतीत होते हैं।

देव के वर्णनों के आधार पर नेत्रों के लिए जुटाये गए उपमान यहाँ इस प्रकार हैं – सान पर रक्खे हुए शर अर्थात् वाण; नवनील सरोज, सफरी का मद मोचन करने वाले अर्थात् सफरी, जलजात अर्थात् कमल, मयंक के अंक में दो पंकज, खंजन, (दो), मैन के वान, मीन, वटोहियों के लिए दलाल अर्थात् जिस प्रकार दलाल किसी वस्तु के क्रय-विक्रय में मध्यस्त का कार्य करता है उसी प्रकार नेत्र भी सुन्दरी के रूप का परिचय देने में मध्यस्त का कार्य करते है। अतः "दलाल" शब्द का प्रयोग उचित ही है; पैन अनियारे, भँवरों से भरे सरोज, मृगी, मयंक के अंक की लीक, कंञ्जलोलकि, दीप-शिखा की शिखा इत्यादि।

पद्माकर ने भी अपने पूर्ववर्ती कवि विहारी, मतिराम, देव की भाँति यथा-स्थान नेत्र वर्णनों को लिया है। किन्तु वर्णन वही परम्परागत उतरा है। अतः नायक का नायिका के नयनों की प्रसंशा करते हुए यह कथन दृष्टव्य है जिसमें नायिका के नयनों को खंजन वतलाकर प्रारम्भ में ही कवि ने अपनी परम्परा के प्रभाव की रुचि का परिचय दिया है –

तुव दृग खंजन हैं सही उड़ि न सकत तजि थान।
तु ही उर–वसी उरवसी राजत रूप निधान ।।[2]

विना अंजन के ही नायिका के नयन कजरारे अर्थात् कालिमा से युक्त है –

"विनहु सु अंजन–दान कजरारे दृग देखियतु ।।"[3]

पद्माकर की नायिका का मुख सुन्दर दृग रूपी सरोजों के द्वारा सुषमा और कान्ति का दरिया वन जाता है –

---

१. देव सुधा–सम्पा० : मिश्र वन्धु--पृ० ७० (तृतीय संस्करण)
२. पद्माकर ग्रन्थावली--पद्मा भरण--छन्द ३५
३. वही, छन्द १३७

"सुदृग-सरोजन तें भयो छवि-पानिप दरियाऊ ।।"[1]

पद्माकर ने रूप वर्णन के कुछ कवित्तों के साथ नयनों के अत्यन्त सुन्दर रूपक बांधे हैं। जिनमें पुराने उपमान होते हुए भी नयन वर्णन में चमत्कार अनायास ही आ गया है — एक स्थान पर यह वर्णन कितना सुन्दर बन पड़ा है, जबकि नयनों को चकत्ता बनाकर सांगरूपक का निर्माण किया है। सुन्दर नयनों की पुतली ही तो ढाल है, सुन्दर काजल कृपाण है, बरुनियां सेना, भौंह धनुष, दृष्टि ही बाण है। नायिका के घेरदार घूंघट रूपी घटा की छांहगीर के नीचे मदन रूपी वजीर के लिए सुन्दर ढंग से मांजे गये हैं। इस प्रकार मुखचंद ही, सुन्दर एवं चांचल्ययुक्त नयनों के लिए तख्त है —

सिपर-सुपूतरी कृपान-कल-कज्जल त्यों
दलजम्नीन के छबीले छैल छाजे हैं।
कहैं पद्माकर न जानी जाति कौन पै यों
भौंहन के धनुष चितौन-सर साजे हैं।
घेरदार घूंघट-घटा के छांहगीर तरें
मदन वजीर के लिए ही मंजु मांजे हैं।
बख्त बुलन्द मुख चन्द के तख्त पर
चारु चख चंचल चकत्ता है विराजे हैं।[2]

पद्माकर ने एक स्थान पर नेत्र वर्णन को और भी अधिक सजग होकर लिया है जिसमें पुराने उपमान तो आ ही गये हैं किन्तु वे अत्यन्त कौशल के साथ अनुस्यूत किए गए हैं —

कैसे रहें नेम नित प्रेम की पगापग में
लोने लगवार लगालग में लगे रहें।
कहै पद्माकर सु जाहिर जवाहिर से
जालिम जब्बर जोतिजालन जगे रहै।
खंजन को खंज करि मीनमद भंज करि
कंजन सों गंज रूपरंजन रंगे रहैं।
लाज के कटा हित कटाछिन के भाले लिए
नेजेवार नैना वे करेजे में खगे रहै ।।[3]

---

1 पद्माकर ग्रन्थावली—पद्मा भरण छन्द १४२
२ वही—प्रकीर्णक छन्द ३४, पृ० ३१२
३ वही—छन्द ३४

उपर्युक्त कवित्त में नयनों को लावण्य एवं जवाहिर के समान, खंजन को खंज करने वाले अर्थात् खंजन तुल्य, मीनमद के भजक अर्थात् मीन के समान, कंज, कटाक्षों के भाले वारण करने वाले, नेजेवार अर्थात् नेजा के समान कहा है। इस प्रकार नेत्रों के लिए यहाँ खंजन, मीन, मछली कंज, नेजेवार – ये उपमान व्यक्त किए गए हैं।

उक्त प्रसगानुसार पद्माकर के नेत्रो के निमित्त प्रयुक्त विशेषण क्रमशः खंजन, सरोज, बिना अंजन कजरारे, पुतली रूपी ढाल काजल रूपी कृपाण, भौंह रूपी धनुष, चितौन अर्थात् दृष्टि शर से सज्जित मदन के लिए सुन्दर ढंग से स्वच्छ किये गये, मुख–रूपी चन्द के तख्त पर आसीन चकत्ता आये है।

इस प्रकार हिन्दी कवियों के नेत्रों के उपमान और विशेषण इस प्रकार हैं– काम-बाण, हरिणी के नयन, मग, वधिक, कज अथवा कमल, खजन सायक सम सायक, मछली, 'तुरंग', किवलनुमा, चकोर अलि अर्थात् भ्रमर, ऐन अर्थात् हरिणी, सान पर रक्खे गये अर्थात् तीव्र शर मयंक अङ्क में दो पंकज, दलाल, भ्रमरों से भरे सरोज, मुख रूपी तखत पर आसीन चकत्ता, पनिहा, कुही, पाषाण तथा विशेषतायें क्रमशः ये हैं–नागरों के शिकारी, अनीदार, आलस युक्त, सकज्जल सुन्दर कान्तिवान, सारस अर्थात् कमल तुल्य रतनार, लज्जायुक्त हासमय, गर्वयुक्त विलास भङ्गिमाओ से सम्पन्न, सघन बरुनीमय, बांके तीक्ष्ण कटाक्षयुक्त तथा उर मे पीर करने वाले, कटाक्ष रूपी भालों के धारक आदि।

अब तुलनात्मक दृष्टि के लिए सस्कृत के कवियो का भी नेत्र वर्णन लिया जा रहा है। कालिदास ने पार्वती के नेत्रो का वर्णन करते हुए उन्हे सर्वप्रथम तो वायु द्वारा विकम्पित नील कमलो के तुल्य सुन्दर बताकर तथा पार्वती के चंचल एवं चकित अवलोकन का हरिणियो के अवलोकन से साम्य स्थापित करते हुए कहा है–

"प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्स्ततो गृहीत नु मृगाङ्गनाभिः॥"[1]

यहाँ नेत्रो के लिए 'आयताक्षी' शब्द अत्यन्त ही सार्थक है।

अश्वघोष ने नायिका सुन्दरी को 'नयनद्विरेफा'[2] कहकर आँखों के लिए भ्रमर का उपमान चुना है।

नैषधकार श्रीहर्ष ने भी नयनों के लिए बहुत से उपमानों को चुना। अतः अपनी नायिका दमयन्ती के नयनों की श्रेष्ठता तथा सौन्दर्य की चर्चा करते हुये परम्परागत हरिणो के उपमान को नयनों द्वारा पराजित करा दिया है–

---

१. कुमारसम्भव–प्रथम सर्ग–श्लोक ४६
२. सौन्दरनन्द–अश्वघोष–सर्ग ४, श्लोक ४

"स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वना खुरकण्डूनकैतवान् मृगा ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥"[1]

श्री हर्ष ने यहाँ हरिणो को खुर द्वारा अपने नयन खुजाने का कारण, दमयन्ती के नेत्रो से पराजित होने के कारण सान्त्वना प्राप्त करना बतलाया है।

नैषधकार ने कानो तक जाने का गुण नयनो के लिये विशिष्ट रूप से स्वीकार किया है तभी नयनो को 'श्रुतिगामितया'[2] कहा है।

बिहारी की नायिका के नेत्र जिस प्रकार 'अजन रजन हू बिना खजन गजन' हैं उसी प्रकार नैषधकार की नायिका के नेत्र भी अजन के बिना कमलो को मलीन कर देते हैं तथा अजन लगने पर खजनो का गर्व भी समाप्त करने मे समर्थ बन जाते हैं--

नलिन मलिन विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे ।
अपि खजनमजनाचिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥[3]

नैषधकार ने नायिका दमयन्ती के नेत्रो का निर्माण करने के लिये ब्रह्मा द्वारा चकोर के नेत्रो का, हरिणियो के नेत्रो का तथा कमलो का पीयूष, निझर रूप निमेष यन्त्र से खीचे जाने की जो कल्पना की है वह दर्शनीय है–

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलाना निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्ट ?
सार सुधोद्गारमय प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातु ॥[4]

कवि बिल्हण ने भी चन्द्रलेखा के नेत्रो को परम्परा के अनुसार कमल की शोभा हरण करने वाले अर्थात् कमल के समान व्यजित किया है–

"आमुष्य मुषिता लक्ष्मीश्चक्षुर्षेति न नूतनम् ।
न वेत्सि कथयत्यस्या कर्णे लग्न किमुत्पलम् ॥[5]

बिल्हण ने आगे भी नेत्रो को अप्रस्तुत रूप मे हरिणी के समान और कान तक फैलाने की कल्पना की है–

मृगी सम्बन्धिती दृष्टिरसौ यदिन सुभ्रुव ।
धावति श्रवणोत्सलीलादूर्वाङ्कुरे कुत ॥[6]

---

१ नैषध–द्वितीय सर्ग–श्लोक २१
२ वही–श्लोक २२
३ वही–सर्ग २–श्लोक २३
४. वही–सर्ग ७–श्लोक ३२
५ विक्रमाङ्कदेवचरित–आठवाँ सर्ग–श्लोक ७२ (प्र० स०)
सम्पा० प० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज
६. वही–श्लोक ७३

भर्तृहरि ने भी अपने शृंगारशतक के अन्तर्गत स्त्रियो की सुन्दर भौंहों के लज्जापूर्ण कटाक्ष, लीलाविलास का उल्लेख करते हुये दृष्टि को नील कमल के समान वतलाया है–

क्वचित्सुभ्रूभङ्गैः क्वचिदपि चलज्जा परिणतैः ।
क्वचिद्भीतित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः ।
नवोढानाभेभिवदनकमलैर्नेत्रचलितैः ।
स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दृशः ॥[1]

साहित्य दर्पण के एक उदाहरण में भी सुन्दरी के नयनों को रात-दिन सुशोभित कुवलय अर्थात् कमल का एक रूपक दिया है–

इमे नेत्रे रात्रिन्दिवमविकशोभे कुवलये ······· ।[2]

इसी प्रकार साहित्य दर्पणकार ने अन्यत्र भी सुन्दरियो के कटाक्षों का निपात काम वाण का स्वरूप स्वीकार कर उनकी दृष्टि की दौड़ को कामदेव द्वारा सुन्दरियों के आगे-आगे वाण चढ़ाकर दौड़ने की कल्पना की है–

यत्र पतत्यवलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्तितत्रशराः ।
तच्चापरोपितशरो धावत्यासा पुरः स्मरो मन्ये ॥[3]

कुट्टनीमतकार की यह उक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमे हरिण की आँखो के समान आँखों वाली स्त्रियों की आँखों में ही शोभा वतलाई गई है–

"हरिणायतेक्षणानां विच्छितिः········ ।[4]

सभी संस्कृत कवियों ने नेत्र सम्वन्धी उपमान–नील-कमल, हरिणियों के नेत्र, द्विरेफ अर्थात् भ्रमर, हरिण, आयत, खंजन, चकोर, नील-कमल, कामवाण आदि वतलाये हैं। इनके अतिरिक्त नेत्र-वर्णन के प्रारम्भ में ही केशव मिश्र और अप्पय दीक्षित के उदाहरणों में कमल-पत्र, मत्स्य, केतक आदि उपमान कहे जा चुके हैं। विशेषतायें भी इस प्रकार है–चंचल एवं चकित अवलोकन, श्रुतिगामी, अंजन विना भी सुन्दर, लज्जापूर्ण कटाक्ष एवं लीलापूर्वक विलास, अपूर्व शोभा इत्यादि।

उक्त रीतिकालीन कवियो के नयन वर्णनों के साथ-साथ संस्कृत कवियों के नयन वर्णनो पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से यह वात प्रत्यक्ष हो जाती है कि संस्कृत की नेत्र वर्णन परम्परा से ही इस युग के समस्त कवियों ने अपने-अपने वर्णनों मे प्रभाव ग्रहण किया। पूर्व परम्परा से प्रचलित संस्कृत कवियो के नेत्र विपयक उप-

---

१. शृंगारशतक–श्लोक ४
२. साहित्य-दर्पण–दशमः परिच्छेद--कारिका ३३, पृष्ठ ७२५ (अनु० सत्यवृतसिंह)
३. वही–अनुमानालंकार संख्या ३०, कारिका ६२ के नीचे, पृ० ८०६
४. कुट्टनीमत–श्लोक १८९, पृ० ३८ अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार

मान रीतिकालीन कवियों ने ग्रहण कर वर्णन में अपनी भावना के अनुसार निखार प्रदान किया। काम बाण, हरिणी के नयन, मृग, चकोर, कंज, मछली भ्रमर आदि उपमान तो निस्सन्देह परम्परागत हैं। किन्तु इस युग के किबलनुमा, चकवा, दलाल, पनिहा, कुही–ये समस्त उपमान निस्सन्देह नवीन हैं। इसी प्रकार वर्णनों की विशेषतायें भी परम्परित हैं। केवल नागरा के शिकारी और बटाहियों के दलाल की कल्पना सर्वथा नवीन है।

समग्र रूप में कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों ने नेत्रों के अधिकांश उपमानों को परम्परा से प्रभावित होकर ग्रहण किया किन्तु किबलनुमा और कुही जैसे उपमान इन कवियों के अपने मन की सूझ रही। इनके अतिरिक्त वर्णना में तो इन कवियों ने संस्कृत कवियों से बहुत कुछ भिन्नता प्रदर्शित की है तथा इनके वर्णन संस्कृत कवियों की अपेक्षा कहीं-कहीं पर अत्यन्त माधुर्यपूर्ण बन गये हैं। अतः जिससे नयनों के लिए प्रयुक्त उपमान, रूपक अथवा विशेषण कृत्रिम प्रतीत नहीं होते।

नयन विषयक रीतिकालीन कवियों के उपमानों के सम्बन्ध में अन्त में विशेष उल्लेखनीय बात यह भी है कि हरिणी के नयन, चकोर, मछली, भ्रमर इत्यादि उपमान पुराने होते हुए भी अत्यन्त समीचीन हैं। इनसे एक ओर नायिका के नयनों की सुन्दरता का चित्र ध्यान में आता है। तो दूसरी ओर नेत्रों की चंचल गति का भी पता चल जाता है। मौलिक उपमानों में 'किबलनुमा' और 'कुही-पक्षी' के उपमान भी कम श्रेष्ठ नहीं हैं। 'किबलनुमा' के समान नायक पर दृष्टि ठहरने से यहाँ नायिका के प्रेम की एकनिष्ठा का पता चलता है तथा 'कुही' के समान दृष्टि दौड़ने में नायिका के चंचल एवं कुशलता पूर्वक किये गए कटाक्षोत्क्षेप का भी पता चल जाता है। इस प्रकार रीतिकालीन कवियों के मौलिक उपमान भी परम्परा से प्रचलित उपमानों से कम प्रभावशाली नहीं हैं।

यद्यपि बिहारी द्वारा प्रयुक्त पाषाण का उपमान नेत्रों की सुन्दरता, उज्ज्वलता एवं लावण्य को प्रदर्शित नहीं करता, फिर भी दो प्रेमियों के नेत्रों की टकराहट से विरहाग्नि के उत्पन्न होने की कल्पना निश्चय ही बिहारी की अपनी सूझ कही जा सकती है।

भौंह एवं कटाक्षोत्क्षेप

नयनों से दृष्टि रूपी बाण को चलाने के लिये भौंह धनुष का कार्य करती हैं। अर्थात् जिस प्रकार कोई योद्धा कमान पर बाण रखकर अपने प्रतिपक्षी को बींधने का प्रयास करता है उसी प्रकार भौंहों के संचालन द्वारा प्रणयी एक दूसरे पर नयन बाणों की वर्षा करते हैं जिससे उनके हृदय ही बिंध जाते हैं। भर्तृहरि ने इसी भाव को इस प्रकार प्रकट कर दिया है–

मुग्धे धानुष्कता केऽयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यथा हरसिचेतांसि गुणैरेव नसायकैः ॥[१]

सुन्दरी नायिका अपनी धनुष विद्या में कुशल होने के कारण ही तो सबके चित्त को गुण अर्थात् प्रत्यंचा किंवा चतुराई से बींधती है वाण से नहीं। यहाँ पर धनुष शब्द अप्रत्यक्ष रूप में भौहों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

विहारी ने भी स्यात् इसी वर्णन से प्रभावित होकर नायिका के भौंह रूपी धनष द्वारा फेंके गए कटाक्ष को देखकर ही अपने मनोभावों को व्यक्त किया, क्योंकि नायिका ने न जाने कहाँ धनुर्विद्या सीखी जो विना ज्या की भौह रूपी कमान से दृष्टि रूपी तीरों से चंचल चित्तों को बींधते-बींधते कभी रुकती ही नही है–

तिय, कित कमनैती पढ़ी, विनु जिहि भौंह कमान।
चलचित बेंझें चुकत नहि, बंक विलोकनि बान॥[२]

अतः अब स्पष्ट हो जाता है कि कटाक्षोत्क्षेप मे भौंहों का विशेष हाथ होता है। भक्तिकाल और रीतिकाल के संधि:युग के कवि केशव ने भौंहों के लिये, धनुष-रेखा, अनुपम खड्ग-पाश–उपमानों को स्वीकार किया है।[३]

विहारी ने एक स्थान पर भृकुटी रूपी धनुष के लिये नायिका के मस्तक पर लगी खौर को प्रत्यंचा का रूप देते हुये कहा है कि–

खौरि-पनिच भृकुटी धनुप, वधिकुसमरु, तजि कानि॥[४]

मतिराम ने भी भौह को धनुष का रूप ही बतलाया है तभी तो मनोज अपने हाथ में चाप लेकर भौंहों के साथ चढ़ा देता है–

"भौहनि संग चढ़ाइयो, कर गहि चाप मनोज।"[५]

एक अन्य स्थान पर भौंहों के धनुप के रूपक को कुछ दूसरे ढंग से लिया है। नायिका को नायक की भौंह रूपी कमान पर चढ़ा हुआ लोचन रूप वाण विश्वास-घाती होकर मारता ही रहता है तथा लज्जा की समाप्ति का भी उसे डर हो जाता है–

भौह कमान कैं, लोचन बानकै लाजनि मारि रहै विसवासी॥[६]

पद्माकर की नायिका के नेत्र भी भौंहों के धनुष लिए हुये उसके ऊपर चित-वन का शर अर्थात् वाण सजाने मे निपुण हैं–

---

१. शृंगारशतक–श्लोक १२
२. विहारी रत्नाकर–छन्द ३५६
३. केशव ग्रन्थावली–कवि प्रिया–छन्द ५९
४. विहारी रत्नाकर–छन्द १०४
५ मतिराम सतसई–दोहा ७८, पृ० ४३८
६. मतिराम ग्रन्थावली–ललित ललाम-छन्द ३९७ पृ० ४२९

"मोहन के धनुष चितौन सर साजे हैं ॥"[1]

देव की नायिका ने तो भौंह रूपी कमान के ऊपर विलोचन रूपी बाण को तानकर अपने पति के चित्त मे पिरो दिया, यथा—

भौंह कमान न बान विलोचन तान तऊ पति को चितु पोह्यो ॥[2]

समस्त अङ्गों के उपमानो के साथ देव ने सामान्य रूप में नयनो को परम्परित रूप मे लेकर 'चाप" अर्थात धनुष ही बतलाया है।[3]

आलोच्य कवियो के अतिरिक्त कवि भिखारीदास न यद्यपि भौंहो के लिए परम्परा मे प्रचलित उपमानो को ही स्वीकार किया, किन्तु उनका वर्णन का ढग अत्यन्त ही माधुर्यपूर्ण है तथा स्वत ही स्पष्ट है—

भावती भौह के भेदिन 'दास' भले यह भावती मोसो गई कहि ।
कीन्हो कह्यो निकलंक मयंक जबै करतार विचार हिये गहि ।
मेटत-मेटत हूँ धनुषाकृति मेचकताई की रेख गई रहि ।
फेरि न मेटि सक्यो सविता कर राखि लियो अति ही कविता लहि ॥[4]

संस्कृत कवि कालिदास ने भी पार्वती के सौन्दर्य के अन्तर्गत भौंहो को धनुष के रूप मे ही लिया है क्योंकि अजन की शलाका मे खीची गई रेखाओ के समान लम्बी एव विलासपूर्ण पार्वती की सुभग भौंहो को देखकर कामदेव ने [illegible] धनुष त्याग दिया—

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥[5]

यहाँ कामदेव द्वारा धनुष त्यागने का तात्पर्य भौंहों के लिए धनुष का उपमान ही चुना गया है।

श्रीहर्ष ने भी वही उपमान चुना है। अत तभी तो दमयन्ती की भौंह को प्राप्त होकर कामदेव का धनुष अत्यन्त टेढा हो जाता है अर्थात् भौंह को कामदेव के धनुष का रूपक माना गया है—

भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसार भाव ।
निजा यदप्लोषदशामपश्य सम्प्रत्यनेनाधिरवीर्यतांजि ॥[6]

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली—प्रकीर्णक-पृ० ३१५, छन्द ३४, चौथी पक्ति
२ देव ग्रन्थावली—भावविलास-पाचवाँ विलास—छन्द २८।२, पृ० ११९
३ वही, छन्द ६४, पृ० १२५
४ भिखारीदास ग्रन्थावली—शृगार निर्णय-पृ० १०१, छन्द ५३
५ कालिदास ग्रन्थावली—कुमारसम्भव—प्रथम सर्ग—श्लोक ४७
६ नैषध—सम्पा० शृगीश्वरनाथ [illegible]- सर्ग ७, श्लोक २५ (स० सन् १९८२)

इस प्रकार अधिकतर संस्कृत कवियों ने भौंहों का उपमान धनुष-वाण को ही बनाया। तभी तो हिन्दी के कवियों ने रुचि के साथ स्थान-स्थान पर भौहों को धनुष की संज्ञा दी। अतः नखशिख में भौंहों के वर्णन की दृष्टि से समस्त कवियो के वर्णन समान हैं और यह कहने में अब कोई आपत्ति नही की जानी चाहिए कि रीतिकालीन कवियों ने भौंह विषयक उपमान अथवा रूपक अपने पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ही ग्रहण किया। तभी तो कही पर भौहो के लिए "चाप" शब्द प्रयुक्त होता है, और कही कमान तथा दृष्टि के लिए वाण का प्रयोग है।

भौंहों के बाँकपन का वैशिष्ट्य दिखाने के लिए धनुष की कल्पना बड़ी ही सार्थक है क्योंकि जिस प्रकार कोई योद्धा धनुष पर वाण चढ़ाकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार सुन्दरी नायिका भी भौंह रूपी धनुष पर दृष्टि का वाण चढाकर रमणीय बन जाती है।

नासिका

रूप-सौन्दर्य में वृद्धि करने के लिए नासिका का सुन्दर होना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव कविगण जहाँ नायिका के अन्य अंगों का वर्णन करने में रमे हैं वहाँ वे भला नासिका को किस प्रकार छोड सकते थे। अतः थोडा बहुत वर्णन कहीं-न-कहीं प्राप्त हो ही जाता है। हाँ इतना अवश्य है कि कवियों की दृष्टि जितनी अन्य अगों के वर्णनों मे रमी उतनी नासिका में प्रायः कम ही दिखाई देती है। रीति-कालीन कवि बिहारी ने नासिका के लिए चम्पा की कली का रूपक इतने सुन्दर ढंग से चुना है कि नीलम् मणि जटिल नासिका का सीक नामक आभूषण ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई भ्रमर निःसंकोच भाव से चम्पक कलिका पर बैठा हुआ रसपान कर रहा हो-

> जटित नीलमनि जगमगति, सींक सुहाई नाँक।
> मनौं अली चम्पक कली, बसि रसुलेत निसाँक ॥[1]

देव की नायिका की भी कीर के समान नासिका अत्यन्त ही सुशोभित है, यथा-

> नासिका कीर लकीर सी भौहनि तीर से छाँड़ति है पिक बैनी ॥[2]

आलोच्य कवियों के अतिरिक्त इस सन्दर्भ में कवि रसलीन ने नासिका को कंचन तरु के समान बतलाते हुए बड़ी ही सुन्दर कल्पना की है, जोकि प्रस्तुत अवतरण द्वारा स्वतः ही प्रकट हो जाती है-

---

१. बिहारी रत्नाकर-छन्द १४३

२. देव ग्रन्थावली-रसविलास-पाँचवाँ विलास-छन्द ५५, पृष्ठ २०८

नासा कंचन तरु भए मरकत पत्र पुनीत ।
पलक फूल दृगफल भए, सुरतरु कामद मीत ।।[1]

यहाँ नायिका के लिए दो रूपक सामने आते हैं—"चम्पक-कली", "कीर" अथवा "शुक", "कंचन तरु" इत्यादि ।

कहीं-कहीं पर संस्कृत कवियों के नासिका विषयक वर्णन कुछ अधिक रमणीय नहीं बन पड़े हैं, ऐसा लगता है कि मानो कि अन्य अंगों पर उनकी दृष्टि इतनी उलझी कि नासिका के ऊपर गयी ही नहीं । उदाहरणार्थ नैषधकार श्री हर्ष का वर्णन लिया जा सकता है, जिसे नाक का वर्णन करते समय केवल बाणों की नलिका के अतिरिक्त कुछ सूझा नहीं—

धनुषी रतिपंचबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
नलिकेन तदुच्च नासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयो ।।[2]

विक्रमाङ्कदेवचरितकार कवि बिल्हण ने चन्द्रलेखा की नाक को काम के पुराने बाणों को निकालने वाला उलटा तरकस ही कहा है । अतएव इस कवि ने भी इस अंग के साथ इतना न्याय नहीं किया क्योंकि तरकस से ग्रहण में उतनी रुचि उत्पन्न नहीं होती जितनी कि होनी चाहिए—

पुराणबाणत्यागाय नूतनास्त्रकुतूहलात् ।
तन्नासा भाति कामेन तूणेवाधोमुखीकृता ।।[3]

इस प्रकार रीतिकालीन कवियों ने नासिका के लिए अधिकतर कीर, चम्पक-कली, कंचन-तरु तथा उक्त संस्कृत कवियों ने सूक्ष्म काम बाणों की "दो नलिकायें", "उलटा तरकस"—इन उपमानों को लिया है । इसके अतिरिक्त अन्य संस्कृत कवियों ने स्थान-स्थान पर शुक, तिल-पुष्प इत्यादि अनेक उपमानों को ग्रहण किया है ।[4]

अंग सौन्दर्य के सन्दर्भ में रीतिकालीन कवियों और संस्कृत कवियों के नाक सम्बन्धी जो भी वर्णन हैं, उनके सम्बन्ध में इन कतिपय वर्णनों से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नासिका के सम्बन्ध में संस्कृत के कवियों ने अपनी अधिक रुचि नहीं दिखाई । संस्कृत के उपर्युक्त कवियों में नाक के लिए नैषधकार ने तो सूक्ष्म काम-बाणों की दो नालिकाएँ कहकर सन्तोष कर लिया और बिल्हण ने काम-तरकस कहकर अपना सीधा सादा मन्तव्य व्यक्त कर दिया । किन्तु इन दोनों कवियों ने नाक के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, वह रुचि के अनुसार नहीं कहा । अतः ये उपमान

---

१ रसलीन ग्रन्थावली—सम्पा० : सुधाकर पाण्डेय—छन्द ५७(प्रथम संस्करण)
२ नैषध—द्वितीय सर्ग—श्लोक २८, पृष्ठ ३५
३ विक्रमाङ्कदेवचरित—आठवाँ सर्ग—श्लोक ७१
४ सुभाषित रत्न भाण्डागारम्—सम्पा काशिनाथ शर्मा, पृष्ठ २६० (संस्करण)

रीतिकाल में अधिक प्रचलित नहीं रहे। रीतिकालीन कवियों के नाक के लिए प्रयुक्त उपमान—चम्पक-कली, शुक तथा कंचन-तरु यद्यपि परम्परा-भुक्त हैं किन्तु इन उपमानों से वास्तव में नाक की रमणीयता का अनायास ही पता चल जाता है। अतः यहाँ रीतिकालीन कवियों के नाक सम्बन्धी वर्णन मौलिक और सरस ही हैं।

अधर एवं सुहास

रूप के लिए अधरों का अपना वैशिष्ट्य होता है। जिस प्रकार प्रफुल्लित कलिका के सौन्दर्य पर सभी का मन मुग्ध हो उठता है, उसी प्रकार नायिका के अधरों पर थिरकती हुई हँसी रसिक जनों के हृदय में उथल पुथल मचा देती है। कवि समाज तो इस हँसी पर मानो न्योछावर ही हो चुका है इसलिए अधरों के साथ-साथ हँसी का वर्णन भी कवियों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किया है। अधरों का वैशिष्ट्य लालिमा में ही होता है। संस्कृत कवियों के अनुकरण में केशव ने अधिकतर अधरों को उपमानों के लिए बिम्बाफल, पल्लव, तथा प्रवाल इत्यादि उपमानो को ही ग्रहण किया।[1]

मतिराम ने भी अधर की लाली और सरसता को उत्प्रेक्षा के साथ बिम्बाफल का उपमान या रूपक देखकर लिया है। नायिका के विमल मुख में ओठ अत्यन्त ही सुशोभित हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों शरद विधु के बिम्ब में लाल बिम्बाफल लसित हो रहा हो—

> विमल बाम के बदन में राजत ओठ रसाल।
> मनोसरद विधु बिम्बमें लसत बिम्बफल लाल॥[2]

अधरों के माधुर्य का संकेत करता हुआ कविदेव तो नायिका के अधरो के रूप में शरबत की धारा के स्थापन की कल्पना करता हुआ कहता है कि—

> अधरनि धरी धार सुधा सरबत की।[3]

देव ने भी अधरों के विषय में वही पुराने उपमान की कल्पना की है क्योंकि परम्परा के अनुसार अधरों के लिए बिम्ब ही प्रयुक्त किया जाता रहा है।[4]

अधर माधुर्य का वर्णन पद्माकर ने भी बड़ी ही सुन्दर तथा स्वतन्त्र कल्पना के साथ किया है। उन्होने अलंकृत शैली के माध्यम से नायिका के अधरामृत की कल्पना करते हुए स्पष्ट किया है कि अधरो के लिए ही देवताओं ने समुद्र को मथकर अमृत रूपी सार ग्रहण कर लिया। इसी दुःसह दुख के कारण समुद्र खारा हो गया—

---

१. केशव ग्रन्थावली—कवि प्रिया—छन्द ३७, पृष्ठ २०३
२. मतिराम सतसई—दोहा—४८८
३. देव ग्रन्थावली—रसविलास—पांचवां विलास—छन्द ५६, पृष्ठ २०८
४. वही —भावविलास— वही —छन्द ६५, पृष्ठ १२५

तव अधरनि के हित सुरनि मथि लिय अमृत जु सार ।
सु यह दुसह दुख सो अजै अब लगि सिंधु सखार ॥[1]

इसी प्रकार रीतिकालीन कवियो ने अधरो के लिए मुख्य रूप से बिम्बाफल और विद्रुम, पल्लव इत्यादि उपमानो को ही ग्रहण किया है। अधरो के माधुर्य के लिए मिसरी, कन्द तथा सुधा का प्रयोग हुआ है तथा इनकी सार्थकता लालिमा मे है, जोकि उक्त उपमानो द्वारा व्यजित है।

हिन्दी कवियो के अधरो के लिए प्रयुक्त उपमान परम्परा से अनुप्राणित ही है जैसा कि संस्कृत कवियो के वर्णनो मे विदित हो जायेगा।

अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तर्गत अधरो के लिए "अधर किसलयराग"[2] अर्थात अधर रूपी नूतन-किसलय अथवा नव पल्लव की सज्ञा दी गई है।

नैषधकार श्री हर्ष ने "बिम्बाफल" को अधर से हीन कहकर अप्रस्तुत रूप से "बिम्बाफल" को ही उपमान स्वीकार किया है—

अधर किल बिम्बनामक फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यद पदमस्या रदनच्छद वदत् ॥[3]

विक्रमाकदेवचरितकार कवि बिल्हण ने नायिका चन्द्रलेखा के अधरो का वर्णन करते हुए उपमान के रूप मे "चन्द्रोदय के समय की लाल वर्ण की सध्या" तथा "सौन्दर्य-समुद्र का मूँगा" लिया है—

सन्ततोदयसन्ध्येव वदनेन्दोरनिन्दिता ।
तदोष्ठमुद्रालावण्य समुद्रस्येव विद्रुम ॥[4]

बिल्हण ने चन्द्रलेखा के ही नखशिख-वर्णन के क्रम मे अधर के लिए सोने की नली मे से गिरे हुए पद्मराग मणि की कल्पना करते हुए कहा है कि—अधर सोने की नली मे से गिरे पद्मराग मणि के समान सुशोभित है—

अधरोऽसौ कुरगाक्षया शोभते नासिकातले ।
सुवर्णनलिकामध्यान्माणिक्यमिव विच्युतम् ।[5]

संस्कृत के इन कतिपय प्रसगो के अनुसार अधरो के लिए रूपकादि अलकारो के सहारे व्यक्त होने वाले उपमान क्रमश ये है—लाल-नवपल्लव एव विद्रुम, बिम्बाफल लाल वर्ण की सध्या, पद्मराग मणि।

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली—पद्माभरण—छन्द ११९, पृष्ठ ४७ (प्र० स०)

२ अभिज्ञानशाकुन्तल—प्रथम अक—श्लोक २०

३ नैषध—द्वितीय सर्ग—श्लोक २४

४. विक्रमाकदेवचरित—आठवाँ सर्ग—श्लोक ६७

५ वही वही —श्लोक ७०

स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन कवियों के उपमान निस्सन्देह संस्कृत कवियों के आधार पर ही ग्रहण किए गए है । परम्परा से प्रचलित बिम्बाफल, विद्रुम, पल्लव इत्यादि उपमानो से एक ओर तो नायिका के अधरों की सुन्दरता का आभास होता है तथा दूसरी ओर उनकी सरसता का रूप भी अनायास ही प्राप्त हो जाता है । अतः ये तीनो उपमान रूढ़िबद्ध होते हुए भी प्रभावपूर्ण हैं । बिल्हण ने पद्मराग-मणि तथा लालवर्ण की सध्या की समानता लेकर अपनी विशेष रुचि का परिचय दिया तथा उच्चकोटि की कल्पना की । रीतिकालीन काव्यो मे इन दोनो उपमानों की प्राय: कमी ही है ।

रीतिकालीन कवियो ने इन उपमानो के गुफन में तो अपनी स्वतन्त्र दृष्टि का परिचय दिया है । अत. "शरदविधु मे लाल बिम्बाफल के लसित होने, अधरों मे सुधा के शरबत की धारा के प्रस्थापन तथा सुन्दरी के अधरो के लिए ही देवताओं द्वारा अमृत के सार मथने—इत्यादि कल्पनाये बड़ी ही रमणीय और सजीव है ।

नायिका के अधरों पर थिरकते हुए हास का भी कवियों ने बड़ी ही रुचि के साथ चित्रण किया है । रीतिकालीन और सस्कृत कवि—दोनो के वर्णन अपने-अपने स्थान पर अत्यन्त सौन्दर्य पूर्ण है । कवि केशव ने हास के लिए जुन्हाई, दामिनी, सुधा-प्रकाश, मोह-मरीचिका इत्यादि उपमान ग्रहण किए है ।[1] कवि रसलीन की प्रस्तुत उक्ति भी दर्शनीय है, जिसका अर्थ स्वतः ही अभिव्यंजित है—

"चन्द्रहास सम भासह चन्द्रमुखी को हास ।।"[2]

पद्माकर ने परम्परा से प्रभावित होकर ही नायिका की मुसकान को "मंजुल मिठाई" के समान कहा है—

साँवरी सलोनी के सलौने अधरान ही मे
मन्द मुसकान भरी मंजुल मिठाई सी ।।[3]

संस्कृत कवियों के कहीं-कहीं वर्णन बड़ी ही स्वाभाविकता के साथ अंकित हैं । उदाहरण के लिए कालिदास की नायिका पार्वती की हँसी का वर्णन अत्यन्त ही सुन्दर है । नव-पल्लव पर सुमन रखने पर अथवा मूगे पर उज्ज्वल मोती रखने पर जो शोभा हो सकती है, वही शोभा पार्वती के अधरो पर थिरकती हुई हँसी की है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्
मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

---

१. केशव ग्रन्थावली—कवि प्रिया—छन्द ४० (प्र० स०) सम्पा० : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

२. रसलीन ग्रन्थावली—अंग दर्पण—छन्द ७८ (प्र० स०) सम्पा० : सुधाकर पाण्डेय

३. पद्माकर ग्रन्थावली—प्रकीर्णक—छन्द ३९

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्या–
स्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुच स्मितस्य ॥[1]

उपर्युक्त कतिपय प्रसगो की चर्चा मे हास के लिए कवियो ने अपनी कल्पनानुसार कुछ उपमानो की चर्चा की। रीतिकालीन कवियो के वर्णनो मे जो भी उपमान लिए गए, वे सभी सार्थक हैं, किन्तु कालिदास की कल्पना इन कवियो से अधिक रमणीय और सार्थक बन पडी है। वहाँ निस्सन्देह "ताम्रौष्ठ" पर हँसी के लिए विद्रुम पर मुक्ताफल तथा प्रवाल पर पुष्प की कल्पना एक स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत कर देती है। अत संस्कृत कवियो के अन्य वर्णनो के विषय मे भी यही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे भी इसी प्रकार सार्थक और स्वाभाविक होंगे।

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि रीतिकाल की अधर वर्णन की उपमायें तो परम्परा गृहीत हैं, किन्तु हास वर्णन मे उनकी अपनी विशेषता विद्यमान है। अधरो के वर्णन मे भी इन कवियो की स्वय की प्रतिभाशक्ति का प्रयोग है।

दाँत

सौन्दर्य को अधिक बल प्रदान करने के लिए दाँतो की गठन अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। यही कारण है कि संस्कृत कवियो ने उनके लिए सुन्दर-सुन्दर उपमानो की कल्पना की। रीतिकालीन कवियो ने भी यत्र-तत्र दाँतो की छवि के वर्णन में भिन्न-भिन्न उपमाएँ जुटाई हैं। हँसने मे दाँतो की छवि से ही वातावरण मे रमणीयता उत्पन्न होती है। बिहारी की हँसती हुई नायिका के दाँतो की चमक मे नायक की दृष्टि इतनी चकाचौंध हो जाती है कि वह ठीक ढँग से नायिका के मुख को भी नहीं देख पाता इसीलिए तो वह अपनी प्रिया नायिका से कहता है–

नैंक हँसौ ही बानि तजि, लख्यौ परतुमुहुँ नीठि।
चौका-चमकनि-चौंध म, परति चौंधि सी डीठि ॥[2]

मतिराम ने दाँतो के विषयो मे अत्यन्त ही सुन्दर कल्पना की है। रूप रूपी सदन मे तन रूपी वसन को धारण किए दाँत दामिनी मे विधु बिम्ब अथवा विधु मे दामिनि की ज्योति के समान दिखाई पडते हैं। यथा–

रूप सदन मिलि तन बसन, रदन रूचिर रूचि होति।
दामिनि मे विधु बिम्बजनु, विधु मे दामिनि जोति ॥[3]

यहाँ विधु बिम्ब अर्थात् चाँदनी और दामिनी को दाँतो के उपमान के लिए अपनाया गया है।

---

१ कालिदास ग्रन्थावली–कुमारसम्भव–प्रथम सर्ग–श्लोक ४४
२ बिहारी रत्नाकर–छन्द १००
३ मतिराम ग्रन्थावली–मतिराम सतसई–छन्द ३३५

मतिराम ने कुन्द पुष्पों को लेकर दाँतों के लिए सुन्दर उपमान चुना है—

"कुन्दन पावत रदन रुचि, कुंदन अंग प्रकास ।।"[१]

देव ने एक ही कवित्त में कई अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करते हुए दाँतों के लिए क्रमशः "मोती" का उपमान लिया है ।[२]

इन वर्णनों के आधार पर रीतिकालीन आलोच्य कवियों ने दाँतो के लिए विधु-विम्ब, दामिनी, कुन्द तथा मोती—ये उपमान लिए हैं। दाँतों के लिए प्रयुक्त उत्कट चमक ही उनकी विशेषता है ।

तुलना के लिए संस्कृत कवि श्रीहर्ष द्वारा वर्णित यह उदाहरण लक्षणीय है जिसमें नल के माध्यम से नायिका दमयन्ती की दन्त-पक्तियों को कान्ति की बूंदों के रूप में लिया गया है जो कि चन्द्रमा की किरणो की अपेक्षा अधिक घनी हैं—

चन्द्राधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं तत्किरणाद्धनानाम् ।

पुरः परिस्रस्तपृषद्द्वितीयं रदावलिद्वन्द्वति विन्दुवृन्दम् ।।[३]

अर्थात् नायिका दमयन्ती के नीचे के दाँतों की पंक्तियाँ कान्ति की छोटी बूँदे और ऊपर की दंत-पंक्तियाँ बड़ी बूँदे हो गईं ।

श्रीहर्ष ने दाँतों की उज्ज्वलता व्यक्त करने के लिए मुक्ता का उपमान ग्रहण किया है—

राजो द्विजानामिह राजदन्ताः संविभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत् ।

उद्वे रागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैमि मुक्ताः ।।[४]

'विक्रमाङ्कदेवचरितम् में बिल्हण ने अपनी नायिका की दंत पंक्ति को रसस्वती की "स्फटि-मालिका" का स्वरूप कहकर दाँतों की स्वच्छता को व्यक्त किया है—

भाति दन्तच्छदेनास्याः स्वच्छा दशनमालिका ।

सरस्वत्यक्षमालेव पूजा पद्मदलांचिता ।।[५]

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त ने नायिका की दंत पक्ति को विद्युत माला के समान बतलाया है—

इयमेव दशनपंक्ती रुचिराचिरकान्तिदामसमकांतिः ।

उत्पादयति नितान्तं तव मन्मथदाहवेदना पुसाम् ।।[६]

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—मतिराम सतसई—छन्द ३४७

२. देव ग्रन्थावली—भावविलास—पाँचवाँ विलास—कवित्त ६४, पृष्ठ १२५

३. नैषधचरितम्—सप्तम सर्ग—श्लोक ४४

४. वही „ „ „ ४६

५. विक्रमाकदेवचरितम्—आठवाँ सर्ग—श्लोक ६९

६. कुट्टनीमत—श्लोक ४७ (अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार)

इस प्रकार संस्कृत कवियों ने कान्ति की बूँदें, मोती, स्फटिक-मालिका विद्युत-माला—इन उपमानों को दाँतों के लिए ग्रहण किया है। तथा इन्हीं के माध्यम से स्वच्छता विशेषण को।

रीतिकालीन काव्यों के विधु-बिम्ब, दामिनी, मोती—ये समस्त उपमान संस्कृत कवियों से प्रभावित हैं, कुन्द की कल्पना सम्भवतया इन कवियों की अपनी सूझ है। स्वच्छता के साथ उज्ज्वल विशेषण दोनों भाषाओं के कवियों के वर्णन में व्यंजित हो रहे हैं।

दाँतों के उपमानों के विषय में अब स्पष्ट हो जाता है कि इनके कुछ उपमान तो स्वयं के हो सकते हैं किन्तु अधिकतर ऐसे हैं जो संस्कृत कवियों से प्रभावित होकर अंकित किये गये हैं। हाँ इन कवियों के वर्णनों के भावों का निर्माण सुन्दर और कौशलपूर्ण है।

कपोल

कपोलों की बनावट सौन्दर्य में अधिक से अधिक वृद्धि कर देती है। ये गोलाई में ढले हुए तो सुन्दर होते ही हैं साथ ही हृदय स्थित भाव भी कपोलों द्वारा व्यक्त हो जाते हैं—जैसे किसी नायिका का स्पर्श करने पर उसके कपोल सहसा लज्जा से लाल पड़ जाते हैं। अतः कवियों ने कपोलों का वर्णन करते हुये इन्हें भी अनेक उपमानों द्वारा विभूषित किया है। बिहारी की नायिका के कपोलों पर लगी गुलाब की पाँखुरी को देखकर नायक कल्पना करता है कि गुलाब की पंखुरी का रंग, गंध, सुकुमारता सभी कपोलों के समान हैं—इसीलिये कपोलों और गुलाब की पाँखुरी में भेद करना कठिन ही लगता है—

बरन, बास, सुकुमारता, सब बिधि रही समाइ।
पँखुरी लगी गुलाब की, गात न जानी जाइ॥[1]

मतिराम की नायिका के अमल कपोलों की झलक अनुपम दीप के रूप में ही झलकती है। यही तो कपोलों का वैशिष्ट्य है, जिससे जवानी की झलक मिलती है—

अमल कपोलनि की झलक, झलकति दीप अनूप॥[2]

झिलमिलाते हुए नायिका के मुख पर कपोलों की लालिमा मतिराम के नायक के दृगों की प्यास जागृत कर देती है—

तरनि-किरनि चलमलतिमुख लालीललित कपोल।
प्यास जगावति दृगनि में प्यासी बाल अमोल॥[3]

---

१ बिहारी रत्नाकर—छन्द ६९४
२ मतिराम सतसई—छन्द ११९
३ वही, छन्द ५४

एक दृश्य यह भी दर्शनीय है जबकि नायिका के उज्ज्वल हँसी से विकसित कपोलों पर ताटंक के छोटे-छोटे हीरकणो की प्रतिच्छाया चमक रही है–

मुसकानि अमल कपोलनि में रुचिवन्द,
चमकें तरयोननि की रुचिर चुनीन के ॥[1]

गोल कपोलों को कवि ने सुन्दर रूप में व्यक्त किया है, जबकि नायक प्यारी के 'गोल कपोलो" का चुम्बन कर लेता है–

"चूमत प्यारी के मधुर विहँसत गोल कपोल ॥"[2]

देव की नायिका के लज्जापूर्ण लोल कपोलो में झलकता हुआ जल दीप की झाँई के समान प्रतीत होता है –

लाज ते लोल कपोलनि में झलक्यो जल दीपति दीपकी झाँई ॥[3]

देव ने अन्य अंगों के लिये क्रमश: प्रयुक्त उपमानों मे कपोल को "कनक पत्र" तुल्य स्वीकार किया है ।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियों के वर्णनो के अनुसार–गुलाब की पाँखुरी, अनुपम दीपक, दीप की झाँई, ये उपमान हैं और सुकुमारता, सौन्दर्य की झलक, लालिमा, गोलाई तथा लज्जायुक्त सौन्दर्य आदि विशेषतायें हैं ।

साहित्यदर्पणकार ने दो सखियो की बात-चीत द्वारा भावावेश में कपोलों पर आई कँपकँपी का चित्रण करते हुये बतलाया है कि सुन्दरी इसलिये घमण्ड में है कि उसके गालों पर प्रिय की पत्र रचना पड़ी है, इसे देखकर एक सखी दूसरी सुन्दरी से कहती है कि दूसरी के भाग्य में भी यह सब कुछ लिखा है किन्त भावावेश में उसके कपोल पर कँपकँपी उत्पन्न होती है और परिणामस्वरूप प्रिय पत्र रचना नही कर पाता–

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मंजरीति ।
अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥[5]

स्पर्श द्वारा कपोल लज्जा एवं सात्त्विक भावों के कारण स्वेद विन्दुओं से युक्त हो जाते हैं–

---

१ मतिराम ग्रन्थावली–रसराज–छन्द ३१
२. वही, छन्द ५७
३. देव ग्रन्थावली–भावविलास–प्रथम विलास–छन्द ८, पृ० ६४
४. वही, पाँचवाँ विलास–छन्द ६४, पृ० १२५
५. साहित्य दर्पण–तृतीय: परिच्छेद : मद–(२०) कारिका १०५–नीचे का उदाहरण

कपोलो घर्माद्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषय ।[1]

रसमजरीकार ने नायिका के कपोलो पर विराजित "तरलद्युति" का उल्लेख कर कपोल सम्बन्धी विशेषण प्रस्तुत किया है–

"शश्वत्पार्श्वविवर्तिताञ्चलतिक लोलत्कपोलद्युति ॥"[2]

एक स्थान पर प्रिय विरह मे चिन्तित नायिका के पीले कपोलो की सज्ञा पलाण्डु से दी है–

"किंचित्पक्वपलाण्डुपाण्डुररुचि धत्ते कपोलस्थली ॥"[3]

यहाँ प्रिय के अभाव मे नायिका के कपोल की तुलना पत्र से की गई है किन्तु तुलना के लिए पीले पत्र को लिया है। अत इसके लिए विशेष रूप से यह बात कह-कर निराकरण किया जा सकता है कि प्रिय के अभाव मे कपोल का पीला पड जाना स्वाभाविक ही है। इस समय दी गई ताल के पत्ते से उपमा सार्थक ही है –

"सुदृश कपोलपाली शिव शिव तालीदलद्युतिलभते ॥"[4]

उपर्युक्त उदाहरणो के अनुसार कपोल के उपमान रूप में ताल पत्र एव विशेषण रूप मे "तरल द्युति", पीलापन, सात्विक भाव जन्य स्वेद बिन्दु युक्त शोभा तथा प्रसाधन रूप मे पत्र-रचना आते हैं।

रीतिकालीन कवियो के कपोलो के प्रति उपमान गुलाब की पाँखुरी, दीपक की झाँई, दीपक–ये सम्भवतया मौलिक ही हैं एव सार्थक रूप भी लिए हुए हैं। गुलाब की पाँखुरी से तो किंचित् अरुण, स्वेत का मिश्रण अर्थात् अपार सौन्दर्य का आभास होता है, दीपक और दीपक की झाँई से तरल द्युति प्रकट हो जाती है। अत ये सभी उपमान सार्थक हैं एव मौलिकता लिये हुए हैं। विशेषणो का जहाँ तक प्रश्न है, वे भी रीतिकालीन कवियो के सुन्दर बन पड़े हैं। देव द्वारा ग्रहीत "पत्र" का उपमान संस्कृत कवियो से मिलता-जुलता है। रीतिकालीन कवियो ने जहाँ कपोल के लिये लालिमा एव गोलाई का विशेषण सार्थक रूप मे चुना वहीं संस्कृत कवि का "तरलद्युति" विशेषण भी सुन्दर बन पडा है। अत. प्रभावित होते हुए भी रीतिकालीन कवियों की कपोलों के वर्णनो में उद्भावनायें पूर्ण रूप से मौलिक हैं।

इस प्रकार कपोल वर्णन मे रीतिकालीन कवियो ने अपनी जिस रुचि का

---

१ साहित्य दर्पण–तृतीय परिच्छेद – सूत्र १३९ के नीचे का उदाहरण, पृ० २०२

२ रसमजरी (भानुदत्त मिश्र विरचिता) अनु० गोपालशास्त्री व बदरीनाथ शर्मा
उदाहरण परकीया वासक सज्जा, सख्या ६८, पृ० ७२

३ वही, पृ० ६५

४ रसमजरी-श्लोक २७, पृ० ३२

परिचय दिया, वह संस्कृत कवियों में प्राय: दिखाई ही नही पड़ती । यद्यपि अन्य अंगों के साथ ही कपोलों का वर्णन भी अनिवार्य है क्योंकि मुख को वही तो सुन्दर बनाते हैं । कपोल का आकार प्रकार ठीक होने पर ही तो मुख सुन्दर लगेगा अथवा कपोल की गढ़न सीधी होने पर मुख का आकार किसी भी प्रकार ठीक नही लग सकता । रीतिकालीन कवियों ने इसी तथ्य को जानकर स्यात् कपोलो का सुरुचिपूर्ण चित्रण किया है । तभी तो विशेषण भी स्वाभाविक और सुन्दर बन पड़े है ।

मुख

रूप के वैभव मे मुख सर्वप्रथम होता है । अत: उसकी बनावट एव गुराई तथा सुकुमारता पर कवि समाज अत्यन्त ही आकर्षित होकर मानो बल खा जाता है । तभी तो माधुर्य पूर्ण मुख की कान्ति के सबसे अधिक चित्र उभरकर सामने आते हैं । प्रेमी और प्रेमिका के सर्वप्रथम परस्पर दर्शन मे मुख ही आकर्षण का केन्द्र बनता है । हमारे हृदय में स्थित भाव भी मुख पर अंकित रेखाओ द्वारा सहज ही पढ़े जा सकते हैं । मुख कान्ति से प्रभावित होकर पूर्ण चन्द्रमा तो पूर्व से ही साहित्यिक बन्धुओं ने मानो अपना ही लिया है, तभी तो अनेक स्थानो पर "चन्द्र मुख" अथवा "चन्द्रमा के समान मुख" की बात सहज ही कह दी जाती है । अत: अब एक बात और भी ध्यान में आती है कि जिस प्रकार चन्द्र की सहज रूप मे विकीर्ण चाँदनी से समस्त धरा प्रसन्नता और शीतलता का अनुभव करती है उसी प्रकार प्रिया और प्रिय एक दूसरे का मुख अवलोकन कर प्रसन्नता के साथ ही नयनो मे शीतलता का अनुभव भी करते हैं । संस्कृत काव्यों से अब तक मुख के अनेक चित्र सामने आते हैं । रीतिकालीन कवियों ने भी यत्र तत्र मुख के वर्णन को सहज रुचि के साथ ग्रहण किया है । आचार्य केशव ने–अमल मुकुर, कोमल कमल तथा चारु चन्द्र–इन पूर्ण परम्परा से प्रचलित उपमानों को ही ग्रहण किया है । इन्ही को रीतिकाल के अन्य कवियों ने अपनाया है ।[1] बिहारी ने अपनी नायिका के मुख की उपमा पूर्ण चन्द्र से देकर अतिशयोक्ति के माध्यम से मुख-कान्ति का वर्णन किया है । नायिका के मुख के कारण उसके आस पास के घरों मे "नित प्रति पूनो" रहने का तात्पर्य यही है कि नायिका का मुख पूर्ण चन्द्र के समान गोलाकार एव प्रभायुक्त है–

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास ।
नित प्रति पूनो ही रहै, आनन ओप उजास ।।[2]

यहाँ नायिका के मुख के लिए पूर्ण चन्द्र को उपमान और चन्द्र कान्ति को मुख कान्ति का विशेषण बनाया हैं ।

---

१. केशव ग्रन्थावली–सम्पा० : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कविप्रिया–छन्द ७२

२. बिहारी रत्नाकर–छन्द ७३

एक स्थान पर दूती नायिका की मुख छवि का वर्णन करती हुई नायक को समझती है कि सूर्य के उदित हो जाने पर चकोर प्रसन्न मन से नायिका के मुख की ओर ही देखता है। वह उसके उस मुख की ओर देखता रहता है जिसमें सौन्दर्य की सीमा है। कवि का यहाँ भी यही तात्पर्य है कि नायिका का मुख चन्द्र के समान है क्योंकि चकोर नायिका के मुख को चन्द्र समझकर ही देखता है—

सूर उदित हूँ मुदित मन, मुख सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तैं, निहचल चखनु चकोर ॥[1]

मतिराम ने नायिका के मुख की छवि मे प्रफुल्लता, सहज रुचि और उज्ज्वलता इन तीन गुणो का वर्णन किया है। नायिका के मुख की समानता प्राप्त न करने के कारण संध्या के समय कमल भी अपना मुख छिपा लेते हैं और अपना शीश झुका देते हैं, निशापति अर्थात् चन्द्रमा भी मुख के आगे दिन मे,कुरूप दिखाई देता है, दर्पन का भी दर्प समाप्त हो गया, मुकुर भी रूप देखकर मुकर गया इसीलिए वह भी मुकुर कहलाने लगा। इस प्रकार नायिका के मुख के समान ब्रह्मा ने दर्पण को भी नहीं बनाया। कवि ने यहाँ निरुक्ति के माध्यम मे मुख के लिए कमल, चन्द्रमा, दर्पण अथवा मुकुर—इन उपमानो अथवा रूपकों को व्यक्त कर दिया है। वर्णन निस्सन्देह सुन्दर और स्वतन्त्र बन पड़ा है, यथा—

ह्वै कै डहडहे दिन समता के पायँ बिन,
साँझ सरसिजनि सरमि सिर नायो है,
निसा भरि निसापति करि कै उपाय बिन
पाएँ रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है॥
कहै मतिराम तेरे बदन बराबरि को
आदरस बिमल बिरंचि न बनायो है।
दरप न रह्यो ताते दरपन कहियत,
मुकर परत ताते मुकुर कहायो है॥[2]

मतिराम ने नायिका के मुख को शृंगार रस की लतिका को अभिवर्धित करने आलबाल ही बना दिया। अर्थात् यहाँ मुख के लिए यह बात व्यंजित की गई है कि शृंगार की उत्पत्ति ही मानों नायिका के मुख द्वारा होती है—

बदन सिंगार-रस बेलि आलबाल भो।[3]

---

१ बिहारी रत्नाकर—छन्द २५८
२ मतिराम ग्रन्थावली—ललितललाम—छन्द ३८६
३ वही, रसराज—छन्द १५

यहाँ कवि ने "सिंगाररस-वेलिआलवाल" कहकर नायिका के मुख के लिए नवीन उपमानों द्वारा मुख की उज्ज्वलता, प्रसन्नता एवं सहज ललक का उल्लेख किया है।

मतिराम ने मुख के लिए अरविन्द और इन्दु-उपमानों को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

निसि नियराति निहारियति, इनको मुख अरविन्दु।
सखी एक यह देखियत, तेरोई मुख इन्दु ॥[1]

देव ने मुख के लिये स्थान-स्थान पर चन्द्रमा को ही उपमान का आधार वनाया है क्योंकि देव का नायक जिस वालवधू को अपनी छाती से लगाता है उसका मुख भी विधु अर्थात् चन्द्र के ही समान है—यथा—

"वालवधू विधु सोमुख चूमि लला छलसो छतियाँ सों लगाई।"[2]

कवि ने आगे भी उपमेयोपमा के द्वारा नायिका के मुख की कान्ति को पूर्णिमा की चन्द्रिका के समान वतलाकर पुनः आनन की उपमा चन्द्र से दी है, अर्थात् मुख-कान्ति के लिए पूर्णिमा की चन्द्रिका और मुख के लिए कवि ने चन्द्र को लिया है, यथा—

पूरनमासी सी तू उजरी अरु तोसी उज्यारी है पूरनमासी।
तेरो सो आनन चंद लसै तुव आनन में सखि चन्द समासी ॥[3]

विरहिणी नायिका की विरह जन्य मुख की पाण्डुता ऐसी दिखाई देती है जैसे चन्द्र मण्डल पर चन्दन चढ़ा दिया गया हो। निस्सन्देह यह वर्णन अतीव ही माधुर्य पूर्ण वन पड़ा है क्योंकि विरह में मुख पर "पाण्डुता" होने के कारण यहाँ ध्वनि यह निकलती है कि नायिका के मुख का लावण्य ज्यों का त्यों वना हुआ है तथा पीले मुख की चन्दन चढ़े चन्द्रमा से उपमा तो वहुत ही सार्थक और रमणीय है जिससे मुख की उज्ज्वलता का स्वतः ही आभास हो जाता है—

लोनो मुख मण्डल पै पण्डुल प्रकास प्यारी
जैसे चन्द मण्डल पै चन्दन चढ़ाइयत ॥[4]

पद्माकर ने नायिका के मुख रूपी शरीर को सुधा सहित स्थिर कहकर शरद के चन्द्र को उसके समक्ष व्यर्थ कहा है—

सुधा-सहित मुख-ससि लख्यो वृथा सरद को चन्द।[5]

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—सतसई—छन्द १७०
२. देव ग्रन्थावली—भावविलास—द्वितीय विलास—छन्द ८, पृ० ६४
३. वही, पाँचवाँ विलास—छन्द १०, पृ० ११६
४. वही, रसविलास—छन्द ४८, पृ० २२५
५. पद्माकर ग्रन्थावली—पद्माभरण—दोहा ३७, पृ० ३७

आगे पद्माकर ने "मुख को सरसिज"[1] कहा है।

पद्माकर की चन्द्रमुखी नायिका चाँदनी में अपने प्रिय से मिलने के चल पड़ी है। अपने मुख चन्द्र से चन्द्र की चाँदनी को मन्द करती हुई प्रिय मिलन के लिए जा रही है–

सजि व्रजचन्द पै चली यों मुख चन्द जाको।
चंद चाँदनी को मुख मन्द सो करत जात ॥[2]

पद्माकर ने अंगदीप्ति का वर्णन करते समय मुख रूपी चंद की चाँदनी को लेकर मुख की उत्कट कान्ति का वर्णन किया है। अथवा यह कहा जा सकता है कि मुख के लिये चन्द्र का उपमान लेकर मुखकान्ति को चन्द्रिका के समान बतलाया है—

चकचकी चारु मुखचंद-चाँदनी को चितै।
चुग चहुँ ओरन चकोरन की क्वै रहे ॥[3]

मुख के लिए चन्द्र की उपमा तो अत्यन्त प्राचीन है, संस्कृत कवियों ने स्थान स्थान मुख का उपमान प्रस्तुत करते समय चन्द्रमा को अवश्य ही लिया है। अतः चन्द्र विषयक भानुदत्त के विरही की यह उक्ति कितनी सुन्दर बन पड़ी है। वह अपनी प्रिया के मुख के समक्ष चन्द्र को भी तुच्छ समझता है, क्योंकि प्रिया का मुख अद्वितीय है—कहने का तात्पर्य यह है कि चन्द्र को प्रिया के मुख के उपमान स्वरूप ग्रहण किया है, यथा–

किं रे विधो ! मृगदृशो मुखमद्वितीय ।[4]

आलोच्य कवियों के अतिरिक्त कवि नृपशम्भु का राधा का मुख सम्बन्धी भावपरक चित्रण भी दर्शनीय है, जिसमें चन्द्र, कमल आदि प्रतीकों का परम्परागत प्रयोग होते हुए भी वर्णन कितना गतिशील तथा लावण्य पूर्ण बन पड़ा है –

राधिका के आनन को बरनत कहा कीजै,
देखि नैन जीजे जो जुड़ावै सींची सुधाझर।
सम्भुराज ब्रजराज प्रान को अधार ताको–
पावै कौन पार सोबखानै सोभा कौन बर।
सहसन कोटि जोति ओटि कै इकट्ठे कियो–
कैधौं चतुरानन समेत दियोबर दूर।

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली–दोहा ३९, पृ० ३७
२ वही, जगद्विनोद–छन्द २४५, पृ० १३३
३ वही, प्रकीर्णक–छन्द ४२–पृ० ३१४–३१५
४ रसमंजरी–(भानुदत्त विरचित) हिन्दी व्याख्या बदरीनाथ शर्मा तथा जगन्नाथ पाठक, उदाहरण १३१, पृ० १३२

फैलपट मंजु पर प्रफुल्लित कज–
कर्यों वसि रह्यो ससिआइ कंचन की वेलि पर ॥[1]

कालिदास ने अपनी नायिका पार्वती का रूप चित्रण करते समय मुख के लिए चन्द्रमा और कमल दो उपमानों को ग्रहण किया है–

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्यलोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवापलक्ष्मी: ॥[2]

अश्वघोष ने भी अपनी नायिका सुन्दरी के मुख का वर्णन करते हुए कहा है–जो तमाल पत्र से युक्त था, जिसके ओठ ताम्रवर्ण के थे और जिसकी आँखें चंचल और लम्बी थीं, ऐसा सुन्दरी का मुख उस कमल के समान शोभित हुआ जो क्रमशः शैवाल से युक्त हो, जिसका अग्रभाग लाल हो और जिस पर भौंरे वैठे हुए हो। तात्पर्य यह है कि कवि ने यहाँ मुख के लिए कमल का उपमान चुना है–

तस्या मुखं तत्सतमालपत्र
ताम्राधरोष्ठं चिकुरायताक्षं ।
रक्ताधिकाग्रं पतितद्विरेफं
सशैवलं पद्ममिवावभासे ॥[3]

नैषधकार श्रीहर्ष ने नायिका दमयन्ती के मुख के निर्माण में ब्रह्मा द्वारा "चन्द्र विम्ब" का सार निकालने की कल्पना कर उसके मुख के लिए 'चन्द्र विम्ब' की कल्पना की है–

हृदसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनायवेधसा ।
कृतमध्यविलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥[4]

इत्थं संस्कृत कवियों ने मुख के लिए विशेष रूप से चन्द्रमा, और कमल, चन्द्रविम्ब को ही उपमान स्वरूप में ग्रहण किया, जिससे विशेषण रूप मे चन्द्रकान्ति और कमलों के समान लालिमा तथा सौन्दर्य ये दो विशेषतायें अनायास ही व्यंजित हो जाती हैं।

रीतिकालीन कवियों के भी मुख सम्बन्धी उपमान पूर्ण चन्द्र, कमल और दर्पण तथा "सिंगाररसवेलि-आलवाल" तथा विरह मे "चन्दन चढ़ा चन्द्रमा"–ही विशेष उल्लेखनीय हैं। मुख कान्ति के लिए चाँदनी को ही ग्रहण किया है। विशेषताओं के निमित्त कान्ति, विरही मुख के लिए 'पाण्डुता', उज्ज्वलता, प्रसन्नता,

---

१. नखशिख–नृपशंभु–छन्द ६३
२. कुमारसम्भव–प्रथम सर्ग–श्लोक ४३
३. सौन्दरनन्द–सम्पा० : सूर्यनारायण चौधरी–चतुर्थ सर्ग–श्लोक २१ (प्र० सं०)
४. नैषधचरित–सर्ग दूसरा–श्लोक २५, पृष्ठ ३४

कोमलता इत्यादि को ही लिया गया है।

परीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन कवियों के अधिकतर उपमान संस्कृत कवियों के उपमानों से प्रभावित होकर अंकित किये गए हैं। कमल और चन्द्रमा ये उपमान तो निस्सन्देह घिसे पिटे उपमान हैं तथा मुख कान्ति के लिए 'चाँदनी' भी परम्परा द्वारा ग्रहीत है। विशेषतायें भी पूर्व संस्कृत कवियों से प्रभावित होकर ही व्यक्त हुई हैं। किन्तु 'सिंगार रस बेलि' एवं दर्पण—ये दोनों उपमान सर्वथा नवीन ही हैं। इसके अतिरिक्त 'सिंगाररस बेलि' में जिस माधुर्य तत्व का आभास हो रहा है, वह निस्सन्देह अनुपम है। विरही मुख का 'पाण्डुता' विशेषण बड़ा ही रमणीय है। जिस ढंग से इसका कथन हुआ, वह भी अपूर्व है क्योंकि नायिका के लोने मुख पर पाण्डुल का प्रकाश, चन्द्र मण्डल पर चढ़े चन्दन की कल्पना को लेकर मनोरम रूप में अंकित है।

इस प्रकार हिन्दी के इन कवियों ने कुछ वर्णनों को तो मुख के रूप में परम्परा से ग्रहण किया और कुछ को स्वयं की सूझ के अनुसार प्रस्तुत किया। जो भी उपमान इन्होंने स्वीकार किए, वे युग की नवीनता के द्योतक हैं तथा जिस ढंग से वर्णनों में वे गढ़े गये हैं, वहाँ उनकी शोभा अद्वितीय बन पड़ी है, जिससे एक क्षण के लिए वे रसिकों को अपार रस प्रदान करते हुए दृष्टिगत होते हैं। उदाहरणार्थ बिहारी ने नायिका के घर के चारों ओर नायिका के आनन द्वारा पूर्णिमा की कल्पना कर कथन को अधिक रमणीय बना दिया है जबकि संस्कृत कवि मुख का वर्णन उन्हीं परम्परा से प्रचलित उपमानों के साथ उतनी सरसता के साथ नहीं कर पाये जितनी कि रीतिकालीन कवि। अतः स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियों के वर्णन युग के अनुसार नवीनता को लिए हुए हैं और उसी नवीनता के साथ मनोरम रूप में उनकी अभिव्यक्ति भी हुई है।

केश

नारी के लावण्य को द्विगुणित करने के लिए केश सौन्दर्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, तभी तो शृंगार के अन्य प्रसाधनों के साथ-साथ केश प्रसाधन को बहुत ही आवश्यक माना गया है। सहज रूप में घन श्याम, स्निग्ध, लम्बे तथा कुटिल केशों को नायिका के शुभ लक्षणों में स्वीकार किया जाता है। इसीलिये साहित्य में 'केश-पाश' की उक्ति प्रसिद्ध है। यही कारण है कि शरीर के अन्य अंगों की भाँति केशों पर भी कवियों की दृष्टि अत्यन्त मुग्ध होकर पड़ी है। क्योंकि जिस कवि ने अपनी नायिका के अन्य अंगों की रमणीयता का वर्णन किया वहाँ केशों की रमणीयता ने भी उसे कम प्रभावित नहीं किया। इसीलिए केशों में विराजित दीर्घता, कुटिलता,

मार्दव, नैविड्य और नीलता[1] आदि गुणों पर अनायास ही कवि दृष्टि पहुँच जाती है। रीतिकाल में केशों के अनेक गण और उपमान प्रस्तुत किये गये है। जिनमे मुख्य रूप से भौर, चौर, सैंवाल, तम, यमुना का जल तथा मोर पक्ष इत्यादि हैं। कवि केशव ने इन्ही की गणना की है -

भौर चौंर सैंबाल तमु जमुना को जलु मेहु।
मोरपक्ष सम वरनियै 'केसव' सहित सनेहु ॥७४॥[2]

विहारी द्वारा वर्णित एक साथ ही अपनी नायिका के केशों की विशेपताएँ स्निग्ध, सुन्दर ग्रन्थ युक्त, सुकोमल तथा कृष्ण वर्णी हैं। वे जब सुन्दरी के मुख पर विखर जाते हैं तो प्रिय का मन अवैर्य रञ्जित हो जाता है। इसीलिए तो उसमें उचित-अनुचित का भेद नही रहता-

सहज सुचिक्कन स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।
गनतु न मनु पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार ॥[3]

विहारी की केश विशक यह उक्ति सुन्दर बन पड़ी है, क्योंकि काले केशों की स्निग्धता, तरलता, सुगन्धि तथा श्यामलता ये सभी रमणियों के सौन्दर्य वृद्धि के साधन हैं।

विहारी ने एक स्थान पर अपनी उक्ति द्वारा व्यजित किया है कि केशों का आकर्पण प्रत्येक अवस्था मे होता है-चाहे वे वन्धनयुक्त हो अथवा वन्धनमुक्त। तभी तो विहारी ने मनुष्यों द्वारा बिखरे केश निहारने पर उन्हें संसार के वन्धनमुक्त और वँधने पर सभी लोगो को बाँधने की कल्पना की है-

छुटैं छुटावत जगत तैं सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत वेनी वँधे, नील, छवीले वार ॥[4]

मतिराम ने बाल को वेलि के तूल के समान कहकर उसके केशों को भ्रमरों की भीर बतलाकर केशों की कालिमा के लिए भ्रमर उपमान और सघनता के लिए भ्रमरों की भीड़ को ग्रहण किया है। यथा-

भौर भीर वर वार हैं बाल वेलि के तूल।[5]

---

१. केशस्य दीर्घकौटिल्यमृदुनैविड्यनीलताः।
केशव मिश्र कृत अलंकार-शेखर-सम्पा० : अनन्तरामशास्त्री वेताल
पृष्ठ ५२, (सं० १९२७ ई०)
२. केशव ग्रन्थावली-कवि प्रिया-छन्द ७४
३. विहारी रत्नाकर-छन्द ९५
४. वही, -छन्द ५७३
५. मतिराम सतसई-छन्द ५०४

कवि देव ने मद्य स्नाता की अलकों का भावपरक सौन्दर्य अत्यन्त ही चित्रात्मक ढग से उपस्थित किया है। अलको मे झरती हुई बूंदो से नायिका के मुख की शोभा बिन्दी के बिना भी अत्यन्त विकसित हो रही है–

टूटी अलकनि छलकनि जल बूंदन की
बिना बेंदी वदन वदन सोभा विकसी ॥

देव का यह वर्णन यद्यपि परम्परित उपमानो मे बँधा हुआ नही है किन्तु भावना के रग मे रगा होने के कारण उनकी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र दृष्टि का परिचायक है।

पद्माकर ने अपनी नायिका के केशो की एक साथ कई उपमायें ली हैं– घन, तम, तार, अजन अनुहार, अलि, अमावस रैन इतने उपमान केशो के लिए आ गये हैं, यथा––

घन से तम से तार से अजन की अनुहार।
अलिसे मावस रैन से बाला तेरे बार ॥[1]

देव ने बालो के लिए 'दीर्घता' का विशेषण लेकर ही वर्णन मे अन्य अगों को ले लिया है, यथा–

"बडे बडे बारन तें हारनि के भारनितें
याकी सुकुमारि अग स्वेद रग धोति है ॥"[2]

कई अगो के एक साथ वर्णन में देव ने केशो के लिए 'कुहुतम अर्थात् अमावस्या का अधकार' उपमान लिया है जिससे केशो की अतिकालिमा का आभास होता है।[3]

देव ने एक स्थान पर पुन उपमेयोपमा के द्वारा केशो की वेणी को श्याम अमा के समान बताकर केशो की सघन कालिमा को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया। यथा-

तेरी सी बेनी है स्याम अमा अरु तेरीयै बेनी है स्याम अमासी ॥[4]

आलोच्य कवियो के अतिरिक्त रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने नायिका के केशों का वर्णन करते हुए अपनी रसात्मक चेतना, मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है, उदाहरण के लिए प्रस्तुत छन्द दृष्टव्य है जिसमे उन्होंने अपनी प्रेयसी के सहज स्निग्ध केशो का चित्राकन किया है–

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली–पद्माभरण–दोहा २३
२ देव ग्रन्थावली–भावविलास–द्वितीय विलास–छन्द ३४, पृष्ठ ६८
३. वही ,, –पाचवाँ विलास –छन्द ६४, पृष्ठ १२५
४ वही, छन्द १०, पृष्ठ ११६

चीकने चिहुर नीक आननि वियुरि रहे
कहा कहौं सोभा भाग भरे भाल सीस की ।
० ० ० ०
मानो घन आनन्द सिंगार रस सों संवारी
चिक में विलोकति वहनि रजनीस की ।।[1]

संस्कृत कवि कालिदास ने केशों के विषय में चँवेरी गौओं के केशों को लिया है । अर्थात् कवि के कथन का तात्पर्य है कि पार्वती के केशपाश को देखकर चँवरी गौएँ अपने केश सम्बन्धी सौन्दर्य के प्रेम को त्याग देती हैं । यथा–

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यात्
असंगय पर्वत राजपुत्रया: ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्यु–
वलिप्रियत्वं शिथिलम् चमर्य: ।।[2]

नैषधकार श्रीहर्ष ने केशों की उपमा मयूर पक्ष से दी है । यथा–

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितवर्हगर्हण: ।।[3]

इसका तात्पर्य यह है कि दमयन्ती के केश-कलाप से तिरस्कृत पूँछवाला मयूर कार्तिकेय की सेवा करता है । अर्थात् यहाँ मयूर पुच्छ को ही केश उपमान के लिए चुना गया है ।

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त ने केशों के लिए 'धूमवर्ती' उपमान लिया है । अत: विकराला के माध्यम से कवि मालती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ केशों के सम्बन्ध में कहता है कि–

अयमेव दह्यमानस्मरनिर्गतधूमवर्तिकाकार:
चिकुरभरस्तव सुन्दरि कामिजन किंकरी कुरुते ।।[4]

संस्कृत कवियों के यहाँ केशों के लिए उपमान रूप में चँवरी गाय का केश पाश, मयूर, पक्ष, धूमवर्ति तथा अलंकार शेखरकार के अनुसार तम, शैवाल, मेघ, वर्ह, भ्रमर, चममर, यमुनावीचि, नीलमणि, नीलकमल और आकाश–ये आये हैं ।[5] केशों के लम्बेपन की विशेषता तथा धूमवर्ति से सुगन्ध की विशेषता ध्वनित हो

---

१. घनानन्द ग्रन्थावली–सुजान हित–सम्पा० : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र छन्द १६६, (सं० २००९)
२. कुमारसम्भव–प्रथम सर्ग–श्लोक ४८, पृष्ठ २५६
३. नैषधचरित–द्वितीय सर्ग–श्लोक ३३, पृष्ठ ३६
४. कुट्टनीमतं काव्यम्–श्लोक संख्या ४४, पृष्ठ ९ (अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार)
५. अलंकार शेखर–सम्पा० : अनन्तरामशास्त्री वेताल, पृष्ठ ४१ (सं० १९२७ ई०)

रही है।

हिन्दी रीतिकालीन कवियों ने केशों के लिए भ्रमर, घन, तम, तार, अंजन की अनुहार, अलि, मावसरैन, कुहूतम इत्यादि उपमानों का प्रयोग किया है।

संस्कृत और हिन्दी कवियों के इन उपमानों को देखकर स्पष्ट रूप से यह बात कही जा सकती है कि रीतिकालीन कवियों के समस्त उपमान संस्कृत काव्यों से ग्रहण किए गए उपमान ही हैं, इसीलिए यहाँ कोई नवीनता का प्रादुर्भाव नहीं हो सका है। विशेषणों के विषय में भी प्राय यही बात कही जा सकती है, किन्तु बिहारी ने विशेषणों को जिस कौशल से वर्णन करते हुए काव्य में संजोया है, वह वास्तव मे सराहनीय है।

संस्कृत और रीतिकालीन कवियों के इन केश-विषयक उपमानों से स्पष्ट हो जाता है कि चँवरी गाय, तम, तार, कुहूतम इत्यादि उपमानों से नायिका के केशों की दीर्घता व्यंजित होती है, वहीं इनसे उनकी कालिमा का भी पता चल जाता है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार स्निग्ध, सघन, लम्बे तथा काले केश वाली नायिका को सौन्दर्य एवं सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है, इसीलिए रीतिकालीन कवियों के उपमान परम्परायुक्त होते हुए भी सार्थक ही हैं।

स्तन

नारी के रूप-सौन्दर्य के अन्तर्गत स्तनों का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। किशोरी के नवयौवन को प्राप्त होने पर जिस प्रकार अन्य अंग वृद्धि प्राप्त करते हैं उसी प्रकार वक्ष पर स्तनों का बढ़ना भी स्वाभाविक ही है। अतएव कवि समाज की दृष्टि दूसरे अंगों की अपेक्षा स्तनों पर अधिक रम सकी है। उसका कारण यह है कि सभी भावुकों द्वारा स्तनों के दर्शनमात्र से ही उनके हृदय मे एक प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। नायिका के जहाँ अन्य अंगों के प्रति नायक आकर्षित होता है वहाँ स्तनों के ऊपर उसकी दृष्टि सर्वप्रथम पड़ती है और स्तनों का उन्मेष ही उसे मानो सर्वप्रथम यौवन जनित प्रणय का निमन्त्रण देता है। स्तनों के आकार प्रकार की जो रूपरेखा संस्कृत कवियों द्वारा निश्चित की गई, वही रीतिकालीन-कवियों द्वारा अत्यन्त रुचि के साथ ग्रहण की गई है।

बिहारी के नायक की दृष्टि कुचों की पहाड़ी पर चढ़कर अत्यन्त थकित होकर नायिका के मुख की ओर ही चल पड़ती है। कहने का अर्थ यह है कि बिहारी ने यहाँ कुचों के रूपक के लिये 'गिरि' शब्द प्रयोग कर कुचों के औन्नत्य को व्यक्त किया है, यथा–

कुच गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड़।[1]

---

१ बिहारी रत्नाकर–छन्द २६

विहारी ने कुचों की उन्नतता को आगे और भी सजग होकर लिया है जहाँ पर नायिका के कुच रूपी उतुङ्ग पर्वतों पर कामदेव रूपी लुटेरे मैनाओं के निवास की कल्पना की गई है, यथा–

चलन न पावतु निगम मगु, जगु उपज्यौ अतित्रासु।
कुच उतुग गिरिवर गह्यौ, मैना मैनु मवासु॥[1]

मतिराम के भी कुच सम्वन्वी कुछ वर्णन दर्शनीय हैं। कवि ने सर्वप्रथम तो कुचों का वैशिष्ट्य 'पीन' लिया है तो एक स्थान पर "पीन पयोधर-भार"[2] कहकर नायिका के अन्य अंगों का चित्रण करता है।

और सुन्दर उपमान 'कनक कलश' कहकर दिया है। जबकि नायिका अपने प्रिय को सगुन सूचक कनक कलश रूप कान्ति पूर्ण उरोजों को दिखाती है, यथा–

"कनक कलस पनिय भरे, सगुन उरोज दिखाइ॥"[3]

नायिका के कुच तो पाषाण से भी अधिक कठोर होते हैं, इसीलिए उर में पीड़ा उत्पन्न करते हैं–

कुच कठोर पाषान तें, क्यों न करें उर पीर॥[4]

उरोजों की उन्नतता को भी मतिराम ने व्यक्त किया है तभी उरोज रूपी पहाड़ पर चढ़कर उर इठलाता है–

"चढ़े उरोज पहार ए, उर उनके अठलाहि।"[5]

मतिराम ने तरुणी के उरोजों को मैन के निधि कलश वताकर अपनी रुचि को और भी स्पष्ट कर दिया है–

मनो मैन के निधि कलस, तेरे तरुनि उरोज।
चाहत जे तिय पैं इन्हें, वातनि हनत मनोज॥[6]

मतिराम ने उरोजों को मेरु पर्वत के शृंग का उपमान देकर स्तनों के उतुङ्ग होने का उल्लेख किया है, यथा–

अति उतंग उरजनि लसत, चपल मुक्त वर हार।
मनो मेरु विव सृंग ते, गिरत गंग जुग धार[7]।

---

१. विहारी रत्नाकर–छन्द ८७
२. मतिराम सतसई–दोहा १११, पृष्ठ ४४१
३. वही, दोहा १९२ पृष्ठ ४४९
४. वही, दोहा ३७८ पृष्ठ ४६९
५. वही, दोहा ३७७ पृष्ठ ४६९
६. वही, दोहा ५०३
७. वही, दोहा ६३१

कुचों के विषय में देव की दृष्टि कुछ अधिक तीव्र है तभी तो नवोढ़ा के कंचन कला के समान उरोज कुछ उन्नति को प्राप्त होकर अपने चित्त में कुछ सोच रहे हैं अथवा कंचुकी भी कुछ संकुचित होकर सोच रही है--

कंचक, कली से कुच रंचक उचो हैं चित
सोचि रहे सकुचि सकोचि रही कंचुकी ।[1]

कवि देव की नायिका के स्वर्ण के सरोजों के समान कान्तिवान एवं उमंगित उरोज भी दर्शनीय हैं--

सोने के सरोज से उरोज उमगोहं
गोरे अंग में सुहाई देव सूही जरतार की ।[2]

कंचुकी में कसे हुए उरोज भी कम आकर्षित नहीं लगते । यदि सत्य में कहा जाय तो कुचों का आकर्षण कंचुकी में बन्द रहने पर ही अधिक होता है, तभी तो देव की तीक्ष्ण दृष्टि उन तक पहुँच गई--

कंचुकी में कसे कुच कंचन कली से ।
झीने अंचल की ओट झांई रंचक उझकनी ।[3]

देव ने बाला को कामलता कहकर उसके शरीर पर स्थित कुचों को गुच्छ बतलाकर अपनी रुचि का सुन्दर और शिष्ट ढंग में व्यक्त किया--

डोलत है जहँ कामलता सुलची कुच गुच्छ दुरूद्द दुधाकी ।[4]

देव ने एक स्थान पर कुच के लिए क्रमश अंग-प्रत्यंग के वर्णन में 'निम्बू' का उपमान दिया है ।[5]

पद्माकर ने स्तनों को नायिका रूपी कनकलता से उत्पन्न हुए श्रीफल के दो फलों के स्वरूप में स्वीकार किया है । कवि ने अपनी उक्ति, विभावना अलंकार के माध्यम से यहाँ चमत्कारिक ढंग से व्यक्त की है, यथा--

कनकलता तें ऊपजे श्रीफल के फल दोइ ॥[6]

कुचों की कठोरता को कवि ने श्रीफल के समान बतलाकर अपनी उद्‌भावना प्रकट की है, यथा--

"कुच कठोर श्रीफल सरिस, अरुन कमलसे नैन ॥"[7]

---

१ देव ग्रन्थावली-सुमिल विनोद-तृतीय विलास-छन्द २०, पृ० २८२
२ वही-रसविलास-तृतीय विलास-छन्द १२, पृ० १८६
३ वही- द्वितीय विलास-छन्द १८, पृ० १८३
४ वही-भावविलास-पाँचवाँ विलास-छन्द ७५, पृ० १२७
५ देव ग्रन्थावली-भावविलास-पाँचवाँ विलास-छन्द ६४, पृ० १२५
६ पद्माकर ग्रन्थावली-पद्माभरण-दोहा १४०, पृ० ४९
७ वही-दोहा ९, पृ० ३४

नायिका के उरोजों की कठोरता बतलाता हुआ कवि कहता है कि संसार मे काष्ठ से पाषाण की कठोरता कही अधिक होती है किन्तु नायिका के उराज तो पाषाण से भी कठिन है, यथा--

कठिन काठ तें अतिकठिन याजगमें पाषान।
पाषानहु तें कठिन ये तेरे उरज सुजान ॥[1]

आलोच्य कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल के अन्य कवियो ने स्तनों का जो वर्णन किया है, वह परम्परायुक्त ही है। उदाहरणार्थ आचार्य केशव की प्रस्तुत उक्ति दर्शनीय है–

चक्रवाक कुच वरनियै 'केसव' कमल प्रमान।
सिव गिरि घट मठ गुच्छफल सुभ इभ-कुम्भ समान ॥[2]

संस्कृत कवियों में कवि कालिदास ने भी अपनी नायिका पार्वती के रूप चित्रण में स्तनों का वर्णन करते समय उनके दीर्घ और औन्नत्य की कल्पना करते हुए कहा है कि पार्वती के परस्पर सटे हुए साँवले अग्रभाग वाले गौरवर्ण के स्तन इस प्रकार बढ़े हुए थे कि उनके बीच में कमलनाल भी नही रखी जा सकती थी–

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्या:
स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य
मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥[3]

यहाँ स्तनों के दीर्घता, उन्नतता, उज्जवलता इत्यादि विशेषण आये हैं तथा उनके अग्रभाग के लिए साँवला–विशेषण का प्रयोग है।

अश्वघोष ने भी अपनी नायिका सुन्दरी को पीनस्तन रूप उन्नत कमल कोशवाली कहा है–

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा।[4]

नैषधकार ने दमयन्ती के शरीर पर क्रीड़ा करते हुए दोनों स्तनो के विषय मे कल्पना की है कि दमयन्ती के दोनो स्तन उसकी कान्ति के अगाध प्रवाह में तैरने के लिए कामदेव और तारुण्य के दो घड़े हैं, यथा–

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयो: खलु द्वयो: प्लवकम्भौ भवत: कुचावुभौ ॥[5]

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली–पद्माभरण–दोहा१८२, पृ० ५५
२. केशव ग्रन्थावली–कवि प्रिया–छन्द २४
३. कालिदास ग्रन्थावली–कुमारसम्भव–प्रथम सर्ग–श्लोक ४०
४. सौन्दरनन्द–चतुर्थ सर्ग–श्लोक ४
५. नैषधचरितम्–सर्ग·२, श्लोक ३१

नैषधकार ने एक स्थान पर दमयन्ती के कुचों की चर्चा करते हुए उनकी उच्चता के लिए तालवृक्ष और आकार प्रकार के लिए ताल फल तथा पके हुए बिल्व फल से तुलना करते हुए कहा है कि ताल फल अगर पृथ्वी पर न गिरें तभी कुचों के समान हो सकते हैं और तालवृक्ष उन्नत होकर कुचों के समान उन्नत नहीं, तथा बिल्वफल भी दमयन्ती के कुचों की समानता करने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है। इससे अप्रत्यक्ष रूप में कुचों का आकार प्रकार तो तालफल और पके बिल्वफल के समान बतलाया है और उनके औन्नत्य को तालवृक्ष के तुल्य। यथा—

ताल प्रभुस्यादनकर्तुमेनावुत्थानमुस्यौ पतित न तावत्।
पर च नाश्रित्य तरु महान्त कुचौ कृशाङ्ग्या स्वत एवतुङ्गौ॥
कराग्रजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत्।
सर्वंतदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जात वटीमप्यधुना न लब्धुम्॥[1]

कवि बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरितम् के अन्तर्गत चोली को फाड़ देने वाले, अत्यन्त उच्चता तथा काठिन्य से युक्त स्तनों की चर्चा करते हुए उनकी सराहना इस प्रकार की है—

अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि
वन्द्यानि कन्ताकुचमण्डलानि॥[2]

यहाँ स्तनों की विशेषता के लिए 'अत्युन्नत', और 'काठिन्य', तथा मडलानि कहकर गोलाई—इन विशेषणों को लिया गया है—

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त ने अपनी नायिका मालती के रूप गुण की चर्चा के समय स्तनों की विशालता पर बल देते हुए कामदेव का घर बतलाया है, तभी तो उनके रहने से योग साधन व्यर्थ है, यथा—

इदमेव मकरकेतननिकेतन स्तनयुग तवाभाति।
भोगवति भोगसाधनतापरोक्ष पापग्रहो व्यर्थ॥[3]

अलकारशेखरकार ने तो स्तनों की आकृति के रूप में पूगफल, कमल, कमल-कोरक, बिल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुम्भ, पहाड़, कुम्भ, शिव, चक्रवाक्, सौवीर, जम्बीर, बीजपूर, समुद्गच्छोल्ग इत्यादि उपमानों की गणना करते हुए कहा है कि—

पूगाब्जकोरक—बिल्व—ताल गुच्छेभकुम्भाद्रि—घटेशचक्रै।
सौवीर—जम्बीरक बीजपूर समुद्गच्छोल्ग फलैरुरोज॥[1]

---

१ नैषधचरितम्—सर्ग ७, श्लोक ७८, ७९
२ विक्रमाक देवचरितम्—सम्पा० प० विश्वनाथशास्त्री भारद्वाज-सर्ग १, श्लोक १५
३ कुट्टनीमत—अनु० अत्रिदेव विद्यालकार—श्लोक ४९, पृ० ११
१. केशवमिश्रकृत—अलकार शेखर—सम्पा० अनन्तरामशास्त्री वेताल—पृ० ४७ (स० १९२७ ई०)

संस्कृत कवियों के अनुसार कुचों के लिए कमल कोश, कामदेव और तारुण्य के दो घड़े, विल्वफल, तालफल, मकरकेतन-निकेतन, पूगफल, कमल, गुच्छ, हाथी का कुम्भ, पहाड़, शिव, चक्रवाक्, सौवीर, जम्वीर, वीजपूर, समुद्गछोलग इत्यादि उपमान लिये जा सकते है। वैशिष्ट्य के लिए उन्नतता कुचाग्र का सॉवलापन, स्वर्ण-कान्ति, पीनता कठोरता, एक दूसरे से सटापन, दीर्घता, विशालता इत्यादि को लिया जा सकता है–

रीतिकालीन कवियो ने स्तनों के लिये जो उपमान प्रयुक्त किये है उनमें श्रीफल, गुच्छ, नील विम्वफल, मेरुपर्वत, गिरि कनक-कलश, निधि-कलश, कंचनकली, स्वर्ण-सरोज पाषाण आदि प्रमुख रहे हैं। इनके द्वारा उन्होने गोलाई, उन्नतता, उज्ज्वलता, संपन्नता, पुष्टता, कठिनता, सघनता, विशालता आदि गुण-विशेषों से युक्त स्तनों को सौन्दर्यपूर्ण कहा है।

हिन्दी के इन कवियों के लगभग सभी उपमान परम्परा से प्रभावित ही है। कनक कलश का प्रयोग कुछ अधिक प्रभावोत्पादक बन गया है। यही बात कामदेव देव के 'निधिकलश' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। स्वर्ण-सरोज का उपमान भी इन कवियों ने चमत्कार प्रदर्शन के हेतु ही लिया है अन्यथा सरोज से ही समस्त भावों का प्रदर्शन स्वाभाविक रूप में हो सकता है। कचन कलिका का उपमान यहाँ सम्भवतया नवीनता लिए हुए है तथा उसके द्वारा कवि ने उत्कट आकर्षण की ओर संकेत किया है जो निस्सन्देह स्वाभाविक सा बन गया है। विशेषताओं मे रूढ़िगत प्रभाव ही लक्षित हो रहा है क्योंकि उन्नतता और कठोरता को दोनो ही कवियों ने रुचि के अनुसार लिया है। एक स्थान पर पाषाण से भी कठोर वतलाकर कवि ने स्तनों की पीनता के विषय मे अपनी विशेष रुचि का प्रदर्शन किया है।

रीतिकालीन और संस्कृत इन दोनो काव्यों के अन्तर्गत स्तनो के अनेक उपमान और उनकी अनेक विशेषतायें सामने आई है किन्तु सस्कृत कवियो ने अपने अनुभव के आधार पर जिन्हे निर्धारित किया, रीतिकालीन कवियो ने भी उन्हे ही पकड़कर अपने-अपने वर्णनों म सँजो दिया। रीतिकालीन कवियों में भी देव ने स्तनों के वर्णनों में जो रुचि दिखाई वह अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ी है। बिहारी, मतिराम, पद्माकर–के वर्णन तो निस्सन्देह परम्परा से प्रभावित सीधे सादे रूप में अलंकारिता को अधिक प्रदर्शित करते हैं किन्तु देव ने न केवल विशेष रूप से स्तन वर्णन ही किया वल्कि विभिन्न नायिकाओं का चित्रण करते हुए वर्णनों मे अधिक सजीवता का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त कालिदास का वर्णन भी कम नहीं है। उन्होंने नायिका के स्तन के अग्रभाव अर्थात् चचुक की श्यामलता का वर्णन कर अधिक सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया है।

भुजाएँ

नखशिख वर्णन के अन्तर्गत अन्य अंगों के साथ भुजाओं का विशेष महत्त्व होता है। संस्कृत काव्यों में जहाँ नायिका के विविध अंगों का वर्णन हुआ है, वहीं भुजाओं की सुडौलता तथा कोमलता एवं बहुत सी विशेषताओं को ग्रहण करते हुए विभिन्न उपमान प्रयुक्त किये गये हैं। रीतिकालीन कवियों ने भी इन्हीं दृष्टियों से भिन्न भिन्न उपमानों की कल्पना की है। आचार्य केशव ने भुजाओं के वर्णन में विष वल्लरी, मृणाल, रत्न तारका, कुसुमहार इत्यादि उपमानों को परम्परानुसार ही ग्रहण किया है।[1]

आलोच्य कवियों ने भुजाओं का वर्णन नहीं के बराबर ही किया है। यत्र तत्र एकाध वर्णन है भी तो प्रसंगानुसार ही स्वाभाविक रूप में आ गया है। अतः वर्णनों के सन्दर्भ में अनायास ही जो उपमान आये हैं, वे आलोच्य कवियों ने परम्परानुसार ही ग्रहण किये हैं। उदाहरण के लिए पद्माकर का एक चित्र द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने सहज ही 'मृणाल' का उपमान रुचि पूर्वक ग्रहण किया है--

थाई जु बाल गुपाल धरै
ब्रजबाल बिसाल 'मृणाल' सी बाँही।[2]

आलोच्य कवियों के अतिरिक्त कवि रसलीन की नायिका की भुजाओं का वर्णन बड़ा ही भावपरक है तथा किसी उपमान से विभूषित न होते हुए भी अत्यन्त स्वाभाविक है--

छाई चख भाई हिया ल्याई चित की चाय।
भाई भाई भुजन पै साई क्यों न लुभाय॥[3]

यहाँ 'भाई भाई' शब्दों के प्रयोग से कवि ने नायिका की भुजाओं की सुन्दरता तथा सुडौलता को व्यंजित किया है।

कवि भिखारीदास ने भुजा सम्बन्धी विभिन्न उपमाओं को परम्परानुसार ग्रहण कर नायिका के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किया है--

भाई सुहाई खराद चढाई सी, भावती तेरी भुजा छविजाल है।
सोभा सरोवरी तूं है सही तहँ 'दास' कहै ये सरूज मृनाल है।
कंचन की लतिका तूं बनी दुहुँघा ये विचित्र सपल्लव डाल है।
अंग मे तेरे अनंग बसै ठग ताहि के पास की फाँसी बिसाल है॥[4]

---

१ केशव ग्रन्थावली--कवि प्रिया--छन्द २६
२ पद्माकर ग्रन्थावली--जगद्विनोद--छन्द ४५
३ रसलीन ग्रन्थावली--अंग-दर्पण--सम्पा० सुधाकर पाण्डेय, छन्द १०७
४ भिखारीदास ग्रन्थावली--शृंगार निर्णय--सम्पा० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र--छन्द ४० (प्र० सं०)

भिखारीदास का वर्णन तो स्वतन्त्र है किन्तु सकंज मृनाल, सपल्लव डाल तथा अनंग-पाश ये उपमान पुराने ही हैं। इसके अतिरिक्त भिखारीदास के वर्णन की अंतिम पंक्ति की तुलना संस्कृत-काव्य की प्रस्तुत पंक्ति से की जा सकती है–

दयित बाहुपाशस्य कुतोऽयमपरो विधि. ।
जीवयत्यर्पित: कण्ठे मारयत्यपवर्जित: ॥[1]

संस्कृत काव्यों के अन्तर्गत भुजाओं के लिए अनग-पाश, लतिका, मृणाल,[2] कन्दली[3] इत्यादि उपमानो को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। नैषधकार श्री हर्ष ने भी परम्परानुसार नायिका दमयन्ती की भुजा के लिए 'मृणाल' का ही उपमान लिया है–

सदृशी तव शूर ! सा पर जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ॥[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियो ने भुजाओ के लिए विषवल्लरी, सुपाश, रत्नतारका, कुसुमशर, मृणाल, डाल, अनग-पाश इत्यादि उपमानों को ग्रहण किया है। इन उपमानो से ये विशेषतायें मुख्य रूप से दृष्टिगत होती हैं–सुडौलता, सुन्दरता, कोमलता, स्निग्धता इत्यादि।

संस्कृत काव्यों के उपमान क्रमश: ये हैं–अनग-पाश, लतिका, मृणाल, बाहु-कन्दली इत्यादि। इसी प्रकार विशेषण ये हैं-सुडौल, सुन्दर, कोमल, स्निग्ध।

रीतिकाल के अधिकतर उपमान परम्परायुक्त होते हुए भी सार्थक हैं। इनमे भी मृणाल तथा वल्लरी–इन दोनो का प्रचलन अधिक लगता है। किन्तु भुजाओं के सुडौल, सुन्दर, कोमल तथा स्निग्ध गुण को सभी स्वीकार करते है क्योंकि इन गुणों के होने पर ही तो नायिकाओं की भुजायें आकर्षण से युक्त हो सकती हैं। इस बात को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत और रीतिकालीन दोनों कवियो ने स्वीकार किया है। अन्त में कहा जा सकता है कि रीतिकाल में अन्य अंगों की भाँति भुजाओं के उपमान तो पुरातन हैं, किन्तु वर्णन स्वतन्त्र ही हैं।

कटि

यौवन के आगमन पर शरीर के स्तन नितम्ब इत्यादि अंगों की वृद्धि के साथ कटि की क्षीणता से नारी के सौन्दर्य में अत्यन्त अभिवृद्धि होती है। कटि भाग के क्षीण होने के कारण नायिका के शरीर में जो लचक उत्पन्न होती है, वह रसिकों के लिए एक साथ आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। यही कारण है कि कटिप्रदेश की

---

१. सुभाषित रत्न भाण्डागारम्–प्रकरण ६, पृ० २६४ (सा० सं०) छन्द २२४–२२९
२. वही–छन्द २२४–२२९
३. वही–छन्द २३८
४. नैषधचरितम्–सर्ग २, श्लोक २९

क्षीणता पर समस्त कवि समाज रीझता हुआ दिखाई देता है। अतएव संस्कृत कवियों ने जहाँ कमर की क्षीणता को रुचि के साथ ग्रहण किया वही, ये रीतिकालीन कवि उनसे किसी भी प्रकार पीछे नही रहे और उन्होंने यत्र तत्र क्षीणता और सूक्ष्मता के लिए विभिन्न उपमान जुटाने का प्रयास किया। जहाँ उपमान भी नही लिए वहाँ कटि वर्णन मे ऐसा वैशिष्ट्य उत्पन्न कर दिया कि बस दंग ही पड़ना है।

नायिका का यौवन प्रारम्भ होने पर जहाँ नितम्ब और कुचो मे वृद्धि होती है, वहीं कटिप्रदेश क्षीण होता हुआ प्रतीत होता है। अत बिहारी की नायिका के ऊपर यौवन का साम्राज्य होने पर उसकी कटि तो क्षीण होती जाती है और कुचों मे वृद्धि होती जाती है। इस कथन का कवि ने अपने नायक के माध्यम से 'जीवन' का जेठ का महीना और कुचो को दिन तथा कटि को रात्रि कहकर अनुप्रास एव साङ्गरूपक के सहारे स्पष्ट किया है-यथा—

ज्यौं ज्यौं जोवन जेठ-दिन, कुचमिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि छपा, छीन परति नित जाति ॥[1]

नायिका की कटि की क्षीणता को कवि ने और भी अधिक सतर्क होकर ग्रहण करते हुए उसे इतना क्षीण कह दिया है कि कभी तो वह दिखाई पड़ती है और कभी अविद्यमान हो जाती है और कटि की क्षीणता की पूर्ति मानो कुचों और नितम्बों की स्थूलता मे हुई है, यथा——

लगी अनलगी सीजु विधि, करी खरी कटि खीन।
किए मनौं वै ही कसर, कुच नितम्ब अति पीन ॥[2]

मतिराम की नायिका तो अत्यन्त ही नाजुक है, तभी तो वह बाहर आने से डरती है क्योंकि बाहर आने पर बिजन की बयार का थोड़ा ही झोंका लगने पर उसकी लक लचक जाती है। पर कमर की विशेषता नायिका की लचक मे प्रकट की गई है। दूती नायक से नायिका के बाहर न आने का कारण कमर का लचकना ही बतलाती है—

कैसें वह बाललाल बाहर बिजन आवै।
बिजन बयारि लागें लचकत लंक है ॥[3]

मतिराम ने एक स्थान पर लक द्वारा मृगपति को विजित करना कहकर कमर की क्षीणता की उपमा सिंह की कमर से दी है। यथा—

---

१ बिहारी—रत्नाकर छन्द ११२

२ बिहारी रत्नाकर—छन्द ६६४

३ मतिराम ग्रन्थावली—ललितललाम छन्द १२१, पृष्ठ ३७४

मृगपति जित्यो सुलंक सों मृगलच्छनमृदुहास ।[१]

मतिराम की यह नायिका भी कितनी कोमल है और कमर तो उसकी इतनी लचकदार है कि उसके प्रति कवि को शंका ही बनी है कि अपने भार से ही वह टूट न जाय । यथा,

मन जद्यपि अनुरूप है, तऊन छूटत अंक ।
टूट परै निज भारतें निपट पातरी लक ॥[२]

देव ने अंगों के क्रमशः उपमान जुटाते हुए कमर को "मृणाल" के तुल्य स्वीकार किया है ।[३]

देव की नायिका की कमर की लचक भी दर्शनीय है, यथा—

पातरे लक नचै से लचै कर पल्लव वेली ज्यो वाल वनीये ।

कमर के वैशिष्ट्य के लिए उसका पतलापन और लचकीलापन लिया गया है ।

देव की नायिका की कमर समीर के लगने से अन्य सभी अगों के साथ लहक जाती है—

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग ।
फूल से दुकूलनि सुगन्ध विघुर्‌यो परै ॥[४]

कचो के भार से पद्‌माकर की नायिका की लक लौद के समान लचक उठती है—

लौद सी लंक लचै कचभार सँभारत चूनरी चारु सुकैची ॥[५]

पद्‌माकर ने यहाँ कमर की लचक के लिए "लौद" अर्थात् वृक्ष की सद्यः छिन्न की गई शाखा को लिया है । यहाँ तक की क्षीणता का स्वतः ही आभास हो रहा है ।

पद्‌माकर ने कटि की क्षीणता को लेकर उसे अत्यल्प वतलाते हुए कहा है कि वह किंकिनी की ध्वनि पर ही आभासित होती है—

अलप जु कटि तहँ किंकिनी करत सुघुनि अवरेख ॥[६]

---

१. मतिराम ग्रन्थावली सतसई छन्द ३४, पृष्ठ ४३४
२. मतिराम सतसई—दोहा ४२२, पृष्ठ ४७४
३. देव ग्रन्थावली—भाव विलास—पाँचवां विलास छन्द ६४, पृष्ठ १२५
४. वही सुमिल विनोद ,, छन्द ४४
५. पद्‌माकर ग्रन्थावली—प्रकीर्णक छन्द ४६
६. पद्‌माकर ग्रन्थावली—पद्‌माभरण दोहा १६३

नैषधकार श्रीहर्ष ने नायिका दमयन्ती के कृश मध्य भाग की कल्पना करते हुए कहा है कि विधाता ने कटि भाग को कृश बनाकर उसके कमनीय अंश को स्तनों के रूप में स्थापित किया है। यथा–

मध्यं तनूकृत्ययदीदमीयं विधा न दध्यात् कमनीयमंशम्।
केन स्तनौ सम्प्रति यौवनेऽस्या सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्ते ॥[1]

वहीं नैषधकार ने दमयन्ती की कमर को मुट्ठी में आने की कल्पना कर उसे कामदेव के "कुसुम-चाप" के तुल्य कहा है––

सेयं मृदु कौसुमचापयष्टिः स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या ॥
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्ता मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ॥[2]

हंस के माध्यम से दमयन्ती की कमर की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने कहा है कि दमयन्ती की कमर को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी कमर है भी कि नहीं। यथा––

सरसी परिशीलितु मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥[3]

विक्रमाङ्कदेव में भी बिल्हण ने चन्द्रलेखा के कटि भाग की सूक्ष्मता का ही वर्णन किया है। चन्द्रलेखा की कटि इतनी क्षीण है कि उसका धनुष बनाने के लिए कामदेव उसे मानो अपनी कड़ी मुट्ठी से पकड़ता है। तात्पर्य यह है कि चन्द्रलेखा की कमर अत्यन्त ही क्षीण है। यथा–

युक्तं मध्ये कृशातन्वी कार्मुकीकरणाय यत्।
अत्रैव कुसुमास्त्रेण पीड्यते श्लिष्टमुष्टिना ॥[4]

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त ने नायिका मायिका मालती के रूप चित्रण में कमर अथवा मध्य भाग का वर्णन करते हुए विकराला के शब्दों में मालती को सम्बोधित करते हुए कहा है कि मालती का मध्यभाग अत्यन्त कृश होने के कारण मनुष्यों को दसवीं अवस्था अर्थात् मरण तक पहुँचा देता है। तात्पर्य यह है कि मालती की क्षीण कटि पर सभी रसिक जन अत्यन्त ही रीझ जाते हैं–

अयमेव मध्यदेशः कन्दर्पदिशकरणचतुरस्ते।

---

१ नैषधचरितम्–सप्तम सर्ग श्लोक ८२, पृष्ठ १७८
२ वही वही श्लोक २८, पृष्ठ १६६
३ वही द्वितीय सर्ग श्लोक ४०, पृष्ठ ३७
४ विक्रमाङ्कदेवचरित–सर्ग ८, श्लोक ३९

प्रकृशोऽपि शरीरवतो दशमी प्रापयति मन्मथावस्थाम् ॥[1]

इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि संस्कृत कवियों ने मध्यभाग की सूक्ष्मता और क्षीणता अथवा कृशता को अधिक से अधिक अपनाया है तथा कमर के लिए कामदेव के धनुष की कल्पना भी इन्होंने की। कहने का तात्पर्य यह है कि "क्षीणता अथवा कृशता एवं सूक्ष्मता को तो इन कवियों ने कमर के विशेषण के लिए ग्रहण किया एवं कामदेव के 'पुष्प-धनुष' का भी उपमान रूप मे प्रयोग किया गया है।

हिन्दी कवियो ने कटि के उपमान रूप मे ज्येष्ठ की क्षीण रात्रि, सिंह की कमर, लौद, मृणाल–इन उपकरणो को सगृहीत किया और विशेषण रूप मे क्षीणता, सूक्ष्मता, लचक इत्यादि को लिया गया है।

हिन्दी कवियों ने संस्कृत कवियो की अपेक्षा निस्सन्देह अपने कटि विषयक वर्णनों में अधिक रुचि व्यक्त की है। विशेषणो का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ रीति-कालीन कवियों ने भी संस्कृत कवियों की भाँति, क्षीणता और सूक्ष्मता का स्पष्टी-करण दिया किन्तु नायिका की कमर की 'लचक' को इन्होंने स्वतन्त्र होकर ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त उपमानो के ग्रहण में भी इनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर ध्यान देना परमावश्यक है। संस्कृत कवि तो कामदेव का धनुष कहकर ही संतुष्ट हो गये किन्तु हिन्दी के इन कवियों ने क्षीण रात्रि, सिंह-कटि, लौद, मृणाल–इन उपमानों को बड़े ही स्वतन्त्र दृष्टिकोण के अनुसार ग्रहण कर वर्णनों मे लावण्य और सजीवता पैदा की।

रोमावली, त्रिवली और नाभि

नवयौवन के आगमन पर नायिका के कटि भाग से सम्बन्धी सभी अंग अत्यन्त लावण्यपूर्ण हो जाने के कारण आकर्षण का केन्द्र बन जाते हैं। यदि देखा जाय तो यौवन की पूर्णता पर नायिका का समस्त शरीर ही लावण्यमय हो जाता है किन्तु मध्य भाग में रोमावली, त्रिवली और नाभि का सौन्दर्य किसी भी रसिक के नेत्रो को और अधिक सुख प्रदान करता है। ये तीनों अंग एक दूसरे के साथ पूर्ण रूप से जुड़े होने के कारण अधिकतर साथ साथ ही कवियो के वर्णन के भाजन बने। अतः संस्कृत और रीतिकालीन दोनों ही कवियों ने कहीं पर इनका अलग-अलग तो कही पर एक साथ वर्णन प्रस्तुत कर अपनी रसिकता पूर्ण दृष्टि का परिचय दिया।

मतिराम ने रोमावली का वर्णन कर उसे कृपाण का रूप दिया और कल्पना की कि उसी से द्वारा शिव ने कामदेव को मार दिया, जिससे वह किशोरी के दो स्तनों के रूप में दो भागो में विभाजित हुई—

---

१. कुट्टनीमतकाव्य–अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार–श्लोक ६१, पृष्ठ ११

रोमावली कृपान सों, मार्यो सिवहिं मनोज ।
ताके भए स्वरूप द्वै, सोहत बाल उरोज ॥[1]

स्वर्ण के शरीर तुल्य वाली देव की नायिका स्नान करती हुयी सुशोभित हो रही है जिसकी रोमावली भी नवीन ही है—

रोमावली नवली कहि देव सुमोने से गात अन्हात सुहानी ॥[2]

देव ने त्रिवली को तरंगिणी एवं उसके निकट नाभि को ह्रद अर्थात् तालाब, एवं रोमराजी को तट स्वीकार कर रोमावली नाभि और त्रिवली—इन तीनों का एक साथ वर्णन कर अपनी सौन्दर्य रुचि प्रकट की है। यथा—

त्रिवली तिरंगिनी निकट नाभी ह्रद तट।
रोमराजी वन धँसि मुकत अन्हात है ॥[3]

कवि देव ने रोमावली, त्रिवली तथा नाभि के मे त्रिपय प्रस्तुत कथन में बड़ी ही मार्मिक व्यंजना प्रस्तुत की है—

कामगिरि कुंड तें उठति धूम सिखा कै
चटक चरनाली सारदा मे पीन पक की,
तनक-तनक अंक-पाँति ज्यों कनक-पत्र,
बाँचत ससक लंक लीनी रीति रंक की।
सूक्ष्म उदर मे उदार निरै नाभी कूप
निकसति ताते लतो पातक अतंक की,
रचक चितौत चित बचक चढ़ावै दोप,
रोमरेखा चौथ सोम रेखा ज्यों कलंक की ॥[4]

देव ने एक स्थान पर नायिका के सभी अंगों का वर्णन किया है तथा इन तीनों 'नाभि, त्रिवली और रोमावली' को क्रमश लेते हुए इनके क्रमश तीन उपमान चुने हैं। नाभि के लिए कूप, त्रिवली के लिए नदी और रोमावली के लिए सैवाल।

आलोच्य कवियों के अतिरिक्त कवि नृपशम्भु ने नाभि का वर्णन अत्यन्त स्वतन्त्र होकर किया है, जिसमें उरोजों को मदिरा की शीशी, नाभि को मदिरा का प्याला बतलाकर अपनी मौलिक सूझ व्यक्त की है—

---

१ मतिराम सतसई—दोहा ३६६, पृष्ठ ४६६
२ देव ग्रन्थावली—भावविलास द्वितीय विलास, छन्द ९४
३ देव ग्रन्थावली—रसविलास प्रथम विलास छन्द ४१, पृष्ठ १७५
४ देव सुधा—सम्पा० मिश्रबन्धु—छन्द १२९ (तृतीय संस्करण)

रूप को कूप बखानत है कवि, कोऊ तलाव सुधा ही संग को।
कोऊ तुफंग मोहारि कहैं दहला कल्पद्रुम भाषत अंग को॥
बारहि बार विचारि कियो नृपशम्भु नयो मत मो मति ढंग को।
सीसी उरोजनि तैं मदवार समावती नाभी न प्याला अनंग को॥[1]

कवि ने यहाँ नाभि के लिए परम्परा से प्रचलित उपमानों की गणना करते हुए अन्त में अनंग का प्याला बतलाकर अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है।

कालिदास ने नाभि की गहराई की कल्पना करते हुए रोमावली के रूप में नीवी के ऊपर बाँधी हुई करधनी के बीच 'नीलमणि' की कल्पना की है। यथा–

तस्याः प्रविष्टा ततनाभिरन्ध्रंरराजतन्वी नवरोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥[2]

त्रिवली के विषय में कामदेव को स्तनों तक चढाने के लिए नवयौवन द्वारा निर्मित सीढ़ियों की सूझ अंकित की—

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारुवभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥[3]

विक्रमाङ्कदेवचरितकार कवि बिल्हण ने नाभि के लिए कूप का रूपक चुना है। तभी तो नाभि रूपी कूप से लावण्य रूपी जल निकालने के लिए हार के बड़े-बड़े मोतियों को घटी यन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यथा–

हारः कुरङ्गशावाक्ष्या राजति स्थूलमौक्तिकः।
नाभिलावण्यपानीय–घटीयन्त्रगुणोपमः॥[4]

इस प्रकार संस्कृत कवियों के अनुसार कालिदास ने रोमावली के लिए नीवी के ऊपर का "नीलम मणि" और नैषधकार ने रज्जू तथा व्यंजना में तलवार अर्थात् कृपाण का रूपक लिया। त्रिवली के सीढियों और नाभि के लिए कूप का प्रयोग किया गया है।

रीतिकालीन कवियों ने रोमावली के लिए कृपाण, तट, सवाल, धूमशिखा, कनक पत्र पर अंक पंक्ति, कलंक युक्त चौथ का चन्द्रमा तथा त्रिवली के लिए तरंगिणी

---

१. नृपशम्भुकृत नखशिख छन्द २३
२. कालिदास–ग्रन्थावली–कुमार संभव–प्रथम सर्ग–छन्द ३८
३. कुमार सम्भव–प्रथम सर्ग–श्लोक ३९
४. विक्रमाङ्कदेवचरितम् सर्ग ८, श्लोक ३३

अर्थात् नदी, नाभि के निमित्त ह्रद अर्थात् तालाव, कूप, कामगिरि-कुण्ड, अनंग का प्याला इन उपमानों का ही विशेष रूप से प्रयोग किया है।

संस्कृत और रीतिकालीन कवियों ने रोमावली के साथ-साथ नायिका की त्रिवली और नाभि का वर्णन बड़ी ही रुचिपूर्वक किया है। रोमावली त्रिवली और नाभि के लिए रीतिकाल मे चुने गए उपमान यद्यपि पूर्वकालीन परम्परा से आये हैं किन्तु उनकी सरसता हमेशा बनी रहेगी। रोमावली के लिए प्रयुक्त कनकपत्र पर अक्ष पंक्ति की कल्पना बड़ी सुन्दर तथा भावपूर्ण है। अर्थात जिस प्रकार स्वर्ण के पत्र पर लिखी हुई अक्ष पंक्ति का सौन्दर्य बढ जाता है, उसी प्रकार सुन्दरी नायिका के शरीर पर रोम रेखा का सौन्दर्य विद्यमान है।

त्रिवली और नाभि के विषय मे भी यही बात है। त्रिवली के लिए 'तरंगिणी' तथा नाभि के लिए 'कामगिरि कुण्ड' का उपमान बड़ा ही सार्थक बन पड़ा है। अत इन समस्त बातों के देखते हुए पुन यही बात कही जा सकती है कि रीतिकालीन कवियों ने उपमानों को अपने वर्णनों मे अत्यन्त सजीव होकर ग्रहण किया है। उनके समस्त वर्णन सजीव हो उठे हैं।

नितम्ब

यौवन के विकास के साथ ही जैसे-जैसे स्तनों एवं अंगों का विकास होना प्रारम्भ होता है, वैसे ही नारी के नितम्ब भी वृद्धि को प्राप्त कर एक आकर्षण विलास तथा भंगिमा से पूर्ण हो जाते हैं। स्तनों की भाँति इनका भी पीन होना अपनी प्रमुख विशेषताओं मे से आता है। यौवनागम पर नायिका की जहाँ कटि क्षीण होनी प्रारम्भ होती है वहीं कुच और नितम्बों मे वृद्धि प्रारम्भ होती है। तब ऐसा प्रतीत होता है मानो दैव ने कटि की क्षीणता को कसर नितम्ब और कुचों को वृद्धि देकर निकाल ली है। बिहारी का यह भाव भी रुचि के साथ व्यक्त हुआ है—

किए मनों वै ही कसर कुच, नितम्ब अति पीन ॥[1]

यहाँ नितम्बों की पीनता से स्थूलता और काठिन्य दोनों का ही आभास पूर्ण रूप से हो रहा है।

बिहारी की नायिका के स्तन, मन, नयन तथा नितम्बों की वृद्धि यौवन रूपी 'नृपति' ने खूब रुचि के साथ की है, क्योंकि समस्त अंगों की वृद्धि करते समय ऐसा लगता है मानो अन्त मे उसका ध्यान नितम्बों की ओर गया है और नितम्बों को अच्छी तरह बढ़ा दिया—

स्तन, मन, नैन, नितम्ब को बड़ो इजाफा कीन ॥[2]

---

१ बिहारी रत्नाकर–छन्द ६६४

२ बिहारी बोधिनी–छन्द २९

यौवनागम पर नायिका कुच और नितम्बों की वृद्धि देखकर मतिराम ने कल्पना की है कि ये दोनों कमर का सार खींचते हैं, इसीलिए कमर तो क्षीण होती है और इन दोनों में वृद्धि होती है । यह व्यंजना प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है कि—

दुहूँ दिसि जवल नितम्ब कुच, खैंचत हैं निधि सार ।[1]

कवि ने यहाँ नितम्ब तथा अन्य अगों द्वारा कमर का सार खीचने का तात्पर्य नितम्बों की वृद्धि से ही लिया है ।

जवानी में भरी हुई देव की नायिका के कुच और नितम्बो का भार इतना है कि कटि सँभाल नही पाती——

भार उरोज नितम्बन को न घरै कटिको लटिबो दृग दूपर ।[2]

नितम्बों को यहाँ भी दीर्घता के रूप में अंकित किया गया है ।

देव ने आगे अप्रत्यक्ष रूप से नितम्ब के लिए चक्र का उपमान लेकर कुम्हारिन के माध्यम से अन्त में कवित्त के अन्त में स्पष्ट किया है कि संसार में ऐसा कौन है जिसका हृदय नायिका ने काम के चक्र में नहीं चढाया हो । यहाँ घट में श्लेष है जिसका तात्पर्य कुम्भ और हृदय दोनो से है । यथा——

काम के चक्र चढ़ायो न को घट काको न कीनो अवास अवांसो ।।[3]

यहाँ काम के चक्र पर चढ़ाने से और भी स्पष्टीकरण यह होता है कि ससार में ऐसा कौन सा व्यक्ति है, जिसका हृदय नायिका के चक्रतुल्य स्थूल नितम्ब को देखकर आकर्षित न हुआ हो ।

पद्माकर की अज्ञात यौवना नायिका अपनी कमर की सूक्ष्मता पर विचार करती है तो उसकी सखी उत्तर देती है कि कमर को कुच अथवा नितम्बों ने चुराया है । यहाँ भी नितम्बों की गुरुता पर विशेष बल दिया गया है——

मेरी कटि मेरी भटू कौन धौं चुराई

तेरे कुचन चुराई कै नितम्बन चुराई है ।।[4]

जवानी आने पर कुचों के साथ ही नितम्बो मे वृद्धि प्रारम्भ होती है । अतः नायिका के स्थूल नितम्बों के ऊपर यहाँ भी बल दिया गया है । यथा——

ज्यों कुच त्यों ही नितम्ब चढ़े कछु त्यों ही नितम्ब त्यो चातुराई ।।[5]

नैषधकार ने नायिका दमयन्ती के नितम्ब निर्माण में सूर्य के रथ के विशाल

---

१. मतिराम सतसई—दोहा ४९१

२. देव ग्रन्थावली—रसविलास—द्वितीय विलास—छन्द ५८, पृ० ७२

३. वही, रसविलास—छन्द १६, पृ० १८३

४. पद्माकर ग्रन्थावली—जगद्विनोद—छन्द २९, पृ० ८४

५. वही, छन्द २२, पृ० ८३

एव गोल पहिए की कल्पना की है एव पुन कामदेव के निमित्त चक्र की कल्पना कर वर्णन को उपस्थित किया । यथा—

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेकचक्रचारिणं किमु निर्मितसति मान्मथ रथम् ॥[1]

अर्थात् नितम्ब के हेतु उपमान रूप मे चक्र और विशेषण रूप मे विशालता तथा गोलाई का आगमन हुआ है ।

विक्रमाङ्कदेवचरितकार बिल्हण ने नायिका चन्द्रलेखा के नितम्ब को कामदेव के भुजस्तम्भ की प्रशस्ति के समान सुशोभित बतलाया है । यथा—

नितम्बबिम्बं बिम्बोष्ठी चन्द्रकान्तशिलाघनम् ।
धत्ते कन्दर्पदो स्तम्भ-प्रशस्तिफलकोपमम् ॥[2]

कामदेव के भुजस्तम्भ को तो कवि ने उपमान के रूप मे लिया और उसको स्निग्ध, ठोस एव चमकदार मणि के समान कहकर नितम्ब के लिए भी स्निग्ध, ठोस चमकदार विशेषणो को लिया है ।

संस्कृत कवियो ने नितम्बों के वर्णन मे सूर्य का विशाल एव गोलचक्र तथा कामदेव का चक्र काम के भुजस्तम्भ की प्रशस्ति—इन उपमानों की कल्पना की । विशेषण के लिए कान्तिवान, विशालता, गोलाकार, स्निग्ध, ठोस, चमकदार—इन प्रकारो को ग्रहण किया ।

हिन्दी कवियो मे उपमान के रूप मे कामदेव का चक्र आया है तथा कठोरता, विशालता, गोलाकार, स्थूलता इत्यादि विशेषण रूप मे प्रयुक्त हैं ।

नितम्बो के उपमान की दृष्टि से दोनों कवि समान हैं क्योंकि जिस कामदेव के चक्र की तुलना पूर्व में ही संस्कृत कवियों द्वारा की जा चुकी है, उसे ही रीतिकाल मे देव के यहाँ प्रश्रय प्राप्त हुआ, तथा कठोरता, विशालता, गोलाकार, स्थूलता आदि ये समस्त विशेषण भी परम्परा युक्त ही हैं । अत विशेषण और उपमान की दृष्टि से रीतिकालीन कवियो के नितम्ब वर्णन प्राय बहुत कुछ समान हैं । वर्णनो की अभिव्यक्ति मे प्राय बहुत कुछ भिन्नता है, जैसा कि स्थान-स्थान पर अगो का वर्णन करते हुए कहा गया है ।

इस प्रकार संस्कृत कवियो ने नितम्बों के वर्णन मे प्रथम तो कृत्रिम दृष्टि से कार्य किया, क्योंकि अलकारिकता को इतना भरा कि स्वाभाविकता प्राय नष्ट सी ही हो गई । दूसरी बात यह है कि कहीं-कहीं इतने आगे बढ़े कि वर्णन मे सौन्दर्य उत्पन्न होने की अपेक्षा विद्रूपता का प्रादुर्भाव हुआ । दूसरी ओर रीतिकालीन कवियों

१ नैषधचरित-सर्ग २, श्लोक ३६, पृ० ३६
२ विक्रमाङ्कदेवचरितम्-सर्ग ८, श्लोक १७ पृष्ठ ११,

ने कवित्व रूप सौन्दर्य की दृष्टि लेकर नितम्बों का अलग चित्रण न कर एक जगह समाहित कर दिया। अतः इन कवियों की दृष्टि इस प्रकार के वर्णनों में शुद्ध कवित्व की रही, यही कारण है कि स्वाभाविकता कहीं भी नष्ट न हो सकी। अन्ततोगत्वा यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों के वर्णन सरलता और भावुकता की भूमि का इस प्रकार स्पर्श किए हुए है कि इन मे हृदयत्व किसी प्रकार भी समाप्त नहीं हो सका है।

जघन

नायिका के नितम्बों से संलग्न जघन-प्रदेश का आकर्षण कम केन्द्र नहीं होता, इसीलिए जहां नितम्बों की विशेषता अनेक रूपो में स्वीकार की जाती है वही जंघाओं की विशिष्टता दर्शाने के निमित्त अनेक प्रकार के उपमानो को सहज ही ग्रहण किया जाता है। संस्कृत कवियो ने तो नायिकाओ की जंघाओं की चर्चा स्थान-स्थान पर खूब सुरुचि के साथ की है तथा नखशिख वर्णन के समय उनके लिए अनेक उपमान भी जुटाये है। इसी भाँति रीतिकालीन कवियो ने भी इनके वर्णनों मे जहाँ तहाँ रुचि के साथ अपने भावों को मनोरम रूप मे अंकित किया। विहारी का नायक अपनी नायिका के जघन-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ उसकी मन ही मन सराहना करता है कि जंघाओ का निर्माण मानों कामदेव रूपी विधाता ने ही अपने हाथों द्वारा किया है। उन्हें देख केली-तरु भी दुखित होते हैं और क्रीड़ा-विलासी तरुण प्रसन्नता का अनुभव करते है। *यथा*—

जंघ जुगल लोइन निरे, करे मनो विधि मैन।
केलि-तरुनु दुख दैन ए, केलि तरुन सुख दैन ॥[1]

यहाँ जंघाओ के लिए कदली-वृक्ष उपमान रूप में आया है जिससे जंघाओ की चिकनाई, स्थूलता, तथा कांति व्यंजित हो रही है। साथ ही "केलि तरुन सुख दैन" से जंघाओं के सौन्दर्य का भी अनायास ही वोध हो रहा है।

यौवन के आगमन पर मतिराम की नायिका की जंघायें भी कटि का सार खींचकर कुचो और नितम्बों की भाँति स्थूल हो गई है। *यथा*—

दुहूँ दिसि जघन नितम्ब कुच खैंचत है निवि सार।[2]

व्यंजना छिपी है कि जवानी के आने पर नायिका के कुच, नितम्ब और जघन तीनों सुडौल वन गये हैं। यहाँ केवल जघन की 'सुडौलता' को ही प्रसंगानुसार लिया गया है। अतः व्यंजित है कि कवि ने अन्य अंगों के साथ ही जघन की 'सुडौलता' को भी अंकित किया है।

---

१. विहारी रत्नाकर–छन्द २१०
२. मतिराम सतसई–दोहा संख्या ४९१

देव ने भी जघाओ को 'कदली' के समान कहा है–

नदी त्रिवली कदली जुग जानु सरोज से नैन रस भांति ।।[1]

जघाओ की सुडौलता का और आकार प्रकार के लिए कदली का उपमा परम्परागत ही है।

नायिका पर तरुणाभा व्याप्त हो गई है, जिससे समस्त अगो मे परिवर्तन हो रहा है। परिणामस्वरूप कटि तो क्षीण हो जाती है और 'सघन जघन" पीन होते जाते हैं—

हीन होति कटि तट पीन होत जघन सघन ।

सोच सोच लोचन ज्यो नाचत सरोज हैं ।।[2]

यहाँ देव न जघन की 'सघनता" और "पीनता" का वर्णन करते हुए इन जघाओ की वृद्धि देख नायिका के नत्रो के नाचने की कल्पना पर प्रसग मे अतीव ही माधुर्य और मौलिक उद्भावना को अनुस्यूत कर दिया है।

कालिदास ने पार्वती की जघाओ के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए विधाता द्वारा उन्हें सौन्दर्य की समस्त सामग्रियो द्वारा निर्मित कहा है तथा "गोपुच्छ" के समान उतार चढाव वाली कहा है—

वृत्तानुपूर्वे चन चातिदीर्घे, जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।

शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवासयत्न ।।[3]

नायिका पार्वती की जघाओ की समानता गजराजो के शुण्डाशुण्ड तो इसलिए प्राप्त करने में असमर्थ हैं कि वे खुरदरे हैं और कदलीस्तम्भ इसलिए नही क्योंकि वे शीतल हैं। कालिदास के इस कथन से तात्पर्य यह है कि जघायें स्निग्ध तथा विशाल एव गज शुण्ड तथा कदलीस्तम्भ के समान हैं। यथा—

नागेन्द्र हस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषा ।

लब्धवापि लोके परिणाहि रूप जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्या ।।[4]

माघ ने भी शिशुपालवध म "अघनमलनुपीवरोरू"[5] कहकर नायिका के अत्यत विशाल जघनस्थल की कल्पना की है।

नैषधकार श्रीहर्ष की नायिका अपनी विशाल जघाओ से वृक्ष रूप रम्भा अर्थात् कदली एव रम्भा नामक तरुणी अप्सरा को भी मानो जीतना चाहती है—

---

१ देव ग्रन्थावली–भावविलास–द्वितीय विलास–छन्द ७६, पृ० ९३

२ वही, पाचवां विलास–छन्द ५६, पृ० १२४

३ कालिदास ग्रन्थावली–कुमारसम्भव–सर्ग १, श्लोक ३५, पृ० २५४

४ वही–श्लोक ३६

५ शिशुपालवध–सर्ग सातवा, श्लोक २०

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमुरम्भां परिणाहिना परम् ।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपः फलस्तनीम् ॥[1]

विक्रमाङ्कदेवचरितकार ने चन्द्रलेखा के ठोस जघनस्थल के लिए 'कामदेव का रंगमंच, शृङ्गार रस का स्वर्ण-आसन' इन दो उपमानों को चुनकर उसे सुन्दरता के सारभाग का समूह वतलाया है--

अनङ्गरङ्गपीठोऽस्याः शृङ्गारस्वर्णविष्टरः ।
लावण्यसारसंघातः सा घना जघनस्थली ॥[2]

कुट्टनीमतकार दामोदर गुप्त ने नायिका मालती के सुन्दर जघनों को कल्प-वृक्ष पर चढ़ी स्वर्णलता के समान वतलाया है, इसीलिए उन्हे इच्छित फल की चाह के अनुरूप सभी चाहते हैं । यथा--

यौवनकल्पतरोस्ते कनकलताविभ्रमं सुवृत्तमिदम् ।
जंघायुगलं नेच्छति कामफलप्राप्तये क इह ॥[3]

इस प्रकार संस्कृत काव्यों में जंघाओं के लिये--गोपुच्छ, गजशुण्ड, कदली-स्तम्भ रम्भा नायक अप्सरा की जंघायें, कामदेव का रंगमंच, शृंगार रस का स्वर्ण-आसन, कल्पवृक्ष की स्वर्णलता-ये उपमान आये हैं । तथा वैशिष्ट्य रूप में स्निग्धता, विशालता, स्वर्ण कान्ति से युक्त-ये गुण व्यंजित हैं ।

रीतिकालीन आलोच्य कवियों के काव्य मे जंघाओं के लिए कदली-वृक्ष उप-मान प्रमुख रहा है जिससे स्थूलता, पुष्टता, सुडौलता, सघनता, पीनता, चिकनाई आदि विशेषताएँ व्यंजित की गयी है ।

संस्कृत और रीतिकालीन दोनो काव्यों पर सम्यक् दृष्टिपात करने से यह वात अव स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत कवियों का स्वतन्त्र चित्रण करने के कारण ही जंघाओं के लिए विभिन्न उपमानो और विशेषताओं को जुटाया वहाँ तो स्थान-स्थान पर शृंगारिक प्रकरणों मे नायिकाओं को "स्थूल जंघावाली" शब्दों का प्रयोग होता है तथा स्वतन्त्र वर्णन पूर्ण रूप से अलग ही हैं जवकि रीतिकालीन कवियो में यह वात नही । अधिकांश इन कवियों ने स्वतन्त्र रूप से चित्रण न कर यत्र तत्र प्रसंगवशात् ही जघनों का वर्णन कर उपमान और विशेषतायें जुटाईं ।

रीतिकालीन कवियो का कदली उपमान पूर्व संस्कृत परम्परा के अनुकरण का ही वोध कराता है, विशेपताओं के सम्वन्ध में भी यहाँ वात कही जा सकती है, किन्तु जघनों के लिए "तरुन सुख दैन" की विशेपता विहारी ने पूर्ण रूप से अपने

---

१. नैषधचरितम्--सर्ग द्वितीय--श्लोक ३७, पृ० ३६
२. विक्रमाङ्कदेवचरितम्--आठवाँ सर्ग--श्लोक २०, पृ० १३
३. कुट्टनीमत--श्लोक ५५ (अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार)

हृदय से जुटाई है । अत नवीन है ।

चरण और गति

चरण और गति मे आपस का बहुत सम्बन्ध है । संस्कृत कवियो ने चरण और गति दोनो का नखशिख मे दूसरे अगो के साथ खूब चित्रण किया तथा अनेक उपमानो का भी संग्रह किया । इन आलोच्य रीतिकालीन काव्यो मे चरण और गति के यत्र-तत्र छुट-पुट चित्र मिल ही जाते हैं--

चरणोपमाओ को आचार्य केशव ने क्रमश दस प्रकार लिया है—

अति कोमल पद वरनियै पल्लव कमल समान ।
जलज कमल से चरन कहि कर कहि थलज प्रमान ।।९।।

कवि पृष्ठ १९७

बिहारी ने अपनी नायिका के पैरो की विशेषता का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि मार्ग मे चलते समय नायिका के पगो की लाली के मार्ग मे पड जाने से ऐसा प्रतीत होता है मानो दुपहरिया के पुष्प खिल रहे हो । यहाँ दुपहरिया का फूल उपमान भी बन गया है—

पग पग मग अगमन परत, चरन अरुन दुति-झूलि ।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि ।।[1]

बिहारी ने पैरो की एडियो की लालिमा की तुलना कोहर-पुष्प से दी है । अतएव नाइन जब महावर (अलक्तक) लगाते समय नायिका की एडियो की स्वाभाविक अरुणिमा को देखती है तो आश्चर्य मे पडकर अपना कार्य ही मानो भूल जाती है—

कौहर सी एडीन की, लाली देखि सुभाइ ।
पाइ महावरू देइ को, आपु भाई बे पाइ ।।[2]

मतिराम ने पगो के साथ ही हाथ और अधर को लेते हुए पल्लव का रूपक दिया है—

"पल्लव पग कर अधर हैं ।"[3]

नायिका के चरणो से महावर के छूट जाने से उनका स्वाभाविक रग अर्थात् लाल रग ही शेष रह जाता है । मतिराम ने इस कथन को सुन्दर ढग से स्पष्ट किया है--

---

१ बिहारी रत्नाकर–छन्द ४९०
२ वही, छन्द ८४
३ मतिराम सतसई–दोहा ५०४

गयो महाउर छूटि यह रह्यो सहज इक अग।
फिरि फिरि झाँवति है कहा रुचिर चरन के अंग ॥[1]

कवि देव ने बहुत से अंगों के समेटकर उपमान जुटाते हुए पगों के लिए "कंज" का उपमान जुटाया है।[2]

पगों के लिए प्रयुक्त इस "कंज" के उपमान को देव ने यहाँ और भी अधिक स्पष्ट किया है—

कर पद पदम पदम नैनी पदमनी।
पदम सदम सोभा संपद सी आवती ॥[3]

देव ने एक स्थान पर नायिका के चरणो के सौन्दर्य को कमल का ही उपमान लेकर अत्यन्त रुचि सहित अंकित किया है—

रहिरे कमल जल गहिरे गुमान तजि
गहिरे चरन सोभा सबही सुहाते हौ।[4]

नायिका के पैरों के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि पद्माकर ने उन्हें सगुण, सभूषण, शुभ, सरस इत्यादि विशेषताओ से विभूषित किया है—

सगुन सभूषन सुभ सरस सुचरन सुपद सराग।[5]

पद्माकर ने नायिका के नाजुक चरणों का और भी स्पष्ट रूप मे चित्रण करते हुए कहा है कि—कोमल कमल, गुलाब के दल के एवं मखमल के बिछौना भी नायिका के कोमल पैरों में गड़ जाते हैं—

कोमल कमल के गुलाबन के दल के
सु जात गड़ि पाइन बिछौना मखमल के ॥[6]

पद्माकर ने इस कथन से नायिका के चरणो की अत्यन्त कोमलता का परिचय दिया है किन्तु वर्णन और प्रसंग निस्सन्देह सरस, सुन्दर तथा पूर्ण रूप से मौलिक भी है।

नायिका की गति अथवा चाल के भी इसी प्रकार अनेक वर्णन आते हैं। कवियों ने नायिकाओं की गति का वर्णन करते हुए अधिकतर उन्हें "गजगौनी" और "हंसगमनी" ही कहा है। यथा—मतिराम के कवित्त से अभिव्यंजित होती नायिका

---

१. मतिराम सतसई—दोहा ५५२
२. देव ग्रन्थावली—भावविलास—पाँचवाँ विलास—छन्द ६४, पृ० १२५
३. देव ग्रन्थावली, रसविलास, पाँचवाँ विलास, छन्द ४४, पृ० २०५
४. वही, सुमिलविनोद, छठवाँ विनोद, छन्द १८, पृ० २९७
५. पद्माकर ग्रन्थावली, पद्मामरण, दोहा १०४, पृ० ४५
६. वही, जगद्विनोद, छन्द १२, पृ० ८१

की मन्द-मन्द एवं हिय को हरने वाली गति को देखा जा सकता है—

सकल सहेलिन के पीछे-पीछे डोलति है ।
मन्द मन्द गौ आज हिय को हरत है ॥[1]

मतिराम की दूसरी नायिका की गति भी दृष्टव्य है जिसमें पहले की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता और सहज ग्राह्यता है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि किंकणी और नूपुरों के ललित शब्द के साथ गति को देखकर भला कौन गमनकर सकता है। यथा—

किंकिनी कलित कल नूपुर ललित रव ।
गौन तेरो देखिकै सकतु करि गौनुको ॥[2]

यहाँ चाल के साथ किंकिणी और नूपुरों की झंकार दिखाकर चाल का आकर्षण तथा "सुन्दरता" को व्यक्त किया गया है।

घोड़े के समान तेज चाल चलने वाली देव की नायिका चित्त पर चोट करने वाली है—

चेटक सी चालि चित चोट सी चितौनी हाँसी ।
ठगकी मिठाइ भौंह फांसी की सी लागरी ॥[3]

देव ने "गज गमनी" कहकर नायिका की मथर चाल को व्यंजित किया है। यथा—

गोरी गजगौनी दिन दूनीदुति होनी देव ।
लागति सलोनी गुरुलोगन के लाड़ बहु ॥[4]

पद्माकर ने अपनी नायिका की गति को अलंकारिक ढंग से हंस गति के समान बतलाते हुए कहा है कि—

जो यातियकी गति निरख हंस तज्यो गुमान ।
जा अँग की सुकुमारता मालति होहि पखान ॥[5]

"गजसी गति अवरेखु"[6] कहकर पद्माकर ने नायिका की गजगति का सहज ही ढंग से निरूपण कर दिया है।

संस्कृत कवियों के भी चरण और चाल से सम्बन्धित वर्णन अवलोकनीय है।

---

१ मतिराम ग्रन्थावली, रसराज, छन्द ३५४
२ वही, छन्द ३५४
३ देव ग्रन्थावली, रसविलास, प्रथम विलास, छन्द ५२
४ वही, सातवाँ विलास, छन्द ५२
५ पद्माकर ग्रन्थावली, पद्माभरण, दोहा १२१
६ वही, दोहा १५

नषधकार ने दमयन्ती के चरण वर्णन करते हुए कहा है कि सूर्य की सेवा के प्रभाव द्वारा दो कमल चरण बने अर्थात् चरणों को कमल तुल्य बतलाया है। चरणों की गति को भी नूपुरों के शब्द द्वारा हंसों की कल्पनानुसार उन्ही (हस) के समान गति को भी व्यंजित कर दिया है--

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदताभवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥[1]

श्रीहर्ष ने चरणो को कमलो और गति को हसो का उपमान दिया है किन्तु गति के लिए हंसों का उपमान व्यंजित होता है तथा गति का वैशिष्ट्य मंथर एवं चरणों का वैशिष्ट्य लाल इन दो रूपों में व्यंजित है।

कुट्टनीमतकार ने नायिका मालती के चरणों की लालिमा को अनार के समान एवं स्थल कमलिनी के समान बताकर युगल चरण के विषय मे अपना दृष्टिकोण देते हुए अपना कथन विकराला के माध्यम से मालती को सम्बोधित करते हुए व्यंजित किया है कि--

निर्जितदाडिमरागं विजितस्थलकमलिनीविलासमिदम् ।
तव तरुणि चरणयुगलं कस्य न मानसमलंकुरुते ॥[2]

मालती की चाल का कुट्टनीमतकार ने हंस और हाथी--दोनों की चाल से साम्य स्थापित करते हुए कहा है कि मालती का गमन हाथी को नीचा दिखाता है और हंस की चाल पर हँसता है--

ह्रेपयति वारणेन्द्रं हंसं हसति प्रयातमिदमेव ।
तव लीलावति ललितं यूनां हृदयानि मथ्नाति ॥[3]

संस्कृत कवियों के अनुसार चरणों के लिए कमल, स्थल कमलिनी ये उपमान तथा लालिमा युक्त एवं कान्तियुक्त ये विशेषण व्यंजित हैं। गति के लिए भी गजगति और हंस-गति ये उपमान एवं मंथर तथा अदा के साथ ये विशेषण हैं, जो कि प्रत्यक्ष तो नहीं आये वल्कि व्यंजित हो रहे हैं।

रीति-हिन्दी कवियों ने चरणों का दुपहरिया के फूल, पल्लव, कुंज, कोहर ये उपमान विशेष रूप से लिए। विशेषता के लिए सुकोमलता तथा लालिमा ही विशेष रूप में रही। उसी प्रकार चाल के लिए हंसगति गति, गजगति--इन दो को ही लिया तथा चाल में बाँकपन, मन्थरता आदि विशेषताएँ व्यंजित हैं।

संस्कृत और रीतिकालीन इन दोनों कवियों ने अपनी-अपनी भावना और

---

१. नैषधचरितम्, सर्ग द्वितीय, श्लोक ३८
२. कुट्टनीमत, श्लोक ५६, (अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार)।
३. कुट्टनीमत, श्लोक ५७, अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार

अपनी परिस्थितियों से प्रभाव पाकर "चरण' और "चाल" के विषय में अनेक चित्रों का विधान किया है।

चरणों के लिए रीतिकालीन काव्यों में प्रयुक्त उपमान संस्कृत कवियों के अनुकरण के आधार पर ही प्रयुक्त किए गए हैं क्योंकि पल्लव और कमल ये दोनों संस्कृत काव्यों में खूब आये हैं। कहीं-न-कहीं इन दोनों उपमानों की प्राप्ति हो जाती है। यही बात चरणों की लाली के विषय में भी है। वह भी कमल और पल्लव के साथ ही ध्वनित अथवा व्यंजित हो जाती है। वर्णनों का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ रीतिकालीन कवियों के वर्णन कहीं अधिक उत्कृष्ट हैं। बिहारी द्वारा नायिका के चलते समय चरणों की लालिमा का पृथ्वी पर गिरना और दुपहरिया के पुष्पों का उत्पन्न होना एवं नायिका के चरणों की लालिमा को देखकर नाइन का भ्रम में पड़ जाना ये वर्णन निस्सन्देह मनोरम एवं अत्यधिक उत्कृष्ट रूप में उतरते हुए चले आये हैं। इसके अतिरिक्त चरणों के लिए रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त कोहर पुष्प का प्रयोग सम्भवतया नवीन ही है।

अब चाल के विषय में भी यही बात है हंस गति, और गजगति पूर्णरूप से संस्कृत कवियों का अनुकरण है तथा इनसे व्यंजित होने वाली मन्थरता एवं बाँकपनका भी परम्परा से ही आगमन है, किन्तु देव द्वारा ली गई "चेटक-सी चाल" स्यात् नवीन है किन्तु इसमें कोई विशेष सौंदर्य की झलक नहीं दिखाई देती।

रीतिकालीन काव्यों में नायिका के चरण और चाल के लिए अनेक प्रकार के उपमान एवं विशेषण आते हैं किन्तु उनमें अधिकतर ऐसे ही हैं जिन्हें परम्परा भुक्त ही कहा जा सकता है। हाँ, वर्णनों का जहाँ तक प्रश्न है—रीतिकालीन आलोच्य कवियों के वर्णन ऐसे तो हैं नहीं जो कि पूर्ण रूप से नखशिख का आधार लेकर लिखे गये, बल्कि वे तो स्वतन्त्र रूप से नायक और नायिका का चित्र प्रस्तुत करते हैं। अतएव वर्णनों के साथ चरण और गति का वर्णन सार्थक रूप में हुआ है।

यौवन एवं तज्जन्य कान्ति

जिस प्रकार प्रातःकालीन बाल रवि की किरणें समस्त धरा पर विकीर्ण होकर उसे नवीन आभामय अरुणिमा से रंजित कर देती हैं तथा जिस प्रकार हिमांशु की रूपहली ज्योत्सना निसर्ग के समस्त उपकरणों को रजत तुल्य बना देती है, उसी प्रकार जब यौवन का आगमन होता है तो शरीर के विकास के साथ ही उसमें कान्ति, शोभा और दीप्ति का प्रादुर्भाव होना प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि कवियों की दृष्टि अधिकतर नायिका के यौवन एवं तज्जन्य कान्ति पर ही पड़ी है। संस्कृत कवियों ने जहाँ इस अवस्था के अनेक चित्रों को अंकित किया, वहीं रीतिकालीन कवि भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी यौवन में शारीरिक उभार का खूब खुलकर

चित्रण किया। उदाहरणार्थ विहारी का प्रस्तुत दोहा दर्शनीय है जवकि यौवन रूपी प्रवीण नृप ने स्तन, मन, नैन और नितम्व का "वड़ा इजाफा" कर दिया–

अपने अँग के जानिकै, जोवन-नृपति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितम्व को वड़ो इजाफा कीन ॥[1]

इसी प्रकार विहारी का दूसरा वर्णन भी दर्शनीय है जवकि नायिका के अंगों से शैशव की शोभा भी नही छूट पाई, तभी उसके अंग या प्रत्यंग पर यौवन झलकने लगा जिससे उसकी देह शैशव और यौवन दोनो अवस्थाओ से युक्त होने के कारण धूप छाँही रंग के समान सुशोभित होने लगी––

छूटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोवनु अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपती ताफता रंग ॥[2]

विहारी के इन दोनों दोहों में यौवन द्वारा शारीरिक वृद्धि एवं सौन्दर्य के उन्मेष का चित्रण किया गया है।

मतिराम ने यौवन के आगमन से शारीरिक परिवर्तन भावना तथा आङ्गिक उन्मेष का चित्रण और भी विस्तार से लिया है–––

कानन लौ लागे, मुसकान प्रेम पागे, लौने,
लाज-भरे लागे लोल लोचन अनंग ते।
भार धरि भुजनि डुलावति चलति मंद,
औरै ओप उलहत उरज उतंग ते।
मतिराम जोवन पवन की झकोर आय,
वढ़िकै सरस रस तरल तरंग ते।
पानिप अकल की झलक झलकन लागी,
काई सी गई है लरिकाई कढि अंग ते ॥[3]

मतिराम ने यौवन के आगमन पर अनंग के अंग-प्रत्यंगो मे वढ़ जाने के कारण सर्वप्रथम नयनों के परिवर्तन को लिया है तत्पश्चात् अन्य अंगों को; लावण्ययुक्त नेत्रों का कान तक लगना एवं मुसकान से पूर्ण होना, लाज से भर जाना, उभरे अंग जैसे पयोधरादि के भार से कुछ झके हुए कंधों से हाथो को धीरे-धीरे हिलाना, मन्द गति से चलना, ऊँचे वक्षोजों से कुछ अधिक लावण्य का प्रादुर्भाव होना–इस प्रकार यौवन रूपी पवन के झकोरों से नायिका के समस्त शरीर में सरस रस की तरल लहरें उठने

---

१. विहारी रत्नाकर, छन्द २
२. वही, छन्द ७०
३. मतिराम ग्रन्थावली, रसराज, छन्द २२

लगती हैं जिसके कारण स्वच्छ पानी के समान कान्ति झलकने लगी और शैशव काई के समान फटकर अलग हो गया। कवि ने अन्तिम चार पंक्तियों में वय-सन्धि को सांगरूपक के सहारे स्पष्ट किया है। मतिराम का वर्णन निस्सन्देह अत्यन्त ही सरस बन पड़ा है।

नवयौवन सम्पन्न देव की नायिका के अंगों की कान्ति भी नित्यप्रति बढ़ती ही जाती है, जिससे शिशुता शीघ्र ही समाप्त होने लगती है। यथा—

जानि परयो जोबन जनायो है मनोज जुर
जगमगी जोति नित बाढति निर्तै नितै ॥२८॥

० ० ०

ऐसी तरुनाई ता सुर तरंगिनि सो
सिसुना ज्यों सूरसुता मिली चली चपिकै ॥२९॥[1]

पिछली दोनों पंक्तियों में तरुणाई को सुर तरंगिणी के समान बतलाकर कवि ने इस बात को ध्वनित किया है कि यौवनागम पर सुरसरिता के समान स्वच्छता और सुरसरिता की लहरों के समान भावनाओं की उमंगें उठती रहती हैं। शिशुता तो यौवनागम पर समाप्त हो ही जाती है। अतः शिशुता की समाप्ति एवं वय-संधि में उसका किंचित निवास लगभग सभी कवियों के वर्णनों से अभिव्यंजित है किन्तु उसका सूरसुता के समान चला जाना—यह कल्पना देव की मौलिक है।

पद्माकर ने नवयौवन के बढ़ते हुए कुचों, चढ़ती हुई अधरों की मधुरता, कुच और नितम्बों का उन्मेष एवं इनके बढ़ने के कारण ही कटि का बीच में ही लूट लिया जाना ये सभी अयोजन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किए हैं। यथा—

ए बलिया बलि के अधरान में आनि चढी कछु माधुराई सी।
ज्यों पद्माकर माधुरी त्यों कुच दोउन की चढ़ती उनई सी।
ज्यों कुच त्यों ही नितम्ब चढ़े कछु त्यों ही नितम्ब त्यों चातुरई सी।
जानी न ऐसी चढा चढ में किहिं धौं कटिबीच ही लूटि लई सी ॥[2]

बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर इन चारों कवियों ने नायिका के यौवन-जन्य कान्ति एवं नितम्बों, कुचों, नयनों इत्यादि अंगों का उत्कर्ष तथा कटि की क्षीणता पर विशेष रूप में बल दिया है।

कालिदास ने कुमारसम्भव के अन्तर्गत नायिका पार्वती के यौवन का चित्रण करते हुए कहा है कि तूलिका से जिस प्रकार चित्र उन्मीलित हो उठता है, सूर्य की

---

१ देव ग्रंथावली, रसविलास, छठवाँ विलास, छन्द २८, २९, पृ० २१३
२. पद्माकर कृत जगद्विनोद, सम्पा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छन्द २२

किरणों के स्पर्श से जैसे कमल पुष्पित हो उठता है, उसी प्रकार नवीन यौवन से पार्वती का शरीर भी खिल उठा । कवि ने विभिन्न अगों–स्तन, जघनादि के उन्मेष को यहाँ अपने कथन द्वारा अभिव्यंजित कर दिया है—

> उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
> वभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥[1]

कालिदास का दूसरा चित्र भी दर्शनीय है जिसमे वर्णन किया गया है कि वालावस्था वीतने पर पार्वती ने उस नवयौवन को प्राप्त किया, जो उसकी अङ्गयष्टि के लिए अनायास प्राप्त आभूषण था, आसव न होने पर मादक था एवं पुष्पों से निर्मित न होते हुए भी कामदेव का वाण था । यथा---

> असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यंकरणं मदस्य ।
> कामस्य पुष्पव्यतिरिक्त अस्त्रवाल्यात्परं साथवयः प्रपेदे ॥[2]

उक्त रीतिकालीन कवियो के वर्णन कालिदास के इन श्लोकों से पूर्ण रूप से अनुप्राणित हैं । विहारी की नायिका के स्तनादि अगो के उभार तथा अगदीप्ति का झलकना, मतिराम की नायिका के विलास एव अग-प्रत्यंगो के उभार तथा रूप कान्ति की उत्पत्ति, देव की नायिका की यौवनागम पर शारीरिक कान्ति का दिन-प्रतिदिन वढ़ना तथा तरुणाई के आने पर शिशुता का प्रस्थान करना, पद्माकर की नायिका के कुच, नितम्ब का वढ़ना एव अधरों में माधुर्य का आना इत्यादि समस्त वर्णनों की प्रेरणा सम्भवतया कुमारसम्भव से ही प्राप्त हुई प्रतीत होती है । कुमार-सम्भवकार ने जिस प्रकार पार्वती के यौवन जनित रूप लावण्य के प्रति सूर्य द्वारा कमल के मुकुलित होने और तूलिका से चित्र के उन्मीलित होने की कल्पना की है, उसी प्रकार विहारी, मतिराम, देव ने यौवन की कान्ति को सुरुचि के साथ अकित किया है ।

नायिका के यौवन के उभार और कान्ति के समस्त चित्र इन रीतिकालीन कवियो के अत्यन्त ही सरस वन पड़े हैं । कुमारसम्भवकार ने नायिका पार्वती के लिए जिस प्रकार सुन्दर कल्पना के द्वारा सुन्दर चित्र खीचा, उसी प्रकार इन कवियों ने भी अपनी-अपनी नायिकाओ को अनेक काल्पनिक एवं माधुर्यपूर्ण चित्रो मे अकित कर अपनी काव्य भित्ति पर सजा दिया । अतः सस्कृत काव्य से अनुप्राणित होते हुए भी ये समस्त चित्र लावण्य के अनेक रगो द्वारा रंजित हैं ।

---

१. कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग, श्लोक ३२
२. वही, श्लोक ३१

निष्कर्ष

रीतिकालीन कवि बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर ने नखशिख के जो भी वर्णन अकित किए उनमें से अधिकतर ऐसे हैं जो कि सस्कृत काव्यो से प्रेरित हैं। इन कवियो के वर्णन कही-कही पर तो मौलिक उद्भावना के आधार पर अकित हुए हैं। और कही अनुकरण मात्र ही हैं। अत इन कवियो ने जहाँ अलकारिकता को लेकर अपने प्रसगो का निर्माण किया वहाँ तो वे पूर्ण रूप से सस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थो पर आश्रित रहे। उदाहरण के लिए पद्माकर के पद्माभरण में अकित अधिकतर उदाहरण ऐसे हैं जिनका आधार सस्कृत के पूर्ववर्ती शास्त्रीय ग्रन्थ ही हैं। यही बात देव के भावविलास मे अकित पाँचवें विलास के बहुत से उदाहरणो और मतिराम की सतसई तथा बिहारी सतसई के अनेक प्रसगो के विषय मे कही जा सकती है। किन्तु जहाँ शुद्ध कवित्व शैली को लेकर इनकी उद्भावनायें सामने आई उनमे अगो समस्त नखशिख वर्णन तो न आ सका किन्तु शरीर के कुछ अगों के स्वाभाविक चित्र अवश्य ही उपस्थित हो गये। इन सभी मे इनकी प्रतिभा शक्ति का विलक्षण प्रयोग देखा जा सकता है।

नखशिख वर्णन करते हुए कवियों ने कही-कही पर तो नवीन प्रयोग भी किए और उन प्रयोगो को करते हुए भी इनकी दृष्टि शुद्ध कवित्व की ही रही जिसके कारण प्रसगो मे न केवल मौलिकता ही आई, बल्कि रमणीयता और माधुर्य का भी उसमे अनायास समावेश हो गया। उदाहरणार्थ पद्माकर का नयन वर्णन के लिए अकित किया गया प्रसग लिया जा सकता है जिसमे आँखो के अनेक कार्यकलापो का चित्रण करते हुए कह दिया गया है कि "आँखें यदि पख प्राप्त करती तो न मालूम ससार में क्या काण्ड उपस्थित कर देती।"[1] इस प्रकार के अनेक प्रयोग इन कवियो के काव्यों मे वर्तमान हैं जो अतीव रमणीय हैं।

जब विभिन्न अगो के लिए उपमान तथा रूपक जुटाने की बात आती है, वहाँ इन कवियो को कही तो सफलता मिली किन्तु कहीं-कही पुराने उपमानों को ज्यों-का-त्यो रख दिया। यहा एक बात ध्यान देने योग्य है कि पुराने उपमानो और रूपको को अपनाते हुए भी इन्होने वर्णनो का कल्पना के आलबाल म डालकर भावना और माधुर्य रस से इस भाँति सिंचन किया कि उनमे अनायास भावो की फसल लहलहाने लगी जिसे निहारकर समस्त सुन्दरता प्रिय नयन प्रफुल्लित हो गय।

नायिकाओ के नखशिख वर्णन से सस्कृत कवियो की शृगारिक प्रवृत्ति का सहज ही पता चल जाता है। धार्मिक ग्रन्थो तक मे चण्डी और दुर्गा के मासल उभारो को व्यक्त कर दिया गया है। रीतिकालीन कवियो के नखशिख वर्णन भी निस्सन्देह उनकी

---

१ पद्माकर ग्रन्थावली—प्रकीर्णक—छन्द ३५

शृंगारिक प्रवृत्ति का पता देते है, किन्तु इन्होंने नखशिख को केवल अपनी-अपनी नायिकाओं के यौवन के उभार तक ही अधिकतर सीमित रक्खा है।

अन्त में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन हिन्दी कवियों ने नायिका के मुख, नयन, उभरे वक्ष तथा नितम्ब इन अंगों के वर्णन में अधिक से अधिक रुचि प्रदर्शित की। अन्य अगों के वर्णन के विषय में तो यही कहा जा सकता है कि इन कवियो का ध्यान बहुत ही कम गया है।

उपसंहार

शृंगारिकता की क्रोड में पोषित रागात्मक वृत्ति के कारण नारी और पुरुष के हृदय में जो सहज आकर्षण उत्पन्न होता है, उसकी उदात्त परिणति प्रणयजन्य प्रेम मे मानी जाती है। इस प्रणय शृंगार के विविध रूपो की सहज अभिव्यक्ति का प्रतिबिम्बन तत्कालीन साहित्य म दृष्टिगत होता है। संस्कृत काव्य मे शृंगार-वर्णन की यह परम्परा वेदो से प्राप्त होती है। रामायण, महाभारत तथा विभिन्न पुराण ग्रन्थो मे अभिव्यक्त शृंगार की संयमित धारा कालिदास, माघ, भारवि, बिल्हण, श्रीहर्ष, अमरु, गोवर्धनाचार्य, जयदेव आदि के काव्यो मे पूर्णत उन्मुक्त रूप मे दृष्टि-गोचर होती है।

संस्कृत काव्यो की यह समृद्ध शृंगार-परम्परा अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति हिन्दी को भी विरासत मे प्राप्त हुई। रीतिकाल के पूर्व हिन्दी साहित्य मे आदिकाल एव भक्तिकाल मे शृंगार की यह परम्परा प्रमुखत वीर रस तथा भक्ति रस की अनुगामिनी के रूप मे प्रविष्ट हो चुकी थी। वस्तुत भक्तिकाल के अन्तिम चरण ही मे कृपाराम, रहीम, केशव आदि कवियो ने शृंगार के विभिन्न पक्षो की लक्षणो की कसौटी पर कसते हुए रीतिकालीन परम्परा को प्रचलित कर दिया था। रीतिकाल मे अनुकूल एव उपयुक्त वातावरण को प्राप्त कर शृंगार की इस धारा को किसी का अनुगमन अथवा आश्रय ग्रहण करने की आवश्यकता ही न रही। रीति-कालीन कवियो ने धर्म अथवा भक्ति के नाम पर मांसल एव लौकिक शृंगार का वर्णन करना उचित न समझा और प्रामाणिकता के साथ स्वतन्त्रता और आनन्द-वादी जीवन दृष्टि को जनता के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया। परन्तु शृंगार के विभिन्न अंगों-पांगो का खुलकर किया हुआ वर्णन परम्परा के पक्षपाती आचार्यों तथा समीक्षकों को उतना स्वागतार्ह न लगा। सम्भवत इसी कारण उन्होंने रीति-कालीन काव्य को घोर शृंगारिक तथा अमौलिक घोषित किया। रीतिकालीन कविता की ओर यदि स्वस्थ दृष्टिकोण से देखा जाता तो रीतिकवियों की भूमिका स्वत ही स्पष्ट हो जाती। रीतिकालीन आलोच्य कवियो ने शृंगार-वर्णन को प्रमुखत संयोग शृंगार, विप्रलम्भ शृंगार, नायक-नायिका वर्णन तथा नखशिख वर्णन इन चार वर्गों मे विभाजित किया गया है जिसके अन्तर्गत शृंगार के समस्त भेदोप-भेद प्राप्त हो जाते हैं।

संयोग शृंगार के अन्तर्गत प्रेमीजनों के हृदय में अनिर्वचनीय सुखात्मक भावना का प्रस्फुटन होता रहता है। अत: सयोग शृंगार विषयक काव्य पर दृष्टि-पात करने के पश्चात् स्पष्ट होता है कि रीतिकालीन शृगार में परस्पर दर्शन से लेकर सुरतान्त तक के विभिन्न प्रसंगो की सफल योजना प्राप्त होती है, जिनमें संयोग की भावना का उन्मेष तथा उसकी परिणति का स्वरूप दृष्टिगत होता है। सस्कृत तथा रीतिकालीन हिन्दी काव्यो में वर्णित परस्पर दर्शन, स्पर्शालिगन, सकेत तथा जलक्रीड़ा के प्रसंगों मे अनेक स्थलो पर प्रवृत्तियो तथा सात्त्विक भावो में साम्य होते हुए भी वातावरण तथा युगीन परिवेश के सन्दर्भ मे अवश्य ही अन्तर दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त नवोढा की निषेधात्मक स्वीकृति से प्रेमी के हृदय की पुलक, सुरति एव सुरतान्त के समय प्रेमी द्वारा प्रिया के विभिन्न अगो पर किये गये रति चिह्नों की योजना आदि प्रसगो के वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने कालिदास, भारवि, माघ, बिल्हण, श्रीहर्ष इत्यादि संस्कृत कवियों की भाँति कामशास्त्र का ही प्रमुख आधार ग्रहण किया। रीतिकालीन आलोच्य कवियो ने जलक्रीड़ा के वर्णन के लिए मुख्य रूप से शिशुपाल वध, किरातार्जुनीयम्, तथा आर्यासप्तशती को आदर्श रूप में अपने सम्मुख रखा। होली के प्रसग इन कवियो के मौलिक ही कहे जा सकते है। इनमें शृगारिकता की दृष्टि से अनिर्वचनीय मधुरता सन्निहित है। उत्तर प्रदेश के, विशेष रूप से ब्रज के, भू-भाग मे प्रेमियो के मध्य होली खेलने के चित्रो मे, प्रेमियों की परस्पर उमंग के साथ गुलाल तथा रंग-वर्षा, प्रथम वार होली खेलने पर प्रेमी द्वारा फगुआ के रूप मे होली का उपहार देना इत्यादि प्रसगो मे अत्यन्त स्वाभाविकता का समावेश है। सस्कृत काव्य में इस प्रकार के वर्णन का आभाव-सा दिखाई देता है। अत: यह कहा जा सकता है कि होली के प्रसंगों से सम्बन्धित वर्णन रीतिकालीन कवियों ने अपने युग के प्रभाव से स्वतन्त्र रूप मे अकित किये है।

अंततोगत्वा समग्ररूपेण कहा जा सकता है कि हिन्दी के इन कवियों ने सयोग के वर्णनों में संस्कृत कवियों से प्रेरणा लेते हुए भी प्रसगानुसार उन्हें अधिक सरस एवम् प्रभावपूर्ण बना दिया है।

विप्रलम्भ की महत्ता का रीतिकालीन साहित्य मे अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। वियोग की अग्नि में तपकर प्रेमी का हृदय कंचन के समान निखर उठता है। अत: संस्कृत तथा रीतिकालीन काव्यो में विरह के भिन्न-भिन्न रूपों का अंकुरण हुआ है। वियोग के पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण मे प्रथम तीन रूपों का प्रचलन ही रीतिकालीन काव्यों में प्राप्त होता है किन्तु करुण की विवृति वहाँ नही के बराबर ही है। पूर्वानुराग को उन्मीलित करने के हेतु रीतिकाल मे जितने भी नायक-नायिका के परस्पर आकर्षण सम्बन्धी दर्शन प्राप्त होते है, उनमें अधिकाश अभिव्यक्ति की दृष्टि से रीतिकवियों की स्वतन्त्र सूझ के ही द्योतक हैं। इन कवियो

के मान के वर्णनो मे बात बात पर प्रेमियो के रूठने से प्रवाहित माधुर्य का निर्झर तथा प्रवास के वर्णनो मे मधुमास एव पावस के आगमन पर परदेशी प्रियतम के वियोग मे झुलसती हुई नायिकाओ का विपुलाश अमरुशतक, आर्यासप्तशती तथा गीतगोविन्द के आधार पर ही अकित किया गया प्रतीत होता है। किन्तु उनमे शब्द गत तथा भावगत जो लावण्य विद्यमान है, उसमे रीतिकालीन कवियो की स्वतन्त्र दृष्टि का पता चल जाता है।

विप्रलम्भ के तीनो रूपो को मार्मिकता प्रदान करने के लिए विरह की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता, मृति या मरण–इन दस दशाओ का निरूपण करते हुए रीति कवियो ने बहुत से स्थलो पर सस्कृत कवियो से अधिक सरसता प्रकट की है। अत रीतिकालीन कवियो के विप्रलम्भ के प्रसग कई दृष्टियो से स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं।

नायक-नायिका भेद वर्णन से शृगार के आलम्बन पक्ष की अभिव्यक्ति होती है। पूर्व मे निवेदन किया जा चुका है कि सस्कृत तथा हिन्दी के कवियो ने नायक-भेद मे नायिका-भेद की अपेक्षा केवल परम्परा का निर्वाह मात्र ही किया है। इतना अवश्य है कि इनका वर्गीकरण नायक तथा नायिकाओ के श्रेष्ठत्व की दृष्टि से ही किया गया है। नायिका भेद के स्वीकाया, परकीया तथा सामान्या तथा इनके भेदोप-भेदो के वर्गीकरण मे आलोच्य कवियो ने सस्कृत के काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ विशेष-कर भानुदत्त की रसमजरी को आदर्श रूप मे स्वीकार किया। इन कवियो ने स्वकीया तथा परकीया के स्वभाव को अपनी सूक्ष्म दृष्टि की तुला पर तोलते हुए एक ओर रसमजरी तथा अन्य बहुत से काव्यो के प्रसगो को आधार बनाया तथा दूसरी ओर इनके भेदोपभेदो को दृष्टिगत करते हुए नैषध, किरातार्जुनीयम्, विक्रमाकदेवचरितम् तथा मुक्तक काव्यो के विभिन्न स्थलो से प्रेरणा प्राप्त की। पद्माकर ने कुछ नायिकाओं के वर्णन मे अमरुशतक के श्लोको का जो अनुवाद प्रस्तुत किया, वह केवल अपवाद स्वरूप ही कहा जा सकता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षणो को प्रस्तुत नही किया, किन्तु उन्होंने इन्हे आधार बनाकर प्रसगो की योजना मे स्वतन्त्र दृष्टि से काम लिया। यही बात मतिराम और देव के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। नायको के वर्णनों मे भी अधिकतर रसमजरी से ही प्रभावित हैं। अत स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन कवियो ने पूर्ववर्ती सस्कृत कवियो से प्रेरणा अवश्य प्राप्त की, किन्तु भावों के गुम्फन मे उनका शिल्प सराहनीय है।

शृगार के उद्दीपन पक्ष को उभारने के लिए नारी-सौन्दर्य से सम्बन्धित वेशभूषा, सौन्दर्य प्रसाधन, प्राकृतिक वातावरण इत्यादि अनेक बातें हो सकती हैं जिनमे नारी का नखशिख-सौन्दर्य भी एक है। नखशिख-वर्णन के अन्तर्गत नारी के समस्त अगो का चित्रण किया जाता है। सस्कृत के अधिकाश कवियो को नखशिख-

वर्णन में नारी के किसी भी अंग को नहीं छोड़ा । अतः उनमें कहीं-कहीं बड़ी ही अस्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है । रीतिकालीन आलोच्य कवियों द्वारा चित्रित नारी के अग-प्रत्यंग वर्णन मे जो अधिक सरसता दिखायी देती है उसका मुख्य कारण यह है कि इन्होंने नखशिख को परम्परात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास नही किया, अपितु प्रसंगवश सहज ही नारी के अग प्रत्यगो का वर्णन बिखरा हुआ है । इसके अतिरिक्त इस युग के रसलीन, नृपशम्भु, भिखारीदास इत्यादि कवियो ने यद्यपि सस्कृत परम्परा का अनुगमन किया, किन्तु नारी के नखशिख वर्णन मे प्रत्येक अंग प्रत्यग के निरूपण की उनकी दृष्टि स्वतन्त्र ही है । हिन्दी के आलोच्य कवियों ने प्रमुखतः नेत्र, भौह, नासिका, अधर एव सुहास, दांत, कपोल, मुख, केश, स्तन, भुजाएँ, कटि, रोमावली-त्रिवली नाभि, नितम्ब, जघन, चरण और गति, यौवन एवं तज्जन्य कान्ति आदि के वर्णनो में विशेष रुचि दिखायी है । नखशिख वर्णन मे इन कवियों ने जिन उपमानों को स्वीकार किया है, वे अधिकतर परम्परामुक्त ही हैं । बिहारी तथा देव ने नेत्रों के लिए अवश्य कुछ नवीन एव सार्थक उपमानों का प्रयोग किया है । अतः कहा जा सकता है कि "नखशिख" वर्णन के अन्तर्गत जहाँ एक ओर अंग-प्रत्यंगो के उपमानो की दृष्टि परम्परानुगत है, वही उनके गठन तथा शिल्प में संस्कृत काव्यो से अधिक मौलिकता एवं सरसता निहित है ।

इस तुलनात्मक अध्ययन से हिन्दी के रीतिकालीन काव्य पर संस्कृत काव्य के प्रभाव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात होता है कि रीति-कालीन कवियो ने परम्परा के रूप मे सस्कृत काव्य में प्रचलित अनेक भावनाओं तथा कल्पनाओ को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप मे अवश्य ग्रहण किया, परन्तु कुछ अपवाद छोड़कर अनेक स्थलों पर उन्होने सस्कृत की मूल भावनाओं तथा कल्पनाओं में सामाजिक वातावरण, व्यक्तिगत रूचि तथा कल्पना-शक्ति के आधार पर इतना परिष्कार किया कि उनमें एक नवीन उद्‌भावना की सृष्टि हुई जो कई दृष्टियो से मौलिक कही जा सकती है । आशा है कि यह अध्ययन रीतिकाल-विषयक पूर्वग्रह दूषित तथा भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं मे परिवर्तन लाने तथा रीतिकाल के प्रति नई एवं स्वस्थ दृष्टि प्रदान कर सकने मे सहायक सिद्ध होगा ।